महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
द्वितीय सेमेस्टर
तृतीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 09

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मंडल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक एवं मुद्रक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : जुलाई 2017

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

पाठ-रचना

डॉ॰ कालूराम परिहार
कार्यक्रम अधिशासी
आकाशवाणी, जोधपुर

खण्ड – 3 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4
खण्ड – 4 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

पुरन्दरदास

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4
खण्ड – 2 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री बी. एस. मिरगे जनसंपर्क अधिकारी एवं श्री राजेश आगरकर प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.asp*?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गयी हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

द्वितीय सेमेस्टर
तृतीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD - 09
पाठ्यचर्या का शीर्षक : पाश्चात्य काव्यशास्त्र

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : प्रमुख विचारक – 1

- इकाई – 1 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक अरस्तू
- इकाई – 2 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक लोंजाइनस
- इकाई – 3 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक विलियम वर्ड्सवर्थ
- इकाई – 4 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक सैम्युअल टेलर कॉलरिज

खण्ड – 2 : प्रमुख विचारक – 2

- इकाई – 1 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक मैथ्यू ऑर्नल्ड
- इकाई – 2 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक बेनेदितो क्रोचे
- इकाई – 3 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक टी. एस. एलियट
- इकाई – 4 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक आई. ए. रिचर्ड्स

खण्ड – 3 : सिद्धान्त और वाद

- इकाई – 1 : स्वच्छन्दतावाद
- इकाई – 2 : मार्क्सवाद
- इकाई – 3 : मनोविश्लेषण तथा अस्तित्ववाद
- इकाई – 4 : रूपवाद

खण्ड – 4 : आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

- इकाई – 1 : संरचनावाद
- इकाई – 2 : शैलीविज्ञान
- इकाई – 3 : उत्तर-आधुनिकतावाद
- इकाई – 4 : विखण्डनवाद

सहायक पुस्तकें :

01. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवादक एवं सम्पादक : नगेन्द्र, भारती भण्डार, इलाहाबाद
02. अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष, पाल रुचिबेक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

03. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह
04. उत्तर-आधुनिकता, देवेन्द्र इस्सर
05. उदात्त के विषय में, निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
06. कार्ल मार्क्स : कला एवं साहित्य चिन्तन, सम्पादक : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
07. काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
08. काव्य में उदात्त तत्त्व, नगेन्द्र
09. नई समीक्षा के प्रतिमान, सम्पादक : निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली
10. प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त, निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन
11. पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, शान्ति स्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली
12. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली
13. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विजय बहादुर सिंह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली
14. पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन सन्दर्भ, सत्यदेव मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
15. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, तारकनाथ बाली, शब्दकार, दिल्ली
16. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला
17. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, शान्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन
18. पाश्चात्य समीक्षा के चार सूत्रधार, उदयशंकर श्रीवास्तव, शब्द सृष्टि, दिल्ली
19. पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, निर्मला जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
20. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, अर्चना श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
21. भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिन्दी आलोचना, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
22. मार्क्सवादी-एंगेल्स : साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन, मास्को
23. मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त के मूल तत्त्व, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली
24. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन-इतिहास तथा सिद्धान्त, शिवकुमार मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
25. यथार्थवाद, शिवकुमार मिश्र, मैकमिलन, नयी दिल्ली
26. यूरोपीय दर्शन, रामावतार शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
27. विभ्रम और यथार्थ : क्रिस्टोफर कॉडवेल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
28. संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद और प्राच्य काव्यशास्त्र, गोपीचन्द नारंग, नयी दिल्ली
29. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, निर्मला जैन
30. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, चंडीगढ़

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	07 – 20
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	21 – 31
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	32 – 42
04.	खण्ड – 1	इकाई – 4	43 – 53
05.	खण्ड – 2	इकाई – 1	54 – 64
06.	खण्ड – 2	इकाई – 2	65 – 75
07.	खण्ड – 2	इकाई – 3	76 – 86
08.	खण्ड – 2	इकाई – 4	87 – 97
09.	खण्ड – 3	इकाई – 1	98 – 113
10.	खण्ड – 3	इकाई – 2	114 – 131
11.	खण्ड – 3	इकाई – 3	132 – 150
12.	खण्ड – 3	इकाई – 4	151 – 167
13.	खण्ड – 4	इकाई – 1	168 – 185
14.	खण्ड – 4	इकाई – 2	186 – 203
15.	खण्ड – 4	इकाई – 3	204 – 221
16.	खण्ड – 4	इकाई – 4	222 – 241

खण्ड – 1 : प्रमुख विचारक – 1

इकाई – 1 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक अरस्तू

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य कथन
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. अरस्तू : व्यक्ति परिचय
 1.1.2.1 . व्यक्तित्व
 1.1.2.2. कृतियाँ
1.1.3. अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त
 1.1.3.1. मुख्य स्थापना
 1.1.3.2. सैद्धान्तिक निष्कर्ष
 1.1.3.3. सैद्धान्तिक सीमाएँ
1.1.4. त्रासदी
 1.1.4.1. अर्थ एवं अभिप्राय
 1.1.4.2. त्रासदी के घटक
 1.1.4.3. त्रासदी का महत्त्व
1.1.5. अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त
 1.1.5.1. विरेचन का अर्थ
 1.1.5.2. विरेचन की व्याख्या
 1.1.5.3. विरेचन का स्वरूप, विश्लेषण और आनन्दानुभूति
1.1.6. सारांश
1.1.7. शब्दावली
1.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.1.9. सम्बन्धित प्रश्न

1.1.0. उद्देश्य कथन

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन व दर्शन की एक सुविकसित परम्परा रही है जिसमें साहित्य की प्रकृति एवं स्वरूप पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है तथा साहित्य के स्वरूप सम्बन्धी मानवीय, लौकिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है । पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन का विकास यूनान से आरम्भ होकर रोम होता हुआ आधुनिक यूरोपीय भाषाओं तक पहुँचा है । सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो से ही पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन का श्रीगणेश माना जाता है । प्लेटो ने जहाँ एक ओर साहित्य में नैतिक प्रत्ययवादी परम्परा का प्रवर्तन किया है, वहीं दूसरी ओर अरस्तू ने भौतिकवादी तर्क पर आधारित परम्परा का । इस प्रकार पश्चिमी साहित्यशास्त्र की परम्परा इन दोनों मौलिक चिन्तन के खण्डन-मण्डन के आधार को लेकर आगे बढ़ती है । प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. अरस्तू के व्यक्तित्व को जान सकेंगे।
ii. अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. त्रासदी की परिभाषा देते हुए उसके महत्त्व की विवेचना कर सकेंगे।
iv. अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1.1. प्रस्तावना

साहित्य मानवजीवन की जटिलताओं को समग्रता में प्रस्तुत करने का सशक्त माध्यम है। रचनाकार व विचारक समाज में रहते हुए अपनी आँखें बंद नहीं कर सकता अतः सम्बन्धित परिवेश से उसकी चिन्तन-प्रक्रिया एवं व्यवहार अनिवार्यत: प्रभावित होती है। वस्तुतः साहित्य-चिन्तन तथा समीक्षा के प्रतिमान कालक्रमानुसार न केवल परिवर्तित हुए, अपितु अपनी पूर्ववर्ती चिन्तन-परम्परा के गुणसूत्रों के साथ विकसित हुए हैं। पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की परम्परा एवं प्रवृत्ति को भी इसी सन्दर्भ में देखना न्यायोचित होगा। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हैसिओड, सोलन, पिंडार आदि की रचनाएँ आरम्भिक तौर पर एक ठोस समझ अवश्य विकसित करती हैं जहाँ काव्य, काव्य के हेतु तथा काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मूलभूत मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। हालाँकि, पश्चिमी जगत् में एक सुव्यवस्थित काव्यशास्त्रीय चिन्तन आरम्भ करने का श्रेय महान् यूनानी दार्शनिक प्लेटो को जाता है जिन्होंने आत्मवादी चिन्तन के फलस्वरूप कविता पर एक दार्शनिक के नजरिए से विचार किया है। कालान्तर में प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने कविता पर और अधिक वैज्ञानिक तथा तार्किक ढंग से विचार किया है।

1.1.2. अरस्तू : व्यक्ति परिचय

प्रत्येक युग अपने साथ परिवर्तन का सन्देश लेकर आता है। यह परिवर्तन विषयवस्तु तक ही सीमित नहीं रहता, उसकी ओर देखने वाली दृष्टि भी बदल जाती है। वस्तुत: वस्तु और दृष्टि की पारस्परिक गत्यात्मकता साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्रों में भी विचारकों द्वारा स्वीकृत है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो साहित्यशास्त्री न होकर मूलतः दार्शनिक थे। जहाँ एक ओर उनके दर्शन और राजनीति सम्बन्धी व्याख्याओं में काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का उल्लेख मिलता है, वहीं दूसरी ओर उनके परम शिष्य अरस्तू का साहित्य-चिन्तन साहित्य को विशुद्ध मानवीय उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करता है।

1.1.2.1. व्यक्तित्व

महान् दार्शनिक व विचारक अरस्तू का जन्म 384 ई.पू. मकदूनिया के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। उनके पिता मकदूनिया के राजवैद्य थे। बचपन से ही अरस्तू अत्यन्त मेधावी थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा प्लेटो के विद्यालय में आरम्भ हुई और वहीं रहकर लगभग बीस वर्ष की आयु तक उन्होंने दर्शनशास्त्र का विस्तृत अध्ययन किया। कालान्तर में उन्होंने न केवल सिंकदर महान् के गुरु के रूप में ख्याति अर्जित की, अपितु एथेंस लौटकर स्वयं अपने विद्यापीठ की स्थापना की जहाँ अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

1.1.2.2. कृतियाँ

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अरस्तू का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शन, अध्यात्म, प्राकृतिक विज्ञान आदि जैसे विभिन्न विषयों पर लगभग चार सौ उल्लेखनीय ग्रन्थों की रचना की। हालाँकि, साहित्य सम्बन्धी चिन्तन का आधार उनके द्वारा लिखे दो ग्रन्थ हैं – काव्यशास्त्र (Poetics) और भाषणशास्त्र (Rhetarios)। 'काव्यशास्त्र' वास्तव में ग्रन्थ न होकर एक छोटी-सी पुस्तिका है जिसमें सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित विवेचन नहीं मिलता। वस्तुतः यह पुस्तिका अध्यापन के लिए तैयार की गई सामग्री का सम्पादित रूप प्रतीत होती है। 'भाषणशास्त्र' भाषण-कला यानी वाक्पटुता से सम्बन्धित है और इसी सन्दर्भ में इसके अन्तर्गत 'भाषा' और 'अभिव्यक्ति' पर विचार किया गया है।

1.1.3. अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

अरस्तू से पहले प्लेटो ने 'अनुकरण' सिद्धान्त का विवेचन किया और यह मत स्थापित किया कि काव्य त्याज्य है, क्योंकि ईश्वर सत्व है, इसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति ही 'काव्य' है। इस तरह काव्य अनुकरण का अनुकरण है। चूँकि, अरस्तू की दृष्टि वस्तुवादी है, इसलिए उन्होंने साहित्यिक रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में ही काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का मौलिक विवेचन किया है। साहित्यक चिन्तन व विवेचन के अनुक्रम में प्लेटो द्वारा कविता पर लगाए गए आक्षेपों का अरस्तू ने न केवल खण्डन किया है अपितु कई मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया है। अरस्तू ने काव्य-रचना के प्रेरक तत्त्वों, काव्य की प्रकृति, संरचना, प्रकार्य और प्रभाव पर व्यापक ढंग से चिन्तन-मनन किया है और अपने साहित्यिक चिन्तन में काव्य की महत्ता को पुनर्स्थापित करने पर बल दिया है।

1.1.3.1. मुख्य स्थापना

अरस्तू के अनुसार कविता सामान्यतः मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्भूत हुई जान पड़ती है। इनमें से एक है 'अनुकरण की प्रवृत्ति'। कला प्रकृति का अनुकरण करती है। यह जानना आवश्यक है कि अरस्तू ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है, क्योंकि इसकी व्याख्या उनके टीकाकार अपने-अपने ढंग से करते हैं। उदाहरण के लिए प्रो० ब्रूचर की मान्यता है कि अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'अनुकरण' का अभिप्राय सादृश्यविधान के द्वारा मूल वस्तु का पुनराख्यान है। दूसरी ओर प्रो० मरे जैसे टीकाकार ने स्पष्ट किया कि अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं, अपितु पुनर्सर्जना है।

वस्तुतः अरस्तू ने काव्य को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। निस्सन्देह, यहाँ उनका बल कविता की एक मायने में दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र व नीतिशास्त्र के बन्धन से मुक्ति पर है। चूँकि, अरस्तू हूबहू नकल को अनुकरण नहीं मानते हैं इसलिए प्रकृति से उनका आशय जगत् के बाह्य गोचर रूप के साथ-साथ उसके आन्तरिक रूप से भी है। प्रकृति के अनेक दोष और अभाव भी अनुकृति की प्रक्रिया से कला के माध्यूम से पूरे

किए जाते हैं। वस्तुत: कवि या कलाकार अपनी संवेदना ओर अनुभूति से अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करता है और उसे आदर्श रूप देता है।

अनुकरण सिद्धान्त के सन्दर्भ में इतिहासकार और कवि का वास्तविक भेद भी यहाँ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः इतिहासकार तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है लेकिन कवि उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसलिए काव्य की प्रकृति व स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक भव्य है। जैसा कि अरस्तू ने भी कहा है कि "अनुकृति वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है। जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें दु:ख होता है, क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति को देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।" इस प्रकार काव्यास्वाद का रहस्य भी मनुष्य के अनुकरण की प्रवृत्ति में निहित है और कलाजन्य आनन्द भी अनुकृतिजन्य आनन्द ही है।

जैसा कि विदित है कि अरस्तू प्रकृति के दो भेद स्थापित करते हैं – बाह्य प्रकृति और मानव प्रकृति। ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं और एक-दूसरे को पूर्णता प्रदान करती हैं। इन दोनों के मिलान से पूर्ण सत्य के दर्शन हो जाते हैं। इसलिए अरस्तू बार-बार इस तथ्य पर बल देते हैं कि प्रकृति की छाया उसके अनुकरण में रहती है, लेकिन वह कोरी प्रतिच्छाया नहीं है। यदि कविता भी केवल प्रकृति का दर्पण या प्रतिबिम्ब होती तो वह हमें उससे अधिक नहीं दे सकती जो कि प्रकृति देती है। जबकि वास्तविक तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वाद इसलिए करते हैं कि वह हमें वह सौन्दर्य प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं देती है। इस प्रकार कहना सही होगा कि अरस्तू काव्य में अनुकरण का वही आशय ग्रहण करते हैं जो आजकल हम कला या शिल्प का अभिप्राय ग्रहण करते हैं।

अरस्तू के अनुसार कलाकार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण करता है। भौतिक जगत् में वस्तुओं के तीन प्रकार ये हैं – पूर्वरूप (जैसी थी), वर्तमानरूप (जैसी प्रतीत होती है) तथा कलाकार द्वारा गृहीत (अनुकरण रूप)। अतः कलाकार इनमें से किसी एक का ही अनुकरण करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अरस्तू के काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य तथा आदर्श रूप को मानता है। कवि को स्वतन्त्रता है कि वह प्रकृति को उस रूप में चित्रित करे जैसे वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है या फिर वह जैसी होनी चाहिए। कहना सही होगा कि ऐसी स्थिति में काव्य में निश्चय ही भावना या कल्पना का योगदान होगा तथा वह नकल मात्र नहीं होगा। इस तरह अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त भावनामय तथा कल्पनामय अनुकरण स्वीकार करता है, शुद्ध प्रतिकृति को नहीं।

1.1.3.2. सैद्धान्तिक निष्कर्ष

अरस्तू ने अलग से बिल्कुल स्वतन्त्र अनुकरण की अवधारणा की चर्चा नहीं की। फिर भी उनकी काव्यसम्बन्धी चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि वे अनुकरण को यथावत् नकल की बजाय सर्जनात्मक अभिक्रिया मानते थे जिसका सम्बन्ध केवल बाह्य सृष्टि से ही नहीं, बल्कि उसकी सर्जनात्मक प्रक्रियाओं से होता है। यही कारण है कि उनकी दृष्टि में अनुकरण के जरिए प्रस्तुत सत्य कोरे सतही या बाह्य सत्य से अधिक विस्तृत एवं

व्यापक हो जाता है। इतना ही नहीं, अरस्तू के अनुसार अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौमिक नहीं होता। निस्सन्देह इस कथ्य में उनका अभिप्राय 'सहृदय' के आनन्द से ही प्रतीत होता है, परन्तु सहृदय को भी आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है, जब कवि के हृदय में आनन्दभाव की अनुभूति हो। इसलिए अनुकरण में आत्माभिव्यंजन भी आवश्यक है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक निष्कर्षों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

i. अनुकरण का विषय जीवन अथवा प्रकृति का बहिरंग ही नहीं, बल्कि उसका अन्तरंग भी है।
ii. वस्तु के प्रत्यक्ष रूप की अपेक्षा उसका भावनात्मक तथा कल्पनात्मक रूप ही अधिक ग्राह्य है। इस प्रकार जीवन के अन्तर्बाह्य रूपों में से प्रायः अनुकरण का अन्तरंग विषय प्रधान होता है।
iii. अनुकरण के तीन रूप हैं – प्रतीयमान रूप (जैसा कि वह प्रतीत होता है), सम्भाव्य रूप (जैसा कि वह हो सकता है) तथा आदर्श रूप (जैसा कि वह होना चाहिए)। इन तीनों रूपों में अनुकर्ता की भावना और कल्पना का योगदान रहता है। अतः अनुकरण भावनात्मक व कल्पनात्मक पुनर्सृजन का ही पर्याय है।
iv. आनन्द भाव की अनिवार्य उपस्थिति के कारण अनुकरण में आत्मतत्त्व का प्रकाशन निहित रहता है। अनुकरण के माध्यम से भयमूलक या त्रासमूलक वस्तु को भी इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे आनन्द की प्राप्ति हो।
v. अरस्तू ने काव्यरूप को अनुकरणमूलक माना है। कविकर्म के लिए अनुकरण का प्रयोग अरस्तू के पूर्व भी प्रचलन में था लेकिन अरस्तू ने इस परम्परागत शब्द को विशेष महत्त्व व अर्थवत्ता प्रदान की है।
vi. अनुकरण की संकल्पना में भावतत्त्व एवं उसमें सन्निहित आत्मतत्त्व का सद्भाव सुनिश्चित होने पर भी अनुकरण को विशुद्ध आत्माभिव्यंजक का पर्याय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें वस्तुतत्त्व की प्रधानता भी अनिवार्य है।

1.1.3.3. सैद्धान्तिक सीमाएँ

अरस्तू का सिद्धान्त-प्रतिपादन तत्युगीन परिवेशजनित है। उन्होंने अनुकरण सिद्धान्त को प्लेटो की अपेक्षा नवीन अर्थ प्रदान किए। इसमें 'शिवम्' की अपेक्षा 'सुन्दरम्' पर अधिक बल दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अनुकरण को दार्शनिकों और नीतिशास्त्रियों के चंगुल से मुक्त किया। फिर भी उनकी स्थापना आलोचना से परे नहीं है। ध्यातव्य है कि उन्होंने कवि की निर्माण-क्षमता पर तो पूरा बल दिया है, लेकिन वे मानव व्यवहार व जीवन के अनुभवों से जनित कवि की अन्तःचेतना को महत्त्व प्रदान नहीं करते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ॰ नगेन्द्र का कहना है – "अरस्तू का दृष्टिकोण भावात्मक रहा है और त्रास और करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है।" अरस्तू द्वारा प्रतिपादित अनुकरण सिद्धान्त की सीमाओं को निम्नलिखित बिन्दुओं में देखा जा सकता है –

i. अरस्तू आत्मतत्त्व और कल्पनातत्त्व को मान्यता प्रदान करते हुए भी वस्तुतत्त्व के महत्त्व को बार-बार रेखांकित करते हैं। लेकिन, वे वस्तुपरक भावतत्त्व को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं जो तर्कसंगत नहीं है।

ii. विश्व का गीतिकाव्य इस सिद्धान्त की परिधि से बाहर है। क्योंकि भाव गीतिकाव्यात्मक है जो किसी प्रेरणा के दबाव से एक साथ गीतिकाव्य के रूप में फूट पड़ता है।

iii. बेनेदितो क्रोचे की मान्यता है कि अनुकरण कला सृजन में कोई महत्त्वपूर्ण चीज नहीं है । वे काव्यशास्त्रीय चिन्तन में सहजानुभूति की प्रक्रिया पर विशेष बल देते हुए अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त का तार्किक अनुशीलन करते हैं।

iv. अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की आलोचना प्रायः इस आधार पर भी की जाती है कि उन्होंने जो शब्द 'इमिटेशन' का 'मीमेसिस' चुना है, वह उपयुक्त नहीं है। क्योंकि, उनकी व्याख्या इस शब्द के 'अर्थ' की परिधि से बाहर है।

v. अरस्तू अपने सैद्धान्तिक विवेचन में आन्तरिक अनुभूतियों के अनुकरण की बात भी स्वीकार करते हैं, लेकिन आलोचकों का मानना है कि वास्तव में अनुकरण का इतना विस्तार सम्भव नहीं है।

समकालीन परिवेश में चूँकि काव्य के अन्तर्गत यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद, नवचेतनावाद आदि प्रवृत्तियों को अपनाया जाने लगा है इसलिए अनुकरण का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया है। फिर भी अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में काव्य-विश्लेषण की आधारभूत क्षमताओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। अरस्तू ने काव्यकला को विशुद्ध दार्शनिक, राजनैतिक तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देखकर सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से देखा और काव्य को कला के रूप में प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है।

1.1.4. त्रासदी

'त्रासदी' यूनानी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा रही है जिसका आरम्भ मद्य देवता दिओनिसिअस के सम्मान में होने वाले समारोह से माना जाता है। वस्तुतः इस समारोह में बकरे का मुखौटा पहनकर नृत्य-गान करने की परम्परा रही है। थेसियस ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में इस नृत्य-गीत शृंखला के बीच-बीच में छन्दोबद्ध भाषणों की योजना का उल्लेखनीय सूत्रपात किया और 'त्रासदी' का आरम्भ भी यहीं से माना जाता है। ज्ञातव्य है कि ईसा के पहले की पाँचवीं शताब्दी आते-आते यूनान में 'त्रासदी' एक स्थापित विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। एस्खिलुस, सोफोक्लीप और यूरीपाइदिस जैसे महान् नाटक्कार इस विधा की परम्परा को विकसित एवं समृद्ध कर रहे थे । उस समय यूनान में कामदी, महाकाव्य, गीतिकाव्य आदि विधाओं का भरपूर चलन रहा लेकिन काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आलोक में अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' के अन्तर्गत 'त्रासदी' को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

1.1.4.1. अर्थ एवं अभिप्राय

अरस्तू के अनुसार "किसी गम्भीर स्वतःपूर्ण सुनिश्चित आयाम से युक्तकार्य की अनुकृति ही 'त्रासदी' है तथा यह समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है। इसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों के तदनुरूप प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से युक्त अलंकृत भाषा होती है।" चूँकि, अरस्तू की दृष्टि वस्तुपरक थी, इसलिए वस्तुजगत् तथा इसमें घटने वाली घटनाओं के प्रति उनका स्वाभाविक झुकाव था तथा 'त्रासदी' विवेचन में भी कार्यव्यापार को प्रस्तुत करने वाले तत्त्व 'कथानक' पर उनका बल अधिक है। अरस्तू की 'त्रासदी' परिभाषा के आधार पर 'त्रासदी' की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है –

i. त्रासदी 'कार्य की अनुकृति' है।
ii. इसके अन्तर्गत वर्णित कार्य स्वतःपूर्ण और गम्भीर होता है। कार्य का आयाम, क्षेत्र तथा विस्तार सुनिश्चित होता है।
iii. 'त्रासदी' वर्णनात्मक रूप में नहीं, अपितु कार्यव्यापार के रूप में प्रस्तुत की जाती है।
iv. कार्यव्यापार की प्रधानता होते हुए भी इसका माध्यम भाषा होती है और वह भाषा नाटक के लिए उपयुक्त अलंकारों से युक्त होती है।
v. इसमें करुणा और त्रास का उद्रेक होता है और इस उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

1.1.4.2. त्रासदी के घटक

अरस्तू के अनुसार 'त्रासदी' के छह घटक हैं – कथानक, चरित्र, विचार, पद विन्यास, दृश्यविधान और गीत। त्रासदी के सभी घटक केवल पात्र या व्यक्ति का नहीं, अपितु उसके कार्य और जीवन का अनुकरण करते हैं।

(1) कथानक –

कथानक का सम्बन्ध विषयवस्तु या घटना-विन्यास से होता है। अरस्तू के अनुसार त्रासदी का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक 'कथानक' है। चूँकि, त्रासदी कार्य की अनुकृति है, इसलिए कथानक उसी कार्यव्यापार को प्रस्तुत करता है। यह व्यक्ति चरित्र का नहीं, घटनायुक्त जीवन के कार्यव्यापार का, सुख-दुःखमय प्रसंगों का अंकन है। इतना ही नहीं, त्रासदी का प्रभाव कार्यव्यापार पर ही निर्भर करता है। यही कारण है कि 'त्रासदी' के घटकों की विवेचना के अनुक्रम में कथानक के निहितार्थ अरस्तू ने कथानक के स्रोत (दंतकथा, कल्पना और इतिहास), कथानक के प्रकार (सरल कथानक और जटिल कथानक), नाटकीय युक्तियाँ (महान् त्रुटि, अभिज्ञान, स्थिति विपर्यय), कथानक का आयाम और कथानक की संरचना के अनिवार्य गुण (अन्विति, पूर्णता, सम्भाव्यता, सहज विकास, करुणा तथा त्रास की योजना) का विस्तार से विवेचन किया है।

(2) चरित्र –

अरस्तू की दृष्टि में कार्यव्यापार का निष्पादन चूँकि चरित्रों द्वारा होता है इसलिए 'कथानक' के बाद 'चरित्र' त्रासदी का दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक है। उनकी मान्यता है कि त्रासदी के पात्रों का अपना खास व्यक्तित्व होता है, हालाँकि उनका चरित्र-चित्रण समग्र कथ्य के अनुरूप अपेक्षित होता है। साथ ही उनके माध्यम से त्रासदी का नैतिक प्रतिपाद्य भी अभिव्यक्त होना अत्यावश्यक है। अरस्तू का चरित्रों के यथार्थ चित्रण पर भी पूरा बल है। उनके अनुसार ऐतिहासिक पात्रों का जहाँ चित्रण हो, वहाँ वह उनके इतिहासप्रसिद्ध रूप से बहुत अलग नहीं होना चाहिए। साथ-ही-साथ अन्य चरित्रों के चित्रण में भी सम्भाव्यता का पूरा ध्यान रखा जाना भी अपेक्षित है।

गतिशील पात्रों के अंकन में परिवर्तन संगत व स्वाभाविक होना जरूरी है तथा उनमें दिखाए जाने वाले परिवर्तन उनकी मूल प्रकृति के अनुरूप होने चाहिए। अरस्तू की दृष्टि में नायक त्रासदी का केन्द्र होता है तथा त्रासदी के सभी घटनाओं तथा कार्यों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में नायक से ही होता है। वस्तुतः नायक ही नाटक की अन्विति का सूत्र होता है और उसी के माध्यम से त्रासदी में करुणा तथा त्रास के भाव प्रकट होते हैं। इसलिए अरस्तू के अनुसार नायक को कुलीन, अत्यन्त वैभवशाली, यशस्वी, समृद्ध तथा प्रभावशाली होना चाहिए ताकि उसका अपकर्ष बृहत्तर समाज को भी प्रभावित करे।

(3) विचार –

विचार के अन्तर्गत अरस्तू केवल बुद्धितत्त्व ही नहीं, बल्कि भावतत्त्व को भी समाहित करते हैं। बुद्धि के स्तर पर विचार जहाँ सामान्य सत्य की व्यंजना करने का माध्यम होता है, वहीं भाव के स्तर पर यह करुणा, त्रास, क्रोध आदि की व्यंजना करता है। इसके अन्तर्गत चिन्तन और तर्क भी अनिवार्यत: समाविष्ट हैं और इस सन्दर्भ में विचारों को व्यक्त करने वाली भाषा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी मानी जाती है। त्रासदी के महत्त्वपूर्ण घटकों में पदविन्यास की महत्ता की भी अरस्तू ने विस्तार से चर्चा की है।

(4) पदविन्यास –

अरस्तू के मतानुसार पदविन्यास का अभिप्राय शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार त्रासदी के कथानक और चरित्र यथार्थ जगत् से उठाए जाकर भी यथार्थ की अपेक्षा कुछ खास होते हैं, उसी प्रकार उसकी भाषा मूलतः प्रचलित भाषा होते हुए भी विशिष्ट होती है ताकि वह त्रासदी के विचारतत्त्व में निहित सत्य को अभिव्यक्ति कर सके। अरस्तू चूँकि त्रासदी के लिए छन्दोबद्ध भाषा या पद्य को अधिक उपयुक्त मानते हैं, इसलिए वे अलंकृत भाषा की वकालत करते हैं। हालाँकि, उन्होंने गद्य का भी विरोध नहीं किया है।

(5) दृश्यविधान –

यदि चरित्रों के द्वारा त्रासदी के कार्यव्यवहार का संचालन होता है तो उसकी प्रस्तुति का माध्यम दृश्यविधान है। अरस्तू की प्रबल धारणा है कि रंगमंचीय साधनों के कुशल प्रयोग से त्रासदी के प्रभाव को सघन करने में भरपूर सहायता मिलती है। फिर भी वे दृश्यविधान को त्रासदी का अनिवार्य घटक नहीं मानते हैं।

(6) गीत –

गीत को त्रासदी का अनिवार्य घटक स्वीकार करते हुए अरस्तू ने यह विचार व्यक्त किया है कि नाटक में वृन्दगान का महत्त्व किसी पात्र से कम नहीं है, क्योंकि वह नाटक में आनन्द तथा गम्भीरता की सृष्टि करता है और उसके प्रभाव की वृद्धि करता है।

1.1.4.3. त्रासदी का महत्त्व

अरस्तू अपने साहित्य-चिन्तन में त्रासदी पर अधिक 'फोकस' करते हैं। उनके अनुसार त्रासदी हमारे त्रासदायक मनोभावों को उद्वेलित कर उनका विरेचन कर देती है। वस्तुतः त्रासदी के अन्तर्गत करुणा तथा अन्य त्रासदायक भावों को इतने भयावह, आतंककारी और तीव्र रूप में चित्रित किया जाता है कि वे हमारे हृदय में दबे हुए भावों को भी अभिप्रेरित कर देते हैं। साथ-ही-साथ त्रासदी के पात्रों के बहाने मानवीय मन में उद्वेग उभरकर शान्त हो जाते हैं। चूँकि, त्रासदी का कथानक संक्षिप्त तथा सुगठित होता है, इसलिए उसका प्रभाव भी अधिक सघन होता है। त्रासदी के आलोक में यह कला का ही प्रभाव है कि दुःखद स्थिति भी हमारे आनन्द का कारण बन जाती है। इस कलात्मक प्रक्रिया को अरस्तू ने 'विरेचन' कहा है।

1.1.5. अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त

अनुकरण सिद्धान्त की भाँति अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भी महान् विचारक प्लेटो द्वारा काव्य पर किए गए आक्षेप का प्रतिवाद रूप है। प्लेटो ने काव्यकला को आदर्श राज्य के लिए अनुपयोगी व महत्त्वहीन बताया है जिसका अरस्तू ने बहुत ही तार्किक ढंग से प्रतिवाद किया है। इस सन्दर्भ में विरेचन सिद्धान्त की स्थापना करते हुए अरस्तू काव्य के उद्देश्य एवं प्रभाव की समुचित प्रतिष्ठा करते हैं।

1.1.5.1. विरेचन का अर्थ

यूनान की चिकित्सापद्धति में 'विरेचन' का उल्लेख मिलता है। भारतीय चिकित्सापद्धति में भी 'विरेचन' का महत्त्व है। चिकित्सकीय सन्दर्भ में 'विरेचन' का अभिप्राय है उपयुक्त औषधि द्वारा शरीर को विकारों या अस्वास्थ्यकारी तत्त्वों से मुक्त करके राहत प्रदान करना। काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले अरस्तू ने ही किया है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आलोक में उन्होंने 'विरेचन' का लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण किया है और भावों द्वारा मनोविकारों की शुद्धि के लिए बेहद उपयोगी एवं प्रभावी बताया है।

1.1.5.2. विरेचन की व्याख्या

विरेचन के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए अरस्तू ने यह मत प्रकट किया है कि वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास का निष्कासन 'विरेचन' द्वारा किया जाता है। लाक्षणिकता के आधार पर परवर्ती टीकाकार विरेचन की व्याख्या निम्नलिखित सन्दर्भों के अन्तर्गत करते हैं –

(1) धर्मपरक व्याख्या –

'विरेचन' की धर्मपरक व्याख्या करते हुए प्रो॰ मरे ने कहा है कि वस्तुतः यूनान में वर्ष के आरम्भ में दिओन्युसस देवता के उत्सव की प्रथा का प्रचलन था जिसमें प्रार्थना द्वारा पाप की शुद्धि की योजना थी। एक अन्य टीकाकार लिवी की दृष्टि में त्रासदी की अवधारणा यूनानी अन्धविश्वास पर आधारित है। उनकी मान्यता है कि "ये उत्सव विपत्तियों का मूलोच्छेदन करते हैं।" अरस्तू ने भी यह भी स्वीकार किया है। हाल की स्थिति से उत्पन्न आवेग के शमन हेतु भी यूनान में उद्दाम संगीत का उपयोग किया जाता था जो पहले आवेगों की वृद्धि करता था और फिर उन्हें शान्त कर देता था। इसी से अरस्तू को 'विरेचन' की अभिप्रेरणा मिली।

(2) नीतिपरक व्याख्या –

वारनेज आदि जर्मन विचारकों ने अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'विरेचन' शब्द की नीतिपरक व्याख्या करते हुए इसे मनोविकारों की उत्तेजना के उपरान्त उद्वेग का शमन और उससे उत्पन्न मानसिक प्रसन्नता बताया है। त्रासदीजनित करुणा और त्रास के भाव दर्शकों के मन में इनके समान ही भाव उत्पन्न होते हैं, लेकिन ये भाव शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। इस तरह दर्शक नाटक के रूप में त्रासदी को देखकर अथवा काव्य रूप में पढ़कर शान्ति का सुखद अनुभव करने लगता है और उसके मन में करुणा और त्रास मनोवेगों का आतंक नहीं रह जाता है।

(3) कलापरक व्याख्या –

जर्मन कवि गेटे जैसे साहित्यकारों की दृष्टि में विरेचन सिद्धान्त के कलापरक व्याख्या की विशेष संयोजना मिलती है। प्रो॰ ब्रूचर का मत है कि 'ट्रेजडी' का कर्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं, अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। इनको कला के माध्यम से ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है। अतः पहले मानसिक सन्तुलन और फिर बाद में उसका कलात्मक परिष्कार ही 'विरेचन' का अभिप्राय है।

(4) मानसिक व्याख्या –

वारनेज जैसे विद्वान का मानना है कि मनुष्य के मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित रहते हैं। हमें उनका मूलोच्छेदन करने की बजाय सन्तुलित करना अधिक वांछनीय है। ध्यातव्य है कि करुणा और त्रास जैसे मनोवेग मूलतः दुःखद होते हैं। 'ट्रेजडी' रंगमंच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिसमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप

में प्रस्तुत किए जाते हैं। उन्हें देखकर ये भाव पहले तो उद्वेलित होते हैं और फिर उपशमित हो जाते हैं। प्रेक्षक त्रासदी को देखकर मानसिक शान्ति का सुखद अनुभव करता है, क्योंकि उसके मन में वासना के रूप में स्थित करुणा तथा त्रास आदि मनोवेगों का दंश नष्ट हो जाता है। अस्तु, विरेचन की सहज मानसिक व्याख्या है – मनोविकारों के उत्तेजना के बाद उद्वेग का शमन होता है और तज्जन्य मानसिक विशदता से भावात्मक रुग्णता दूर हो जाती है।

1.1.5.3. विरेचन का स्वरूप, विश्लेषण और आनन्दानुभूति

विरेचन से अरस्तू का अभिप्राय मनोवेगों के किसी-न-किसी प्रकार के विरेचन से था। त्रासदी को देखने के बाद मनुष्य जिस मनःस्थिति में आता है, वह आवेगों के विरेचन का ही परिणाम है। अरस्तू ने कहा है कि त्रासदी करुणा और त्रास के उद्रेक द्वारा तीन कार्य सम्पन्न करती है – नवीन दृष्टि प्रदान करना, कलास्वाद प्रदान करना तथा शान्ति प्रदान करना। इस प्रकार 'विरेचन' त्रासदी सुख प्रदान करने वाली प्रक्रिया है।

'विरेचन' की सैद्धान्तिक व्याख्या के आधार पर यह सहज ही अनुभूत है कि धार्मिक संगीत की चर्चा और मानसिक शुद्धि की बात करके अरस्तू ने उसके धार्मिक और मानसिक रूप को स्वतः स्वीकार किया है। सत्य का अंश निहित होने से कलापरक अर्थ भी सर्वमान्य है। वैसे देखा जाए तो अरस्तू के विरेचन के मानसिक अर्थ का समर्थन मनोविज्ञान भी करता है। विरेचन द्वारा मनोविकार का परिष्कार होता है। विरेचन के अनुसार त्रासदी की कटुता का दंश उपशमित हो जाता है, क्योंकि त्रासदी में 'त्रास' और 'करुणा' साथ-साथ चलते हैं। हालाँकि, विरेचन की दो स्थितियाँ 'करुणा' और 'त्रास' में से त्रास की स्थिति विरेचन सिद्धान्त और व्यवहार से थोड़ी भिन्न है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में हम केवल अपनी विपत्तियों से ही पीड़ा अनुभव करते हैं, जबकि प्रेक्षक के रूप में हम पात्र की पीड़ा को देखकर सम्भावित पीड़ा से दुःखी हो उठते हैं। काव्यशास्त्रीय विवेचन में इसे सहानुभूतिजनित कम्पन स्वीकार किया गया है जो भारतीय काव्य-चिन्तन में 'साधारणीकरण' को स्पर्श करता है।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विरेचन जिस त्रासदी को महत्त्व देता है उसमें करुणा और त्रास दोनों की प्रमुखता है। यह त्रासद प्रभाव तथा भारतीय काव्य-चिन्तन में करुण रस के आस्वाद वाले सिद्धान्त में पर्याप्त समानता भी है और विषमता भी है। त्रासदी में जहाँ करुणा और त्रास के कारण पीड़ा की अनुभूति का प्राधान्य है, वहीं करुण रस में शोक की प्रधानता है। उदाहरण के लिए 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार इष्ट-वियोग, विभव-नाश, वध-बन्धन तथा दुःखानुभूति आदि से उत्पन्न होने वाला अनुभव 'शोक' कहलाता है।

'विरेचन' की सैद्धान्तिक विवेचना के आलोक में पाश्चात्य काव्य-चिन्तन और भारतीय काव्यशास्त्र में उपर्युक्त साम्य के होते हुए भी पर्याप्त वैषम्य के दर्शन भी होते हैं। इनमें प्रथम वैषम्य तो यह है कि अरस्तू ने करुणा और त्रास को हमेशा एक युग्म के रूप में स्वीकार किया है, लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र में करुण और भयानक रस मित्र रसों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं, फिर भी ये दोनों अलग-अलग रस माने गए हैं। त्रासदी का प्रभाव जहाँ मित्र भाव होता है, वहीं शोक अमित्र भाव है। करुण रस में शोक के जो कारण गिनाए गए हैं, उनमें से अनेक ऐसे

भी हैं जो त्रास उत्पन्न नहीं करते, यथा – मृत्यु । रस के आस्वाद का सिद्धान्त अतिशय उत्तेजना तथा मनोवेगों के शमन तथा तज्जन्य मनःशान्ति तक तो बिल्कुल समान्तर है, परन्तु विरेचन सिद्धान्त की सीमा तो यहीं तक है । स्मरणीय है कि भारतीय साहित्य-चिन्तन की परम्परा में करुण रस उद्वेग का शमन मात्र न होकर उसका भोग भी है । भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द 'दुःख का अभाव' मात्र नहीं है, अपितु वह 'आत्मभोग' है । समवेततः विरेचन सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अरस्तू ने न केवल काव्य की महत्ता स्थापित की है, अपितु त्रासदी के प्रभाव को भी गौरवपूर्ण बनाया है । साथ-ही-साथ भारतीय रस चिन्तन से भी इसका बहुत साम्य परिलक्षित होता है ।

1.1.6. सारांश

अरस्तू की स्थापनाओं व उसके अनुभववादी सभी पक्षों के बारे में निश्चित और निर्विकल्प रूप से टिप्पणी करना सरल नहीं है । उसका महत्त्व तो इस अर्थ में है कि उनकी उपलब्ध सामग्री पूर्ण न होने के बावजूद भी पश्चिमी काव्यशास्त्र के चिन्तन का आधारबिन्दु बनी । भौतिकवादी तर्क पर आधारित काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्पराओं का प्रवर्तन कर अरस्तू ने पश्चिमी काव्यजगत् व साहित्य-चिन्तन की परम्परा को परिपक्व और समृद्ध किया है ।

1.1.7. शब्दावली

भावातिरेक	:	भावों की अत्यधिकता
प्रतीयमान	:	ध्वनि या व्यंग्य द्वारा अनुभूत
वस्तुपरक	:	वस्तुनिष्ठ
वस्तुवादी	:	अनुभववादी
आत्मवादी	:	विषयनिष्ठ
प्रत्यय	:	विचार

1.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. नगेन्द्र , अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनु. व संपा.), भारती भण्डार, इलाहाबाद.
2. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.

1.1.9. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अनुकरण के बारे में अरस्तू की मान्यताओं पर प्रकाश डालिए ।

2. अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।
3. त्रासदी से अरस्तू का क्या तात्पर्य है ?
4. त्रासदी के विभिन्न घटकों की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अरस्तू के अनुसार कथानक के महत्त्व और उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. अरस्तू के 'विरेचन सिद्धान्त' की विस्तृत चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अरस्तू के अनुसार काव्यात्मक अनुकरण जीवन के किस रूप से सम्बद्ध है ?

(क) आन्तरिक रूप
(ख) बाह्य रूप
(ग) अन्तर्बाह्य रूप
(घ) इनमें से कोई नहीं

2. अरस्तू के अनुसार काव्य का चरम उत्कर्ष है –

(क) त्रासदी
(ख) धर्म
(ग) इतिहास
(घ) उपर्युक्त सभी

3. अरस्तू के अनुसार त्रासदी के कुल कितने घटक हैं ?

(क) दो
(ख) चार
(ग) पाँच
(घ) छह

4. 'विरेचन' शब्द मूलतः किस विधा से सम्बन्धित है ?

(क) दर्शनशास्त्र
(ख) भौतिकशास्त्र

(ग) रसायनशास्त्र
(घ) चिकित्साशास्त्र

5. अरस्तू ने विरेचन का कौन-सा अर्थ ग्रहण किया है ?

(क) शाब्दिक
(ख) लाक्षणिक
(ग) पर्यायवाची
(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : प्रमुख विचारक – 1

इकाई – 2 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक लोंजाइनस

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. लोंजाइनस : व्यक्ति परिचय
  1.2.2.1. व्यक्तित्व
  1.2.2.2. कृतियाँ
1.2.3. लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त
  1.2.3.1. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और लोंजाइनस
  1.2.3.2. उदात्त का स्वरूप विवेचन
  1.2.3.3. उदात्त का मूल आधार व स्रोत
  1.2.3.4. उदात्त के बाधक तत्त्व
1.2.4. 'उदात्त सिद्धान्त' की उपादेयता
  1.2.4.1. उदात्त और भारतीय काव्य-चिन्तन
  1.2.4.2. उदात्त सिद्धान्त का अवदान
1.2.5. सारांश
1.2.6. शब्दावली
1.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.2.8. सम्बन्धित प्रश्न

1.2.0. उद्देश्य कथन

लोंजाइनस यूनान के तीसरी शती के महान् दार्शनिक थे। उन्होंने पूर्ववर्ती परम्पराओं का अनुशीलन कर साहित्यशास्त्र के भावी विकास का मार्ग प्रशस्त किया। साहित्य-चिन्तन की पाश्चात्य परम्परा में प्लेटो के लिए काव्य जहाँ 'उत्तेजक' था वहीं अरस्तू के लिए काव्य का स्वरूप 'विरेचक' था लेकिन लोंजाइनस ने साहित्य के 'उदात्त' स्वरूप का विवेचन किया। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. पाश्चात्य काव्य-चिन्तन के विकासक्रम में लोंजाइनस की उल्लेखनीय भूमिका का विवेचन कर सकेंगे।
ii. उदात्त की अवधारणा व उसमें निहित विचार-सूत्रों की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. भारतीय काव्य-चिन्तन में 'उदात्त' की अवधारणा का लोंजाइनस के काव्य-चिन्तन से तुलनात्मक अध्ययन करते हुए साम्य-वैषम्य से परिचित हो सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

नैतिक मूल्यों का क्षरण आज जिस तीव्रता से हो रहा है तथा सामाजिक व मानवीय मूल्यों का जो विघटन समाज में दिखाई दे रहा है, उसके विषाक्त प्रभाव को कम करने के लिए लोंजाइनस के काव्य-चिन्तन की आवश्यकता निरन्तर महसूस की जा रही है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विकास-परम्परा में आरम्भ से ही यूनान की केन्द्रीय भूमिका रही है। प्लेटो और अरस्तू के बाद लोंजाइनस ने साहित्य-चिन्तन में अभूतपूर्व योगदान दिया। काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचारों का गहन अनुशीलन करते हुए भावी स्थापनाओं के विकास का उदात्त मार्ग प्रशस्त किया है। प्लेटो ने काव्य को उत्तेजक माना है जबकि अरस्तू के लिए काव्य का स्वरूप विरेचक है। लेकिन लोंजाइनस ने काव्य को 'उदात्त' माना है और उनकी यह धारणा स्वतन्त्र कला-चिन्तन की दृष्टि से अत्यन्त विशिष्ट है। कालान्तर में लोंजाइनस की धारणा में निहित संकल्पनाओं की सम्भावनाओं को विविध आयामों से जोड़कर देखा गया।

1.2.2. लोंजाइनस : व्यक्ति परिचय

वस्तुतः जो रचनाकार या विचारक अपने सम्पूर्ण रचनाकर्म और जीवन मर्म के स्तर पर चिन्तन एवं व्यवहार में पूरी तरह उद्घाटित-विवेचित हो जाता है या उसके पैने किनारे भोंथरे या अर्थहीन पक्षों से ढँक दिए जाते हैं, वह रचनाकार प्रेरणाहीन होकर इतिहास की वस्तु बन जाता है। रचनाकार की असल मृत्यु उसकी दैहिक मृत्यु नहीं, अपितु उसके वैचारिक चिन्तन या रचनात्मकता की मृत्यु होती है। इस कसौटी पर पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में लोंजाइनस का व्यक्तित्व समकालीन सन्दर्भ में अदेह होने पर भी विचार, अनुभूति और साहित्यिक समझ को बनाए रखने के लिए बेहद प्रासंगिक है।

1.2.2.1. व्यक्तित्व

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में लोंजाइनस के काल को लेकर विवाद है। कुछ विद्वानों का मानना है कि लोंजाइनस शास्त्रवाद से प्रभावित तीसरी सदी में पालमीरा की महारानी जेनोविया के अत्यन्त विश्वसनीय यूनानी मंत्री थे जिन्हें बाद में महारानी के लिए मृत्यु को वरण करना पड़ा। प्रो॰ रीज रोबर्ट्स 'पेरिइप्सुस' रचना के आधार पर लोंजाइनस को पहली सदी का स्वीकार करते हैं। प्रो॰ निर्मला जैन भी 'उदात्त के विषय में' नामक अपनी अनुवाद कृति में लोंजाइनस को ईसा की पहली शती का स्वीकार किया है। स्कॉउट जेम्से जैसे टिप्पणीकार ने लोंजाइनस को प्रथम स्वच्छन्दतावादी आलोचक स्वीकार करते हुए नव प्लेटोवादी चिन्तनधारा के प्रवर्तक प्लूटिनस से आठ वर्ष छोटा बताया है। वैसे लोंजाइनस के व्यक्तित्व पर इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वे पहली सदी के थे या तीसरी सदी के। फिर भी यह निर्विवाद है कि लोंजाइनस साम्राज्यकाल के लेखक थे। लेकिन कालान्तर में हुए शोधपरक तथ्यों के आधार पर यह मत अधिक तर्कसंगत माना जा सकता है कि तीसरी सदी में वस्तुतः दो लोंजाइनस हुए हैं जिसमें एक केसियस लोंजाइनस मंत्री था और दूसरा द्विओनीसिउस लोंजाइनस प्रखर चिन्तक हुए।

1.2.2.2. कृतियाँ

द्विओनीसिउस लोंजाइनस यूनान के तीसरी शती के सुप्रसिद्ध विचारक थे। उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति उपलब्ध होती है – 'On the Sublime'। रॉबर्टेलो द्वारा इस रचना के अस्तित्व की खोज 1554 ई. में हुई। इसका पहला अंग्रेज़ी अनुवाद 1662 ई. में जॉन हॉल ने किया। जॉन पैल्टेंइसी ने वर्ष 1680 ई. में इसका दूसरा अनुवाद किया। 1774 ई. में बोइलो ने इसका फ्रांसीसी अनुवाद 'सब्लाइम' किया। एक लम्बे अन्तराल के बाद 1899 ई. में रीज़ रॉबर्टस ने तथ्यपरक अनुसंधान सहित अनुवाद 'लोंजाइनस ऑन द सब्लाइम' प्रस्तुत किया जो अधिक मान्य हुआ। ध्यातव्य है कि डॉ॰ नगेन्द्र और नेमिचंद जैन द्वारा प्रस्तुत इसका पहला हिंदी अनुवाद 'काव्य में उदात्त तत्त्व' उसी पर आधारित है।

1.2.3. लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त

लोंजाइनस के अनुसार काव्य में उदात्त शैली का होना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचारकों के उन मतों का खण्डन किया है कि काव्य का उद्देश्य पाठक को केवल आनन्द प्रदान करना, शिक्षा देना और अपनी बात मनवाना है। इस सन्दर्भ में लोंजाइनस ने यह मत स्थापित करने का प्रयास किया है कि काव्य का लक्ष्य पाठक को चरम उल्लास प्रदान करना है।

1.2.3.1. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और लोंजाइनस

लोंजाइनस ने अपने पूर्ववर्ती मान्यताओं की जड़ता को तोड़कर समन्वित दृष्टिकोण अपनाया है। उल्लेखनीय है कि लोंजाइनस से पहले पश्चिम में काव्यशास्त्रीय चिन्तन की एक समृद्ध एवं परिपक्व परम्परा विकसित हो चुकी थी। उदाहरण के लिए प्लेटो ने जहाँ 'दैवी विक्षेप' में काव्य-सृजन की अभिप्रेरणा महसूस की है, वहीं लोंजाइनस ने काव्य-सृजन की प्रक्रिया में 'दैवी' तत्त्व और 'विक्षेप' तत्त्व को निकालकर कवि की प्रेरणा का सम्बन्ध सामाजिक सरोकार से जोड़ा है। अरस्तू के 'अतीत की कला' की बजाय लोंजाइनस ने अतीत को आदर्श नहीं माना है, बल्कि उसे समसामयिक चेतना से मूल्यांकित किया है, उससे अभिप्रेरणा ली है तथा विघटनकारी तत्त्वों की प्रखर आलोचना की है। इतना ही नहीं, साहित्य सृजन में प्रगतिशील तत्त्वों का संयोजन कर उन्होंने काव्य के उदात्त स्वरूप को स्थापित करने का सफल प्रयास किया है।

अभिव्यक्ति कौशल व काव्य सम्प्रेषणीयता के आलोक में लोंजाइनस अरस्तू से लेकर देमेत्रिअस द्वारा स्थापित 'भाषण कला' जैसी तकनीकी विशेषज्ञता का निषेध करते हैं। उदात्त (काव्य) के सर्वव्यापी प्रभाव संख्या में अनेक पक्षों और प्रवृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करते हुए वे भाषा के वैशिष्ट्य और चरमोत्कर्ष को अभिव्यक्ति के केन्द्र में स्थापित करते हैं। इस प्रकार लोंजाइनस एक मायने में अभिव्यक्ति के किसी भी माध्यम को उदात्त की परिधि से बाहर नहीं मानते। उनके विषय की व्यापकता एवं उपयोगिता के विषय में प्रो॰ निर्मला जैन ने कहा है – "उसमें गद्य-पद्य, इतिहास, दर्शन, धर्मग्रन्थ, भाषण सभी आ जाते हैं।" लोंजाइनस 'विधाओं और विधाओं का

अन्तर' पहचानते थे लेकिन उनका कृत्रिम विभाजन अस्वीकार करते थे। शुद्ध साहित्य की जड़ता से अलग उनमें दृष्टि की एक ऐसी समग्रता थी जो प्राचीन ग्रीक-रोमन साहित्यशास्त्र में ही नहीं, बल्कि आज भी दुर्लभ है।

1.2.3.2. उदात्त का स्वरूप विवेचन

लोंजाइनस के अनुसार उदात्त एक 'भाव' भी है, एक 'विचार' भी है और 'शैली' का एक गुण भी है। उसकी सत्ता काव्य-रचना के वस्तुपक्ष और कलापक्ष दोनों तक व्याप्त है। लोंजाइनस ने काव्य में उदात्त के स्वरूप पर विचार करते हुए जिन मूल तथ्यों को स्थापित किया है, उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है –

(i) उदात्त अभिव्यक्ति की उच्चता एवं उत्कृष्टता का नाम है।

(ii) अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता श्रोता के तर्क का मात्र समाधान प्रस्तुत नहीं करती, अपितु उसे अभिभूत कर लेती है।

(iii) काव्य का उदात्त तत्त्व अपनी प्रबल शक्ति द्वारा पाठक को अनायास अपनी तीव्रता में बहा ले जाता है।

(iv) किसी रचना का शिल्प उसके एक-दो अंश से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण रचना के शिल्पविधान के आलोक में धीरे-धीरे आता है, लेकिन रचना में उदात्त विचार यदि सन्दर्भ व अवसर के अनुकूल हो तो एकाएक बिजली की तरह चमककर पूरी विषयवस्तु को प्रकाशित कर देता है और वक्ता के समस्त वाग्वैभव को एक पल में अभिव्यक्त कर देता है।

लोंजाइनस के विचारों में परस्पर विरोध परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के तौर पर उदात्त को एक स्थान पर 'शैली' का गुण माना गया है तो दूसरे स्थान पर उसे भावावेग स्वीकार किया गया है, जबकि तीसरे स्थान पर उसे चामत्कारिक विचार बताया गया है। वस्तुत: ये तीनों विचार एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसा कि लोंजाइनस ने कहा है कि काव्य का उदात्त स्वरूप अपने समन्वित रूप में प्रकट होकर श्रोता या पाठक की आत्मा को झंकृत कर उसे चमत्कृत करता हुआ 'आनन्द' प्रदान करता है।

1.2.3.3. उदात्त का मूल आधार व स्रोत

उदात्त के मूल आधार पर विचार करते हुए सुविख्यात विचारक लोंजाइनस ने प्रतिभा को उदात्त की मूल प्रेरक शक्ति माना है। उनके अनुसार नियमों के ज्ञान और अभ्यास द्वारा प्रतिभा को उदात्त बनाया जाता है। वस्तुतः काव्य में उदात्त का आधार कोई एक गुण नहीं होता है, अपितु वह कलाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व होता है।

लोंजाइनस इस बात पर बल देते हैं कि महान् प्रतिभाशाली, उच्च विद्वान एवं चरित्रवान व्यक्ति ही 'उदात्त' रचनाएँ दे सकता है। उनके अनुसार काव्य में औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है। जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है, सच्चा औदात्य केवल उन्हीं को प्राप्य है। जिनका जीवन तुच्छ एवं संकीर्ण विचारों के अनुसरण में व्यतीत होता है, वे कभी मानवता के लिए कोई स्थायी महत्त्व की रचना प्रस्तुत करने में सफल नहीं

होते। उदाहरण के लिए कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से कमजोर हो सकता है, उसका व्यवहार क्षुद्र व अपरिष्कृत हो सकता है, ऐसी स्थिति में उससे 'औदात्य' की आशा नहीं की जा सकती है। ठीक उसी प्रकार कोई विद्वान शास्त्रज्ञाता होते हुए अहंकारी एवं दम्भी हो सकता है वह भी उदात्त रचना प्रस्तुत नहीं कर सकता।

लोंजाइनस का उदात्त सम्बन्धी विचार साहित्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में उन्हें विशिष्ट स्थान का पात्र बना देता है। कहना गलत न होगा कि उनसे पहले किसी भी विचारक ने काव्य या साहित्य का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था। उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय विवेचन के निहितार्थ पाँच ऐसे स्रोतों का उल्लेख किया है जो किसी रचना में औदात्य का संचार करते हैं। औदात्य के पाँच महत्त्वपूर्ण स्रोतों हैं – उदात्त विचार, उदात्त चित्रण, अलंकार नियोजन, उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामय रचनाविधान। इन पाँचों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है –

(1) उदात्त विचार

उदात्त विचार का सम्बन्ध उदात्त व्यक्तित्वा से है। लोंजाइनस के अनुसार औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है। महान् व्यक्तियों की वाणी से ही उदात्त विचार ध्वनित होते हैं। लेखक का व्यक्तित्व जितना अधिक उदात्त होगा उसकी रचना में भी उसी अनुपात में औदात्य दिखाई देगा। कवि को उन महापुरुषों के साथ तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है जिनका चित्रण वह अपनी कविता में करता है। यह तादात्म्य कवि तभी कर पाता है जब उसका अपना व्यक्तित्व उदात्त गुणों से परिपूर्ण हो। होमर आदि साहित्यकारों की रचनाओं में 'औदात्य' इसीलिए आ सका, क्योंकि स्वयं उनका व्यक्तित्व महान् था।

(2) उदात्त चित्रण

लोंजाइनस से पहले कुछ विचारकों ने भावावेग को औदात्य में बाधक स्वीकार किया था, लेकिन लोंजाइनस ने इस धारणा का खण्डन करते हुए भावावेग को औदात्य का सहायक माना है। उपयुक्त परिस्थितियों का चयन एवं उनका सम्यक् रूप में संघटन ही भावावेग का जनक है।भाव-प्रस्तुति में बिम्बविधान से भी सहायता मिलती है।

(3) अलंकार नियोजन

लोंजाइनस ने काव्य में उदात्त तत्त्व के स्रोतों की व्याख्या करते हुए यह मत प्रकट किया है कि अलंकार के सम्यक् प्रयोग से औदात्य की सिद्धि में सहायता मिलती है। उनके अनुसार अलंकारों का प्रयोग भाषा में इस प्रकार अपेक्षित है कि श्रोता या पाठक को उनके प्रयोग का पता न चले। अभिप्राय यह है कि अलंकार भावावेग की प्रेरणा से सहज, स्वाभाविक एवं अनायास रूप में काव्य में आने चाहिए, तभी वे औदात्य के नियामक होते हैं। लोंजाइनस ने कहा है – "A figure therefore is effective only when it appears is disguise." लोंजाइनस कलागत औदात्य के अन्तर्गत मिथ्या चमत्कार हेतु अलंकारों के प्रयोग का निषेध करते हैं। उनकी

प्रबल धारणा है कि अलंकारों का प्रयोग केवल प्रसंगानुकूल एवं पाठक को आनन्द प्रदान करने के लिए ही किया जाना चाहिए जो कि स्वाभाविक है।

(4) उत्कृष्ट भाषा

काव्य में उदात्ततत्त्व की व्याख्या करते हुए लोंजाइनस का विचार है कि उपयुक्त शब्दचयन और प्रभावोत्पादक शब्दावली श्रोता को भावाभिभूत कर लेती है। ऐसी शब्दयोजना में भावप्रवणता, सौन्दर्य, गरिमा, ओज, शक्ति आदि श्रेष्ठ गुणों का समावेश होना चाहिए। सुन्दर शब्द ही सुन्दर विचार को अभिव्यक्त कर पाते हैं और उस अभिव्यक्ति में गरिमा भी तभी आती है। लोंजाइनस का मानना है कि गरिमामयी भाषा ही काव्यभाषा हो सकती है जो कि सामान्य भाषा से पृथक् है। उपयुक्त भाषा में सुन्दर शब्दावली के साथ प्रवाहपूर्णता, रूपकों का सीमित प्रयोग, उपमाओं एवं अत्युक्तियों का सन्तुलित प्रयोग होना अति आवश्यक है। इस प्रकार भाषा की सार्थकता काव्य में औदात्य उत्पन्न करने में है और जो भाषा इस प्रयोजन में सहायक है, वही आदर्श भाषा कही जा सकती है।

(5) गरिमामय रचनाविधान

लोंजाइनस के अनुसार औदात्य का पाँचवा स्रोत गरिमामय रचनाविधान है जिसमें प्रथम स्थान सामंजस्य को दिया जा सकता है। शब्दों में व्यवस्थित अनुक्रम से काव्य की प्रकृति व स्वरूप में सामंजस्य आता है। वस्तुतः भाषा में सामंजस्य-स्थापना हेतु ही काव्य में छन्दविधान का आविष्कार हुआ है। लोंजाइनस ने काव्य के रचनाविधान पर विशेष बल देते हुए कहा है कि उदात्त विचारों, शब्दों, कार्यों एवं सौन्दर्य के अनेक रूपों के समुच्चय का सामंजस्य होना अतीव आवश्यक है।

लोंजाइनस के काव्यात्मक चिन्तन का यही वैशिष्ट्य है कि वे अनेक असम्बद्ध वस्तुओं की भावभूमि पहचानते हैं, काव्य-सृजन के निहितार्थ प्रक्रियागत सम्बन्ध समझते हैं तथा संवादी-विवादी स्तरों की तरह विरूद्धों की एकता में भी औदात्य और उत्कर्ष देखते हैं। इतना ही नहीं, वे काव्य में औदात्य के स्रोतों में भी 'सहजात' और 'कला की उपज' के आधार पर क्रम-निर्धारण करते हैं। उन स्रोतों में महत्त्व-क्रम के साथ-साथ भीतरी तर्क भी मौजूद है। महान् आचरण और विचार से अभिव्यक्ति की सहज क्षमता आती है और इस क्षमता से वह संयम आता है जो उदात्त के सबसे बड़े साधक 'उचित प्रसंग में सच्चे भाव' का स्रोत है। लोंजाइनस बहुत सहजता के साथ स्वीकार करते हैं कि उदात्त के पाँचों स्रोत वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं, अपितु संश्लिष्ट रूप में उदात्त के साधक होते हैं। मानव शरीर की तरह इनमें भी एक अंग का दूसरे से स्वतन्त्र कोई निजी मूल्य नहीं है। यही कारण है कि एक कालखण्ड में भव्यता अनेक तत्त्वों के सहयोग से उत्पन्न होती है।

1.2.3.4. उदात्त के बाधक तत्त्व

उदात्त के बाधक तत्त्वों में भाषा की अव्यवस्था, प्रवाहशून्यता, विषय से अधिक लय को प्रमुखता, उक्ति में अस्पष्टता, आडम्बरपूर्ण शैली, अनुचित विचार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, ग्राम्य पदों का प्रयोग, कर्ण कटुभाषा आदि को लिया जा सकता है। इस सन्दर्भ में कला में दो प्रकार के दोष हो सकते हैं – पहला, रचना के नियम सम्बन्धी तथा दूसरा, विषयवस्तु सम्बन्धी। लोंजाइनस ने इन दोनों पर गहराई से विचार किया है। उनके अनुसार "कला में हम निर्दोषता की प्रशंसा करते हैं तो प्रकृति में भव्यता की।" मनुष्य को वाक् शक्ति का वरदान प्रकृति से प्राप्त हुआ है। दोनों की 'सहकारिता' से पूर्णता आती है। ध्यातव्य है कि औदात्य विवेचन के क्रम में लोंजाइनस निर्दोषता और औदात्य को पर्यायवाची नहीं मानते हैं। चूँकि कला इसमें प्राथमिक नहीं है इसलिए वह प्रकृति की सहायक होकर ही उदात्त बनती है। इसलिए रचना के नियमसम्बन्धी दोष 'औदात्य और उत्कृष्टता के एक ही स्पर्श' से बारम्बार धुल जाते हैं, लेकिन प्रकृतिसम्बन्धी दोष का निस्तारण नहीं होता जिसे लोंजाइनस ने 'आडम्बर' की संज्ञा प्रदान की है।

लोंजाइनस कला में दोष और आडम्बर के अलग-अलग सामाजिक आधार को पहचानते हैं। वे निर्दोष कला के रीतिवादी आदर्श की बजाय उदात्त कला का लोकतान्त्रिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार उनके लिए उदात्त एक नैतिक प्रेरणा और समानान्तर विवेक है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि कला नियम के दोष असावधानी के द्योतक हैं इसलिए वे उदात्त को बाधित नहीं करते बल्कि वे स्वयं उससे दब जाते हैं। लेकिन 'आडम्बर' का दोष तुच्छता का परिचायक है जो 'निर्दोषता' की आड़ में त्याज्य वस्तुओं के मोह को सांस्कृतिक मुखौटा प्रदान करता है इसलिए वह उदात्त का सबसे बड़ा शत्रु है। कला में आडम्बर की संस्कृति तीन रूपों में प्रतिबिम्बित होती है – पहला शब्दाडम्बर, दूसरा बचकानापन और तीसरा भावाडम्बर। ये तीनों दोष भाव और कला में अलगाव से आते हैं और उनका प्रभाव भी तुच्छतापूर्ण होता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक मान्यताओं की आधारभूमि पर लोंजाइनस ने उदात्त के बाधक तत्त्वों की वास्तविक तस्वीर अंकित कर दी है।

1.2.4. 'उदात्त सिद्धान्त' की उपादेयता

विदित है कि यूनानी साहित्य में अरस्तू ने कला को अनुकृति मानते हुए कवि के निजी व्यक्तित्व की उपेक्षा कर दी थी, किन्तु लोंजाइनस ने कवि के व्यक्तित्व को कविता की भव्यता से सम्बद्ध कर काव्य-चिन्तन की परम्परा और दिशा ही बदल दी।

अनुकृति सिद्धान्त में कला का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य का अनुकरण मात्र बताकर कलाकार के योगदान को कम करके आँका गया है, लेकिन लोंजाइनस ने कवि के व्यक्तित्व को वरीयता देते हुए अपनी स्थापनाओं में उदात्त काव्य को उदात्त व्यक्तित्व से सम्बद्ध कर अभूतपूर्व चिन्तन का परिचय दिया है। यही कारण है कि कालान्तर में इमैनुएल कांट, हीगेल और कैरिट आदि विचारकों ने अरस्तू के अनुकृति सिद्धान्त की अपेक्षा लोंजाइनस के उदात्त सिद्धान्त को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

लोंजाइनस ने उदात्त का व्यापक विवेचन करते हुए उसमें विचारतत्त्व, भावतत्त्व, शैलीतत्त्व, अलंकार, भाषातत्त्व सबको समाविष्ट कर दिया है। भावावेगों को महत्त्व देते हुए उन्होंने अलंकारों, गुण-दोषों का भी व्यापक विवेचन किया है। भावावेगों के उद्वेलन एवं उससे उत्पन्न आनन्द की बात को स्वीकार करते हुए लोंजाइनस ने एक तरह से भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त की धारणाओं को ही सम्पुष्ट किया है।

1.2.4.1. उदात्त और भारतीय काव्य-चिन्तन

भारतीय काव्य-चिन्तन में उदात्त की अवधारणा का उल्लेख मिलता है। संस्कृत में उदात्त एक अलंकार है जो वर्ण्यवस्तु की सम्पन्नता या महिमा की अभिव्यंजना करता है। लोंजाइनस के मतानुसार 'उदात्त' अलंकार मात्र नहीं है। उनके लिए वह अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण गुण है। फिर भी लोंजाइनस द्वारा शब्दालंकार और विचारालंकार का जो वर्गीकरण है, वह भारतीय काव्यशास्त्रीय शब्दालंकार और अर्थालंकार से पृथक् नहीं है। आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' में अलंकार को परिभाषित करते हुए लिखा है – 'कवि रस से ऐसा बँधा हो कि अलंकार खुद बन जाय, अलग से कोशिश न की जाय कि वह अलंकार है। इसी सन्दर्भ में लोंजाइनस इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि "अलंकार सर्वथा प्रभावशाली तब होता है जब इस बात पर ध्यान ही न जाए कि वह अलंकार है।" काव्य के उदात्त स्वरूप का विवेचन करते हुए लोंजाइनस ने लिखा है कि "वास्तव में महान् रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदैव खरी उतरे और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल हो कि मिटाए न मिटे।" इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित 'लोकहृदय में लीन होने' की संकल्पना का भी काव्य प्रयोजन से गहरा सरोकार है। अस्तु, कालातीतता, अलंकार, भाव और लोकव्यापकता आदि अनेक सन्दर्भों में भारतीय काव्य-चिन्तन और लोंजाइनस में बहुत समानता है।

1.2.4.2. उदात्त सिद्धान्त का अवदान

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की चिन्तन-परम्परा में लोंजाइनस का प्रादुर्भाव एक बहुत बड़ी घटना है। उनका पूरा चिन्तन काव्य के उदात्त का वह परिधान है जो लोकमंगल के निहितार्थ भावों, अनुभावों और सहानुभूति के उनके करघे पर बुना गया है। लोंजाइनस की दृष्टि तब तक प्रासंगिक बनी रहेगी जब तक कि हम काव्य-चिन्तन में संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हो पाते। लोंजाइनस ने रीतिवादी आलोचना दृष्टि का व्यवस्थित ढंग से विरोध करते हुए लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की है। साथ ही, कला के रूपगत पक्षों की आलोचना के क्रम में उन्होंने प्रकृति पर ध्यान केन्द्रित करके स्वच्छन्दतावाद के व्यापक तत्त्वों का भी सार्थक उपयोग किया है।

काव्य में उदात्त को सबसे बड़ा मूल्य स्वीकार करते हुए लोंजाइनस ने उसे अनेक बातों के सामंजस्य और सन्तुलन का परिणाम स्वीकार किया है। यथार्थवादी दृष्टि और द्वन्द्ववादी पद्धति की ठोस आधारशिला स्थापित करना उनका सबसे बड़ा साहित्यिक अवदान है। उन्होंने यथार्थवादी दृष्टि से न केवल सामाजिक जीवन और कला के सम्बन्धों का निरूपण किया है, अपितु मनुष्यों की जातीय संस्कृति से अभिव्यक्ति का सम्बन्ध भी पहचानते हैं। समाज और कला के सम्बन्धों की समीक्षा करते हुए उन्होंने व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टि अपनायी है। उनके

अनुसार कला के साधन तभी सार्थक होते हैं जब वे एक ओर गरिमापूर्ण आत्मा से, दूसरी ओर जीवन के यथार्थ से सम्बद्ध हों। उनकी दृष्टि में यथार्थ का अभिप्राय ब्यौरों का संग्रह नहीं, अपितु मानवीय विवेक से यथार्थ की तर्कसंगत पहचान है, यथार्थ के उदात्त और जीवन्त अंशों की पहचान है। इस चयन दृष्टि के आधार पर ही संवेग-कल्पना-तर्क जैसी आन्तरिक शक्तियाँ और अलंकार-बिम्ब-भाषा जैसी कलात्मक युक्तियाँ उचित अनुपात में उपस्थित होकर उदात्त की रचना करती हैं। लोंजाइनस की आलोचना दृष्टि व उसकी गम्भीरता को देखते हुए प्रो॰ निर्मला जैन ने उन्हें 'व्यावहारिक आलोचना' के लिए स्थायी महत्त्व के औजार प्रदान करने का श्रेय दिया है। होमर के विवेचन में उन्होंने 'इलियट' और 'ओदेशी' की जो तुलना प्रस्तुत की है, वह तुलनात्मक आलोचना का अभूतपूर्व उदाहरण है।

1.2.5. सारांश

लोंजाइनस विचार, विरोध और काव्य के उदात्त को लेकर अनेक अर्थ में सदियों की दीवारों के पार हमारे समय, समाज और उसकी आवश्यक कार्यवाही का जरूरी और प्रासंगिक हिस्सा हैं। वे पाश्चात्य काव्यपरम्परा में ऐसे पहले विचारक हैं जो काव्य में उदात्त तत्त्वों के निहितार्थ मनुष्य को तमाम संज्ञाओं से मुक्त करते हुए कला को कला बन कर डटे रहने की माँग करते हैं। वे समकालीन समय के खतरनाक विवादों को भी सुलझाने में हमारी मदद करते हैं। अतः जब तक समाज में भेदभाव है, मनुष्य व कला विरोधी ताकतें और आडम्बर हैं, लोंजाइनस की प्रासंगिकता और जिरह जारी रहेगी।

1.2.6. शब्दावली

उदात्त	:	उत्कृष्ट
मिथ्या	:	झूठा
आडम्बर	:	दिखावा
प्रकृति	:	स्वभाव
समुच्चय	:	समूह

1.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. डॉ॰ नगेन्द्र व जैन, नेमिचन्द्र, काव्य में उदात्त तत्त्व (अनु.), राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली.
6. जैन, डॉ॰ निर्मला, उदात्त के विषय में, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
8. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

1.2.8. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य में उदात्त तत्त्व से लोंजाइनस का क्या अभिप्राय है ?
2. औदात्य के स्रोतों का उल्लेख कीजिए।
3. गरिमामय रचना विधान को लेकर लोंजाइनस की दृष्टि पर प्रकाश डालिए।
4. उदात्त के बाधक तत्त्वों की व्याख्या कीजिए।
5. लोंजाइनस के अवदान की चर्चा कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "लोंजाइनस के उदात्त की संश्लिष्ट अवधारणा संवेग, कल्पना, तर्क और यथार्थ के परस्पर सम्बन्ध से निर्मित होती है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. उदात्त के विषय में लोंजाइनस के विचारों की समीक्षा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लोंजाइनस के 'पेरिइप्सुस' का पहला अंग्रेज़ी अनुवाद किस वर्ष हुआ ?

(क) 1554
(ख) 1555
(ग) 1661
(घ) 1662

2. लोंजाइनस के चिन्तन का स्वरूप है –

(क) विद्रोही
(ख) यथार्थवादी
(ग) मानवतावादी
(घ) उपर्युक्त सभी

3. लोंजाइनस ने उदात्त के कुल कितने स्रोतों का उल्लेख किया है ?

(क) दो
(ख) चार

(ग) पाँच
(घ) छह

4. "महान् प्रतिभा निर्दोषता से दूर होती है"। यह कथन किसका है ?

(क) प्लेटो
(ख) अरस्तू
(ग) लोंजाइनस
(घ) इनमें से कोई नहीं

5. लोंजाइनस के अनुसार उदात्त के बाधक तत्त्व हैं –

(क) रचना के नियम सम्बन्धी
(ख) विषय वस्तु सम्बन्धी
(ग) उपर्युक्त दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : प्रमुख विचारक – 1

इकाई – 3 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक विलियम वर्ड्सवर्थ

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य कथन
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. विलियम वर्ड्सवर्थ : व्यक्ति परिचय
 1.3.2.1. व्यक्तित्व
 1.3.2.2. कृतियाँ
1.3.3. विलियम वर्ड्सवर्थ का काव्य-चिन्तन
 1.3.3.1. कविता की परिभाषा
 1.3.3.2. काव्यभाषा का अर्थ व विकास
 1.3.3.3. काव्यभाषा की अवधारणा
1.3.4. विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्य-चिन्तन का अनुशीलन
1.3.5. सारांश
1.3.6. शब्दावली
1.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.3.8. सम्बन्धित प्रश्न

1.3.0. उद्देश्य कथन

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन की परम्परा में विलियम वर्ड्सवर्थ की गणना स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तकों में की जाती है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. काव्य की परिभाषा, काव्यभाषा का अर्थ व विकास तथा काव्यभाषा की अवधारणा के सन्दर्भ में विलियम वर्ड्सवर्थ के विचारों को जान सकेंगे।
ii. विलियम वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा विषयक स्थापनाओं का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. विलियम वर्ड्सवर्थ के सैद्धान्तिक अवदान की विवेचना कर सकेंगे।

1.3.1. प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की विकास-परम्परा में सुप्रसिद्ध विचारक ड्राइडन ने अपने अन्तिम वर्षों में आगामी साहित्यिक विकास की दिशा लगभग सुनिश्चित कर दी थी। यह दिशा नवशास्त्रवाद या नवआभिजात्यवाद की ओर थी। उल्लेखनीय है कि वर्ष 1970 ई. में ड्राइडन की मृत्यु और 'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन के बीच लगभग सौ वर्ष का अन्तराल है। उसमें नवशास्त्रवाद का वर्चस्व दिखाई देता है। 'लिरिकल

बैलेड्स' के माध्यम से विलियम वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज जैसे विचारकों ने अरस्तू-होरस के सैद्धान्तिक वर्चस्व को तोड़ा और तत्युगीन नयी शक्तियों से प्रेरित नवीन रचनाशीलता को केन्द्र में रखकर काव्य और आलोचना को नयी दृष्टि प्रदान की। वस्तुतः किसी भी काव्य-रचना का आधार समाज है। समाज काव्य को सामग्री देता है जिससे साहित्य का सृजन होता है। किन्तु कवि या लेखक उपलब्ध सामग्री का ऐसा संयोजन करता है जिससे समाज को गति मिलती है। रचनाकार मानव जीवन की सतत धारा का कर्णधार होता है। वह युगीन सत्य को तो अभिव्यक्त करता ही है, साथ ही, भविष्यदृष्टा के रूप में पथ को आलोकित भी करता है। समाजनिरपेक्ष काव्य का कोई मूल्य नहीं होता।

यही कारण है कि विलियम वर्ड्सवर्थ जैसे स्वच्छन्दतावादी रचनाकारों ने अपने (काव्य) चिन्तन में एक नवीन यथार्थवाद का विकास किया है। उन्होंने न केवल निराशा और पलायनवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष किया, अपितु आभिजात्यवादी मूल्यों पर आधारित अपने युग की समाज-व्यवस्था की कटु आलोचना भी की है। वस्तुत: विलियम वर्ड्सवर्थ के विचार पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की एक महान् साहित्यिक घटना है, स्वच्छन्दतावाद जिसकी सबसे सार्थक फलश्रुति है। कई शताब्दियों की बहुआयामी रचनाशीलता उनके काव्य-चिन्तन के दायरे में आती है।

1.3.2. विलियम वर्ड्सवर्थ : व्यक्ति परिचय

विलियम वर्ड्सवर्थ पाश्चात्य साहित्य में एक सुप्रसिद्ध कवि के रूप में स्थापित हैं। उनमें एक सहज सौन्दर्यबोध और निरन्तर भावप्रवणता थी। वे पाश्चात्य साहित्य में शेक्सपीयर और मिल्टन के बाद तीसरे सबसे बड़े कवि के रूप में सुविख्यात हैं। सामन्तवाद के दमन और उत्पीड़न के प्रति विद्रोही होकर वे ग्राम्य जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुए थे। उनके काव्य-चिन्तन में शताब्दियों से अभिशप्त मनुष्यता के विराट् अंश की आशाएँ, आकांक्षाएँ, उसके अपने सुख-दुःख ही मुख्यतः प्रतिबिम्बित हुए हैं।

1.3.2.1. व्यक्तित्व

विलियम वर्ड्सवर्थ का जन्म 1770 ई. में हुआ। बचपन से ही कविताओं में उनकी विशेष रुचि थी। उन्होंने अपना काव्य-जीवन सहज प्राकृतिक वातावरण का सान्निध्य प्राप्त करके ही आरम्भ किया था। बीस वर्ष की उम्र में उन्होंने फ्रांस, इटली और आल्प्स पर्वत की पैदल यात्रा की। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के परिणामों से वे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। क्योंकि, फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने मानवमात्र की समानता की घोषणा की थी। इस तरह ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से वे एक नये आन्दोलन के सिद्धान्तकार बने।

1.3.2.2. कृतियाँ

अपने रचनात्मक दौर में विलियम वर्ड्सवर्थ की रचनाओं पर बेकन-लॉक-हार्टली की वैज्ञानिक परम्परा का गहरा असर था। पाश्चात्य साहित्य के स्वच्छन्दतावादी कवियों में उनकी विशिष्ट प्रसिद्धि है। 'पोइटिकल

स्केचेज़' (1793) उनकी पहली काव्य पुस्तक है। कॉलरिज के साथ 'लिरिकल बैलेड्स' उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है जिसका प्रकाशन वर्ष 1798 ई. में हुआ। 1815 ई. तक आते-आते इस महत्त्वपूर्ण कृति के चार संस्करण प्रकाशित हुए। स्मरणीय है कि 'लिरिकल बैलेड्स' की सम्पूर्ण भूमिका 'एडवरटिजमेंट' नामक शीर्षक के अन्तर्गत अकेले विलियम वर्ड्सवर्थ ने ही लिखी थी। उनकी कुछ कविताएँ, खासकर प्रगीत, विश्वसाहित्य की अनुपम निधि हैं। कालान्तर में उनके द्वारा लिखित 'प्रिफेस टू लिरिकल बैलेड्स' का पाश्चात्य आलोचना साहित्य में विशिष्ट स्थान है। प्रिफेस के प्रत्येक संस्करण में वर्ड्सवर्थ ने काव्य-विषय और काव्यभाषा पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करके परम्परागत आधार को जोरदार ढंग से खण्डित किया है और काव्य की परिभाषा, विषयवस्तु, प्रयोजन तथा भाषा पर अपने नवीन विचारों की स्थापना की है।

1.3.3. विलियम वर्ड्सवर्थ का काव्य-चिन्तन

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में ड्राइडन आदि कवियों की काव्य-शैली रूढ़ और अनुपयोगी हो गई थी। विलियम वर्ड्सवर्थ ने परम्परागत शैली का तीव्र व सार्थक विरोध किया है। तत्युगीन फ्रांस की राज्यक्रान्ति और अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध की यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति जैसी युगान्तकारी वैश्विक घटनाओं का उनके काव्य-चिन्तन पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आधुनिक युग में जिस प्रकार टी. एस. एलियट और एजरा पाउण्ड ने बोलचाल की भाषा के प्रयोग का समर्थन किया, वैसे ही विलियम वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्राकृतिक और स्वाभाविक भाषा-शैली का समर्थन किया है। यही कारण है कि उन्होंने काव्यगत युक्तियों, मानवीकरण, वक्रोक्ति तथा पौराणिक दन्तकथाओं, भावाभास आदि को काव्य के लिए उपयुक्त नहीं माना। अट्ठारहवीं शती में नवआभिजात्यवादी युग में भाषा के निम्न व उच्च दो रूप प्रचलन में थे। दैनिक जीवन की भाषा को निम्न माना जाता था जबकि दूसरी उच्च भाषा कृत्रिम, बोझिल और आडम्बरपूर्ण हो गई थी। विलियम वर्ड्सवर्थ ने कृत्रिम भाषा का परित्याग करके सरल जनभाषा के प्रयोग पर बल दिया।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन के निहितार्थ अपने प्रसिद्ध आमुख में विलियम वर्ड्सवर्थ ने मुख्यतः दो विषयों पर विस्तार से विवेचन किया है – काव्यभाषा और कविता की परिभाषा। इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने जहाँ एक ओर कविता के उद्भव, स्वरूप और प्रयोजन पर व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरी ओर कविता और छन्द, कवि का स्वरूप, कविता और विज्ञान जैसे विषयों पर भी अपनी संक्षिप्त मान्यताएँ अभिव्यक्त की हैं।

1.3.3.1. कविता की परिभाषा

प्रारम्भिक पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में काव्य की प्रकृति और स्वरूप पर विचार करते समय घटनाओं और स्थितियों पर यानी कथानक पर विशेष बल देने की परम्परा की जानकारी मिलती है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि कथानक त्रासदी की आत्मा है। कथानक का सम्बन्ध संरचना से है और संरचना वैचारिकता से सम्बन्धित है। अस्तु,

आरम्भिक चिन्तन में तर्क और नियमों को विशेष माना गया और कविता को इसी सन्दर्भ में देखने की परम्परा विकसित हुई। लेकिन अट्ठारहवीं शती के अन्त तक आते-आते काव्य-विवेचन की परम्परागत शैली का लगभग अवसान हो चुका था। विलियम वर्ड्सवर्थ जैसे स्वच्छन्दतावादी विचारकों ने कविता को 'तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छालन' कहकर काव्य में नियम व तर्क की बजाय भाव और स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मकता पर बल दिया। 'लिरिकल बैलेड्स' में संगृहीत कविताओं का वैशिष्ट्य रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है – "एक अन्य कारण भी है जो इन कविताओं को आज की लोकप्रिय कविताओं से अलग करता है और वह यह कि उनमें जो भाव व्यक्त किए गए हैं वे स्थिति व कार्यव्यापार को महत्ता प्रदान करते हैं, स्थिति और कार्यव्यापार भाव को नहीं।"

अपने आमुख में विलियम वर्ड्सवर्थ ने कविता को परिभाषित किया है। उनकी दृष्टि में हमारे भावों का सतत अन्तःप्रवाह हमारे विचारों से संशोधित और निर्देशित होता रहता है और ये विचार भी वस्तुत: अतीत की हमारी सम्पूर्ण भावनाओं के प्रतिनिधि हैं। इसलिए वे काव्य में भाव और विचार के सामंजस्य की महत्ता स्थापित करते हैं। कविता को परिभाषित करते हुए उन्होंने यह स्थापना की है – "कविता तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छलन है। शान्ति के क्षणों में भाव के पुनर्स्मरण से इसका उदय होता है। भाव के अनुचिन्तन के क्रम में एक विशेष प्रकार की अभिक्रिया द्वारा प्रशान्तता धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है और पुनः वैसी ही भावोद्दीप्त मनोदशा उत्पन्न हो जाती है जैसे कि आरम्भ में हुई थी। यह मनःस्थिति कुछ देर तक बनी रहती है। इसी मनोदशा में सफल रचना की शुरुआत होती है और ऐसी ही मनोदशा में यह प्रक्रिया जारी रहती है। किन्तु भाव चाहे जिस प्रकार के हों और चाहे जिन कारणों से उत्पन्न हों, वे आनन्द के विभिन्न रूपों से संचालित रहते हैं और उनका वर्णन करते समय मन भी कुल मिलाकर आनन्दानुभूति की स्थिति में रहता है।" विलियम वर्ड्सवर्थ कविता के स्वरूप की विवेचना के अनुक्रम में काव्य-रचना-प्रक्रिया का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार काव्य-रचना-प्रक्रिया के तीन चरण हैं – भावों का सहज उच्छलन, शान्ति के क्षणों में उसका पुनर्स्मरण और कविता में उसकी अभिव्यक्ति।

कविता को भावों का सहज उच्छलन मानकर वर्ड्सवर्थ ने कविता में भावों को प्राथमिक महत्त्व दिया है। चूँकि, नव्यशास्त्र में तर्क और शास्त्रीय नियमों को ही सब कुछ मान लिया गया था इसलिए उन्होंने अपने काव्य-विवेचन में एक प्रकार से नव्यशास्त्रवादी सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत करते हुए 'स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मकता' को प्रतिष्ठित किया। उनकी प्रबल धारणा है कि उत्कट भावानुभूति के लिए साहित्यकार में भावुकता का गुण अपेक्षित है और इस गुण के अभाव में कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता है। वस्तुतः काव्य-रचना की प्रक्रिया के तीनों में चरणों में 'भावानुभूति' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोपान है, क्योंकि यदि शुरू में कवि के मन में भाव का उदय नहीं होगा तो शान्ति के क्षणों में न तो उसका पुनर्स्मरण सम्भव है और न ही काव्य के रूप में उसकी अभिव्यक्ति।

यह निर्विवाद तथ्य है कि कविता का जन्म 'भावानुभूति' से होता है। अच्छी कविता केवल जन्म ही नहीं लेती अपितु वह कवि से अलग होकर सहृदय समाज में सम्प्रेषित भी होती है। इस सन्दर्भ में चूँकि भाव विशिष्ट होता है और विचार सामान्य, इसलिए भाव के साथ विचार का संश्लेषण भी आवश्यक होता है। इस आधार पर विलियम वर्ड्सवर्थ ने यह मत स्थापित किया है कि रचना-प्रक्रिया के पहले (मनोवेगों के सहज उच्छलन) और

दूसरे (शान्ति के क्षणों में भावों के पुनर्स्मरण) चरणों के बीच एक अन्तराल होना चाहिए। यह अन्तराल भी एक प्रकार से रचना-प्रक्रिया का ही अंग है। कहना सही होगा कि अन्तराल के दौरान कवि एक प्रकार के चयन या संग्रह-त्याग की सहज प्रक्रिया से होकर गुजरता है। इसमें चयन की दिशा सामान्यतया सार्वभौमिकता की ओर होती है। और, इस पूरी अवधि (अन्तराल) में कवि चिन्तन-मनन द्वारा अपनी वैयक्तिक भावानुभूति को निर्वैयक्तिक बनाता है।

मनोवेगों का सहज उच्छलन एक अचेतन प्रक्रिया है जबकि शान्ति के क्षणों में भावों का पुनर्स्मरण सचेतन। सतही तौर पर इन दोनों कथनों में एक प्रकार का अन्तर्विरोध दिखाई देता है, लेकिन यह अन्तर्विरोध वास्तविक न होकर प्रतीयमान है। क्योंकि, ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। भाव के पुनर्स्मरण और उसके अनुचिन्तन की प्रक्रिया में पुनः वैसी ही भावोद्दीप्त मनोदशा उत्पन्न होती है जैसी आरम्भ में हुई थी। मूल मनोदशा और इस मनोदशा में अन्तर यह है कि इसमें भावानुभूति के नितान्त वैयक्तिक और असंगत पहलू हटा दिए जाते हैं। इसी मनोदशा में सफल रचना का निर्माण होता है तथा सृजन का वास्तविक क्षण भी यही है। सृजन के इस क्षण में साहित्यकार आनन्दानुभूति की स्थिति में रहता है। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि चित्रित भाव सुखात्मक है या दुःखात्मक।

काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में विलियम वर्ड्सवर्थ के चिन्तन में एक नैतिक धारा परिलक्षित होती है। उनके अनुसार आनन्द तो काव्य का मुख्य प्रयोजन है, लेकिन उसे लोकमंगल का साधक भी होना चाहिए। काव्य के महत्त्व का निर्धारण इस आधार पर होना चाहिए कि पाठक पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। कविता के लिए यह अपेक्षित है कि वह हमें उचित भावों और सही किस्म की जागरूकता की दिशा में अभिप्रेरित करे। समाज में कवि की भूमिका को लेकर विलियम वर्ड्सवर्थ बहुत सचेत हैं। उनके अनुसार सहृदय कवि में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं –

(i) अन्य लोगों की तुलना में वह अधिक संवेदनशील होता है।
(ii) मानवीय प्रकृति व स्वभाव के विषय में उसकी जानकारी अधिक गम्भीर होती है।
(iii) उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है।
(iv) अपने अन्तर्मन में विद्यमान जीवनरस में वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक आनन्द का अनुभव करता है।
(v) वह अप्रस्तुत वस्तुओं से ऐसे प्रभावित होता है जैसे कि वे प्रस्तुत हों।
(vi) भाषा पर उसका ऐसा अधिकार होता है कि वह जो कुछ सोचता और अनुभव करता है उसे भली-भाँति अभिव्यक्त भी कर सकता है।

काव्य-प्रतिपाद्य के आलोक में विलियम वर्ड्सवर्थ का स्पष्ट मानना है कि कवि केवल कवियों के लिए ही नहीं लिखते हैं, अपितु मानव मात्र हेतु लिखते हैं। कविता सम्पूर्ण ज्ञान का आदि और अन्त है और यह मानव मन के समान ही अमर है। काव्य का यही सर्वव्यापी आकर्षण है जो उसे विज्ञान से पृथक् करता है। वैसे तो कवि और

वैज्ञानिक दोनों का ही लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति है और दोनों का ही ज्ञान आनन्द रूप है किन्तु कवि का ज्ञान जहाँ हमारे अस्तित्व का अनिवार्य अंग है और हमारी स्वाभाविक विरासत प्रतीत होता है, वहीं वैज्ञानिक का ज्ञान वैयक्तिक उपलब्धि है। इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि विलियम वर्ड्सवर्थ सामान्य तौर पर विज्ञान की सशर्त उपेक्षा नहीं करते थे। उनके अनुसार यदि विज्ञान वैयक्तिक लाभ की वस्तु न रहे और मानवता की सेवा करे तो वह अनुकरणीय है। इस प्रकार वे एक ऐसे युग की परिकल्पना करते हैं जब विज्ञान भी सामान्य मानवजीवन को प्रभावित करेगा और तब ज्ञान की इस शाखा के प्रति भी कवि उदासीन नहीं रहेगा।

1.3.3.2. काव्यभाषा का अर्थ व विकास

अठ्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एडिसन, डॉ० जॉनसन, ग्रे आदि जैसे विचारकों ने यह अभियान चलाया कि कविता की भाषा विशिष्ट होनी चाहिए। उन्होंने यह विचार अभिव्यक्त किया कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका केवल या विशेष रूप से कविता में प्रयोग किया जाता है। सही अर्थों में काव्यभाषा या 'पोइटिक डिक्शन' का विकास इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हुआ। और, इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत कुछ शब्दों को ही काव्यात्मक मान लिया गया और यह मत स्थापित किया गया कि कवि परम्परा में ऐसे शब्दों को चुन-चुनकर उनका प्रयोग किया जाना चाहिए। 'काव्यभाषा' पदबंध का सर्वप्रथम प्रयोग करते हुए प्रसिद्ध कवि पोप ने 'इलियड' के आमुख में लिखा है – "हम उसे (होमर) काव्यभाषा का जनक मानते हैं। वह पहला व्यक्ति था जिसने मनुष्यों को देवों की भाषा का ज्ञान कराया।" इस प्रकार काव्यभाषा का दिव्य होने के कारण उसका बल आलंकारिकता और अभिव्यक्ति-कौशल पर था। यही कारण है कि विलियम वर्ड्सवर्थ जैसे कवि नव्यशास्त्रवादी दौर की कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण 'काव्यभाषा' का सार्थक व तार्किक खण्डन करते हैं। अपनी पूरी काव्य-चिन्तन की प्रक्रिया के केन्द्र में उनका अभिजात वर्ग और अभिजातवर्गीय संस्कृति के प्रति विरोध सहज ही परिलक्षित होता है।

विलियम वर्ड्सवर्थ के पूर्ववर्ती नव्यशास्त्रवाद साहित्यिक अनुभव की संकीर्णता पर आधारित था। पुनर्जागरणकालीन इटली और सत्रहवीं शती के फ्रांस में अरस्तूवाद का तीव्र प्रचलन था और तत्युगीन विचारक काव्य की प्राचीन सैद्धान्तिक मान्यताओं को कालजयी मानते थे। मानव स्वभाव की विविधताओं की उपेक्षा करके उन्होंने यह मत स्थापित किया कि मानवीय प्रकृति हर जगह एक जैसी है। वास्तव में वे यह समझ नहीं सके कि सार्वभौम मानव एक विशिष्ट देशकाल व वातावरण से भी जुड़ा हुआ होता है।

1.3.3.3. काव्यभाषा की अवधारणा

विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्यभाषा चिन्तन के आलोक में सबसे पहले भाषा की कृत्रिमता के स्थान पर सरलता को शैलीगत सौन्दर्य माना। उनकी दृढ़ मान्यता है कि शब्द अपने आप में काव्यात्मक या अकाव्यात्मक नहीं होते, अपितु भाषा में प्रयोग के आधार पर वे अपना स्वरूप निर्धारित करते हैं। वस्तुतः उनके समय में अलंकृत भाषा के यान्त्रिक अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत प्रबल थी। काव्यभाषा में कृत्रिमता का समावेश और मनुष्य की यथार्थ भाषा से उसके अलगाव की प्रक्रिया आदि जैसे महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर उन्होंने सविस्तार चर्चा की है।

उदाहरण के तौर पर 'लिरिकल बैलेड्स' के तृतीय संस्करण में विलियम वर्ड्सवर्थ लिखते हैं – "सभी देशों के आरम्भिक कवियों ने सामान्यतः यथार्थ की घटनाओं से प्रेरित होकर काव्य-रचना की थी। उन्होंने जो कुछ लिखा वह साधारण मनुष्यों के रूप में और एकदम स्वाभाविक ढंग से। चूँकि उनकी अनुभूति और भाव प्रबल थे, इसलिए उनकी भाषा भी प्रभावपूर्ण ओर अलंकृत हो गई। इस भाषा का प्रभाव देखकर परवर्ती कवियों और यशलोलुपजनों ने, वैसे भावों से अनुप्राणित हुए बिना ही, वही प्रभाव उत्पन्न करना चाहा। फल यह हुआ कि उन अलंकारों का यान्त्रिक प्रयोग ही हो पाया। कभी-कभी तो यह प्रयोग उचित भी हुआ, किन्तु ऐसे भावों और विचारों के लिए उनका प्रयोग किया गया जिनसे उनका कोई सहज सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार अनजाने ही एक ऐसी भाषा निर्मित हो गई जो हर हालत में मनुष्यों की यथार्थ भाषा से तत्त्वत: भिन्न थी।" इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह कृत्रिम भाषा बोझिल और आडम्बरपूर्ण होती गई। वह सहज-सरल न रही और उसकी भावोद्दीपन क्षमता एकदम समाप्त हो गई। यही मूल कारण है कि विलियम वर्ड्सवर्थ जैसे विचारकों ने इस नवआभिजात्यवादी काव्यभाषा का त्याग कर प्राचीन कवियों की भाषाई परम्परा फिर से अपनाने का आग्रह किया है। विलियम वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा सम्बन्धी मान्यताओं के निम्नलिखित तीन आधार हैं –

(i) काव्यभाषा में ग्रामीण जनों की दैनिक बोलचाल की भाषा को आधार बनाने की वकालत करते हुए उन्होंने ग्रामीण जीवन का समर्थन किया है। उनका मानना है कि ग्रामीण अपनी निम्न स्थिति के कारण सामाजिक गर्व से मुक्त होकर सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति करते हैं। उनकी वाणी में सत्यता तथा भावों में सरलता होती है।

(ii) विलियम वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि गद्य-पद्य में या गद्य और छन्दोबद्ध रचना में कोई तात्त्विक भेद नहीं हो सकता। उनकी भाषासम्बन्धी इस अतिवादी मान्यता का परम्परा तथा वास्तविकता के साथ स्पष्ट विरोध है। गद्य-पद्य का अन्तर केवल छन्द के कारण नहीं होता, अपितु वाक्य-विन्यास, पद-चयन आदि की कारण से भी होता है।

(iii) विलियम वर्ड्सवर्थ कविता को छन्दमयी मानते हैं। उनका विचार है कि छन्द के कारण कवि को एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि वे भाषा की तरह छन्द के चुनाव पर भी बल देते हैं। उनकी मान्यता है कि छन्द मनमाना न होकर उपयुक्त, नियमबद्ध और सुनिश्चित होना चाहिए। यद्यपि वे छन्द को कविता के लिए अनिवार्य नहीं मानते, तथापि छन्द की महत्ता, शक्ति और प्रभाव को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में छन्द से विषय सम, सन्तुलित और आनन्दप्रद बन जाता है। उन्होंने कविता के लिए छन्द को अनिवार्य न मानकर कविता का एक ऐसा गुण स्वीकार किया है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

1.3.4. विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्य-चिन्तन का अनुशीलन

विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्य-चिन्तन, विशेषतः भाषाविषयक स्थापनाओं से उनके युग के साहित्यकार और आलोचक सहमत नहीं थे। उदाहरण के तौर पर सुप्रसिद्ध आलोचक कॉलरिज ने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में वर्ड्सवर्थ की मान्यताओं की तीखी आलोचना की है। 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के अध्याय 17 से लेकर

अध्याय 20 तक के चार अध्यायों में कॉलरिज ने एक-एक मान्यता पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। इनके अन्तर्गत वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा विषयक मान्यताओं की आलोचना के अधिकांश पहलू आ जाते हैं। अवलोकन कीजिए –

(i) विलियम वर्ड्सवर्थ ने ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध विषयों के लिए ग्रामीण भाषा के प्रयोग को वांछनीय स्वीकार किया था। कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ की ग्रामीण भाषाविषयक इस अवधारणा को अनुपयुक्त बताते हुए स्पष्ट किया है कि काव्यभाषा भावों और अनुभूतियों का सम्प्रेषण करने में सक्षम होनी चाहिए। किन्तु ग्रामीण भाषा की शब्दावली अपर्याप्त होती है तथा उसमें व्यापक, सूक्ष्म व विविध अनुभूतियों का सम्प्रेषण सम्भव नहीं है। साथ-ही-साथ ग्रामीण भाषा का वस्तुज्ञान भी सीमित होता है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि यद्यपि कॉलरिज के विचार तर्कसंगत हैं, फिर भी विलियम वर्ड्सवर्थ भाषा के दुराग्राही नहीं थे और उनका कथन केवल 'लिरिकल बैलेड्स' की कविताओं के परिप्रेक्ष्य में ही था। उन्होंने 'प्रिफेस' में 'यथासम्भव' कहकर ग्रामीण भाषा की उपादेयता मात्र स्वीकार की है।

(ii) वर्ड्सवर्थ 'मनुष्यों की वास्तविक भाषा' की बात करते हैं। कॉलरिज ने इस विचार के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हुए यह तर्कविधान किया है कि प्रत्येक मनुष्य की भाषा उसके ज्ञान, क्रिया, संवेदना के अनुसार अलग-अलग होती है। शिक्षित और अशिक्षित दोनों को ही अपनी-अपनी भाषा की आवश्यकता होती है। वस्तुतः मनुष्य की भाषा को वैयक्तिक, सामाजिक तथा शब्दों व मुहावरों की विशेषताएँ नियन्त्रित करती हैं। इसलिए काव्यभाषा में स्वाभाविक भाषा का प्रयोग अनुचित है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि विलियम वर्ड्सवर्थ ने सीमित उद्देश्य व परिप्रेक्ष्य में ही अपना विचार प्रस्तुत किया था।

(iii) विलियम वर्ड्सवर्थ ने ग्रामीण भाषा के दोषों को दूर करके उसे काव्य में प्रयुक्त करने की बात स्वीकार की है जिससे अरुचि और जुगुप्सा पैदा करने वाले तत्त्व भाषा में न रहें। कॉलरिज का कथन है कि जब भाषा को ग्रामीण दोषों से मुक्त करके परिष्कृत बना दिया, तब वह भाषा ग्रामीण कैसे हो सकती है। लेकिन, इस सम्बन्ध में तो यह माना ही जा सकता है कि वर्ड्सवर्थ ने परिष्कृत ग्रामीण शब्दावली की बात की है तथा उन्होंने ऐसा करके एक तरह से ग्रामीण भाषा के प्रति कवियों का रुझान पैदा किया था।

(iv) विलियम वर्ड्सवर्थ की 'तीव्र अनुभूति की दशा' वाले विचार से भी कॉलरिज सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि भाव की उष्मा विचारों या बिम्बों में चाहे जो भी अभिनव सम्बन्ध स्थापित करे या सत्य अथवा अनुभूति का जो भी साधारणीकरण करे, उसके सम्प्रेषक शब्द तो बोलचाल में पहले से ही विद्यमान रहते हैं, असाधारण उत्तेजना से वे समुद्रित हो जाते हैं। वस्तुतः यहाँ भी वर्ड्सवर्थ की भावनाओं और विचारों की उपेक्षा दिखाई देती है। उन्होंने यह नहीं कहा था कि भाव की उत्तेजना और अनुभूति की तीव्रता शब्दाडम्बर को प्रभावित करती है। उनका आशय था कि अनुभूति की तीव्रता की दशा में प्रयुक्त शब्द अपेक्षाकृत शक्तिशाली और प्रभावशाली होते हैं।

(v) विलियम वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रयुक्त शब्द 'एशेंसल' का विश्लेषण करते हुए कॉलरिज ने यह मत प्रकट किया है कि "मैं अपने प्रमाण में प्रत्येक देश और प्रत्येक युग के सर्वश्रेष्ठ कवियों के प्रयोगों की ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ कि अनिवार्य शब्द के प्रत्येक अर्थ में गद्य और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में सचमुच अनिवार्य भेद हो सकता है और होना चाहिए ।" विवेचात्मक सन्दर्भ में यदि विलियम वर्ड्सवर्थ की गद्य-पद्य की भाषा में अभेद की स्थापना पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उनका कथन 'सत्य' के बहुत निकट है। उदाहरण के तौर पर बाणभट्ट के गद्य और कालिदास के पद्य द्रष्टव्य हैं । जैसा कि संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति', विलियम वर्ड्सवर्थ भी उत्तम गद्य की भाषा के लिए ऐसा ही मत प्रकट करते हैं।

1.3.5. सारांश

विलियम वर्ड्सवर्थ अपने काव्यशास्त्रीय चिन्तन के अनुक्रम में प्राचीन मान्यताओं को ग्रहण करते हुए उन्हें नया स्वरूप प्रदान करने की सार्थक चेष्टा करते हैं। नव्यशास्त्रवादियों की भाँति उन्होंने काव्य में प्रकृति का अनुकरण नवीन अर्थों में स्वीकार किया है । उन्होंने 'कल्पनाशक्ति' पर विशेष बल दिया है जिसके द्वारा कवि ब्रह्माण्ड की एकता का अनुभव करता है। शैली की शुद्धता तथा अलंकृत भाषा के स्थान पर उन्होंने अन्तःस्फूर्त भावों से सहज उच्छलन को बल देकर रोमानी आलोचना का प्रवर्तन किया है। उन्होंने काव्य-चिन्तन व निर्माण की प्रक्रिया के आधार पर काव्य का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया तथा कविता में निहित भाव-तत्त्व की प्रतिष्ठा कर काव्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पर बल दिया है।

1.3.6. शब्दावली

कथानक	:	कथावस्तु
कृत्रिम	:	बनावटी, अप्राकृतिक
अभिजात	:	उच्च वर्ग
संकीर्णता	:	तुच्छता
अभिनव	:	नया

1.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
6. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

1.3.8. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विलियम वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा विषयक स्थापनाओं का उल्लेख कीजिए।
2. 'तीव्र अनुभूति की दशा' से विलियम वर्ड्सवर्थ का क्या अभिप्राय है ?
3. "ग्रामीण भाषा का वस्तुविधान सीमित होता है।" टिप्पणी कीजिए।
4. "कवि अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक संवेदनशील होता है।" कैसे ? समझाइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "काव्य में भाव और विचार के सामंजस्य ही महत्ता स्थापित करते हैं।" इस कथन के आलोक में विलियम वर्ड्सवर्थ के मतों का परीक्षण कीजिए।
2. "विलियम वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रस्तुत 'प्रिफेस' में महाकवि की अन्तर्दृष्टि है।" स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. विलियम वर्ड्सवर्थ का जन्म किस वर्ष हुआ ?

(क) 1770
(ख) 1780
(ग) 1790
(घ) 1800

2. 'लिरिकल बैलेड्स' का प्रकाशन कब हुआ ?

(क) 1797
(ख) 1798
(ग) 1799
(घ) इनमें से कोई नहीं

3. "कविता तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छलन है।" यह मत किस विचारक का है ?

(क) प्लेटो
(ख) अरस्तू
(ग) लोंजाइनस

(घ) विलियम वर्ड्सवर्थ

4. विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्य-रचना-प्रक्रिया के कितने चरणों का उल्लेख किया है ?

(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) पाँच

5. विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्यभाषा सम्बन्धी विचारों के आलोचक हैं –

(क) कॉलरिज
(ख) रिचर्ड्स
(ग) एलियट
(घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : प्रमुख विचारक – 1

इकाई – 4 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक सैम्युअल टेलर कॉलरिज

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य कथन
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. सैम्युअल टेलर कॉलरिज : व्यक्ति परिचय
 1.4.2.1. व्यक्तित्व
 1.4.2.2. कृतियाँ
1.4.3. सैम्युअल टेलर कॉलरिज का काव्य-चिन्तन
 1.4.3.1. काव्य की परिभाषा
 1.4.3.2. काव्य और छन्द
 1.4.3.3. काव्य और भाषा
 1.4.3.4. कल्पना सिद्धान्त
1.4.4. सैम्युअल टेलर का काव्यशास्त्रीय अवदान
1.4.5. सारांश
1.4.6. शब्दावली
1.4.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.4.8. सम्बन्धित प्रश्न

1.4.0. उद्देश्य कथन

स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तकों में विलियम वर्ड्सवर्थ के साथ सैम्युअल टेलर कॉलरिज का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इन दोनों विचारकों के प्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशनकाल वर्ष सन् 1978 ई. से पाश्चात्य साहित्य-परम्परा में 'स्वच्छन्दतावाद' का आरम्भ माना जाता है। प्रस्तुत इकाई में सैम्युअल टेलर कॉलरिज के काव्यशास्त्रीय योगदान की चर्चा की गई है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. स्वच्छन्दतावादी काव्य-सिद्धान्तों के आलोक में सैम्युअल टेलर कॉलरिज के युगान्तकारी योगदान की चर्चा कर सकेंगे।
ii. सैम्युअल टेलर कॉलरिज के काव्य-चिन्तन के आलोक में काव्य की परिभाषा, काव्य और छन्द, काव्य और भाषा से परिचित हो सकेंगे।
iii. सैम्युअल टेलर के कल्पना सिद्धान्त की व्याख्या कर सकेंगे।
iv. सैम्युअल टेलर कॉलरिज के काव्यशास्त्रीय अवदान का विश्लेषण कर सकेंगे।

1.4.1. प्रस्तावना

स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तन की आधारभूमि सामाजिक यथार्थ और साहित्य का सामाजिक सन्दर्भ है। पाश्चात्य आलोचना-परम्परा में काव्य की आत्मा, काव्य के तत्त्व, काव्य के प्रेरक उपकरण, काव्य का प्रयोजन, काव्य एवं कला का स्वरूप, काव्यभाषा और रचना-प्रक्रिया पर विचारशीलता के नये आयाम उद्घाटित हुए हैं। विदित है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय विकासक्रम में अठ्ठारहवीं सदी के अन्त तक परम्परागत प्रतिमानों की चमक फीकी पड़ चुकी थी। वास्तव में परम्परागत मान्यताओं के आधार पर पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की परख नहीं की जा सकती थी। ऐसे में सैम्युअल टेलर कॉलरिज और विलियम वर्ड्सवर्थ का स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में आगमन हुआ। ये दोनों चूँकि समसामयिक थे और उनकी काव्य-चेतना का विकास साथ-साथ हुआ था इसलिए उनका परिवेश भी प्रायः एक जैसा था। अपनी साहित्यिक चेतना के विकास के प्रारम्भिक चरण में विलियम वर्ड्सवर्थ की भाँति सैम्युअल टेलर कॉलरिज पर भी फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। उनकी मौलिक चेतना, निबन्ध व काव्यशास्त्रीय चिन्तन कई अर्थों में अद्वितीय हैं।

1.4.2. सैम्युअल टेलर कॉलरिज : व्यक्ति परिचय

काव्य सत्ता को उसी के भीतर से पहचानने और परखने का प्रयास पश्चिमी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत पहली बार स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के अन्तर्गत ही हुआ। इस सन्दर्भ में सैम्युअल टेलर कॉलरिज का प्रदेय विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपना जीवन एक कवि के रूप में शुरू किया था, लेकिन बहुत जल्दी ही वे काव्य-रचना से विरक्त होकर दर्शन, मनोविज्ञान और साहित्य-समीक्षा की ओर अभिप्रेरित हो गए। उनका अध्ययन विस्तृत एवं व्यापक था। उस समय तक ज्ञान-विज्ञान का शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र था जिसमें सैम्युअल टेलर कॉलरिज की समझ न हो। उनके व्यक्तित्व में रचनात्मक अन्तर्दृष्टि का उन्मेष सहज ही देखा जा सकता है।

1.4.2.1. व्यक्तित्व

सैम्युअल टेलर कॉलरिज का जन्म 1772 ई. में हुआ। वे बचपन से ही चिन्तनशील प्रकृति के थे। उनकी आरम्भिक शिक्षा क्राइस्ट्स हॉस्पिटल में पूरी हुई। पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में ही कॉलरिज की तत्त्वमीमांसा और धर्मशास्त्रीय विवादों में गहरी अभिरुचि थी। आगे चलकर वर्ष 1791 ई. में उन्होंने सुविख्यात जेसस कॉलेज कैंब्रिज में प्रवेश लिया और लोकतन्त्र, गणतन्त्रवाद, मानव प्रेम, समतामूलक राजव्यवस्था और बन्धुत्व आदि के बारे में अपने क्रान्तिकारी विचारों को खुले तौर पर अभिव्यक्त करना आरम्भ कर दिया। हालाँकि, यह दौर अधिक समय तक नहीं चला। महज तीन साल बाद यानी 1794 ई. में ही वैचारिक मतभेदों के चलते स्नातक की उपाधि लिए बिना ही उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ दिया। समय बीतने के साथ-साथ राजनीति, धर्म, दर्शन आदि के बारे में उनके विचारों में बदलाव आया। पहले वे न्यूटन, बेकन, लॉक, हार्टले आदि विचारकों के भौतिकवादी-अनुभववादी दर्शन से प्रभावित हुए तो बाद में उन्होंने इमैनुएल कांट, शेलिंग, फिक्टेक आदि जर्मन दार्शनिकों के

विचारों का विस्तार से अध्ययन किया। जर्मनी के भाववादी दर्शन का भी उनके चिन्तन व व्यक्तित्व पर गहरा असर था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में गम्भीरता, दुरूहता तथा विशृंखलता के दर्शन एक साथ होते हैं।

1.4.2.2. कृतियाँ

सैम्युअल टेलर कॉलरिज मूलतः एक कवि नहीं, बल्कि आलोचक हैं। उन्होंने बहुत निकट तक आलोचना को दर्शन और मनोविज्ञान से सम्बद्ध किया है। रोमांटिक युग के महान् कवि और दार्शनिक के रूप में भी उनका चिन्तन अभूतपूर्व है। 'फ्रांस ऐन ओड', 'फियर्स इन सॉलिच्यूड' कॉलरिज की उल्लेखनीय कविताएँ हैं। विलियम वर्ड्सवर्थ के साथ उनकी कृति (काव्य-संग्रह) 'लिरिकल बैलेड्स' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इस संग्रह में संकलित कुल तेईस कविताओं में चार कविताएँ टेलर कॉलरिज की हैं।

'लिरिक' या प्रगीत का सम्बन्ध स्वच्छन्दतावाद से जोड़ा जाता है। 'बैलेड' यानी गाथागीत शेक्सपीयर और उसके पूर्ववर्ती युग का लोकप्रिय काव्यस्वरूप था जो कि लोकपरम्परा में विकसित हुआ था। इस तरह 'लिरिकल बैलेड्स' शीर्षक में ही यह अभिव्यंजना है कि इस संग्रह के माध्यम से वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज जहाँ एक ओर 'लिरिक' कविता का विकास कर रहे थे तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध प्राचीन लोकसाहित्य से भी जोड़ रहे थे।

सैम्युअल टेलर कॉलरिज की आलोचनात्मक कृतियों में सबसे रेखांकनीय रचना 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' (1817) है जिसे पाश्चात्य साहित्य में 'आलोचना की सबसे महान् पुस्तक' की संज्ञा दी गई है। इसमें दर्शन और साहित्य-समीक्षा का मणिकांचन संयोग परिलक्षित होता है। सेंट्सबरी जैसे सुप्रसिद्ध इतिहासकार कॉलरिज को अरस्तू और लोंजाइनस के बाद सबसे बड़ा विचारक घोषित करते हैं।

1.4.3. सैम्युअल टेलर कॉलरिज का काव्य-चिन्तन

सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने दर्शन और तत्त्व-चिन्तन के आधार पर अपने काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना की है। उसके विचार में संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय या विचार हैं और जगत् विषयकृत ब्रह्म है। ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना के द्वारा होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कॉलरिज के काव्य-चिन्तन पर जर्मन दार्शनिकों का प्रभाव है, किन्तु कॉलरिज ने उनकी नकल नहीं की है। जर्मन विचारकों के सिद्धान्तों को आत्मसात् करके कॉलरिज ने उसे पूरी मौलिकता के साथ अपने चिन्तन में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। कॉलरिज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन की समग्रता को काव्य की परिभाषा, काव्य और छन्द, काव्य और भाषा तथा कल्पना सिद्धान्त के आलोक में समझा जा सकता है।

1.4.3.1. काव्य की परिभाषा

कविता को समझने के लिए आलोचना आधुनिक काल की देन है। (पाश्चात्य) स्वच्छन्दतावादी युग में कॉलरिज जैसे समीक्षकों ने काव्य-सर्जना के मूल्यांकन हेतु परम्परागत समीक्षा-पद्धति से अलग प्रतिमान दिए। साथ ही परम्परागत प्रतिमानों को नये सन्दर्भों में जाँचा-परखा। कविता और समीक्षा का समूचा ताना-बाना अपने शिखरपुरुष कॉलरिज के सृजनशील व्यक्तित्व और सिद्धान्तों के इर्द-गिर्द बुना गया तो तत्कालीन समीक्षकों को काव्य-समीक्षा की नयी जमीन तैयार करनी पड़ी।

काव्य-चिन्तन के सन्दर्भ में सैम्युअल टेलर कॉलरिज गद्य और कविता दोनों के लिए एक ही माध्यम की स्थापना करते हैं और दोनों ही माध्यम रूप में वे शब्दों का प्रयोग करते हैं। हालाँकि, दोनों में अन्तर है। दोनों अपने-अपने प्रयोजन के अनुरूप शब्दों का प्रयोग समान ढंग से नहीं करते हैं, बल्कि अलग ढंग से करते हैं। इसी प्रयोजन के आधार पर अपनी महत्त्वपूर्ण रचना 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के अध्याय-14 में कविता को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है – "कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कालिक प्रयोजन आनन्द है, सत्य नहीं; और, रचना के अन्य सभी प्रकारों से इसका अन्तर यह है कि इसमें सम्पूर्ण से वही आनन्द प्राप्त होना चाहिए जो उसके प्रत्येक खण्ड (घटक) से प्राप्त होने वाले परितोष के अनुरूप हो।" इस प्रकार परिभाषा के प्रथम खण्ड में कॉलरिज ने रचनात्मक साहित्य और ज्ञान के साहित्य के बीच भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'काव्य' और 'शास्त्र' के बीच अन्तर किया है। एक का तात्कालिक प्रयोजन है जबकि दूसरे का आत्यन्तिक। काव्य का तात्कालिक प्रयोजन 'आनन्द' है, जबकि शास्त्र का आत्यन्तिक प्रयोजन 'सत्य' है।

परिभाषा के द्वितीय खण्ड में उन्होंने कविता और रचनात्मक साहित्य के अन्य प्रकारों (उपन्यास, नाटक आदि) में अन्तर स्पष्ट करते हुए कविता का वैशिष्ट्य रेखांकित किया है। वैसे आनन्द तो दोनों में समान है, किन्तु कविता में उसके प्रत्येक तत्त्व से स्पष्ट आनन्द की अनुभूति होगी और यह आनन्द कुल मिलाकर पूरी कविता के आनन्द के समान होगा। यहाँ पूरा फोकस रचना के गठन की पूर्णता और आवयविकता पर है। चूँकि, साहित्य की अन्य विधाएँ इतनी सुगठित नहीं होतीं, इसलिए कॉलरिज द्वारा सन्दर्भानुकूल यह मत सुनिश्चित किया गया है कि गद्य शब्दों का उत्तम क्रम विधान है, जबकि कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान है।

ध्यातव्य है कि 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के अध्याय-14 में ही कॉलरिज ने कविता में 'प्रगीत' तत्त्व पर बहुत बल दिया है और बारम्बार 'प्रगीतात्मकता' को कवित्व का पर्याय माना है। इसी तर्क के आधार पर वे काव्य के स्वरूप में लम्बी कविता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनकी दृढ़ मान्यता है कि लम्बी कविता पूरी-की-पूरी न तो कवित्वपूर्ण हो सकती है और न होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में उनका यह मत भी उल्लेखनीय है कि जिन अंशों में काव्यात्मकता नहीं है, उनमें छन्द की सहायता से काव्यात्मकता का पूर्ण संचार हो जाएगा और काव्य सर्वाधिक आनन्द तभी देता है जब उसे सामान्य तौर पर ही समझा जाए, न कि पूरी तरह। इस तरह कवि कर्म के आलोक में वे संश्लिष्टता और सम्पूर्णता पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करते हैं। उनकी नजर में कवि

कल्पनादर्शी न होकर संश्लिष्ट व्यक्तित्व का स्वामी होता है तथा अपने आदर्श रूप में वह मानव की सम्पूर्ण आत्मा को गतिशील करता है।

यथार्थ चित्रण के लिए भी काव्य में समग्र दृष्टि का होना आवश्यक माना जाता है। जैसा कि कॉलरिज की स्थापना में सब कुछ एक अनन्त गतिशील अमूर्तता है तथा सम्पूर्णता ही यथार्थ है। कविकर्म की आधारभूत शक्ति जो कि कल्पना है, उत्तरोत्तर यही समेकित दृष्टि हासिल करने के लिए निरन्तर संघर्ष करती रहती है। काव्य में विविधता के साथ-साथ एकता की मौजूदगी भी अति आवश्यक है। क्योंकि, एकता के अभाव में विविधता कोई समग्र प्रभाव नहीं छोड़ सकती।

कॉलरिज 'कविता' और 'कवि' की परस्परता को मौलिक ढंग से व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार कविता का सम्बन्ध कवि की प्रतिभा से जुड़ा हुआ है। उन्होंने महाकवि शेक्सपीयर की आरम्भिक कविता की दो पंक्तियों के आधार पर कवि की मौलिक प्रतिभा के लक्षणों को रेखांकित करने का प्रयास कियाहै –

(i) पद्य रचना के उत्कृष्ट माधुर्य को ही सैम्युअल टेलर कॉलरिज कवि की पहली मौलिक प्रतिभा मानते हैं क्योंकि जिस मनुष्य की आत्मा में संगीत नहीं है, वह कभी सच्चा कवि नहीं हो सकता। उन्होंने स्पष्ट किया है कि कविता का शिल्प तो निरन्तर अभ्यास से विकसित किया जा सकता है, लेकिन संगीतात्मक आनन्द की चेतना जो कि वैसा ही आनन्द उत्पन्न भी कर सके, प्रतिभा या कल्पना की देन है। इस प्रकार संगीतात्मक आनन्द के साथ ही अनेकता को एक समन्वित प्रभाव में ढालने, अनेक विचार शृंखलाओं को संशोधित करके एक मूल विचार या अनुभूति का अंग बनाने की प्रतिभा में सुधार-परिष्कार तो सम्भव है, लेकिन इसे सीखा नहीं जा सकता।

(ii) लेखक की निजी रुचियों तथा परिस्थितियों से सर्वथा दूरवर्ती विषयों का चयन काव्य-प्रतिभा का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण है। इस परिप्रेक्ष्य में 'कवि की एकदम निजी अनुभूतियाँ' साधारणीकरण की दिशा में अभिप्रेरित करती है और कवि सहज ही पाठक की सहानुभूति अर्जित कर सकता है।

(iii) कविता में बिम्ब प्रबल भाव का अंग बनकर ही प्रतिभा के निदर्शक बनते हैं। इसलिए बिम्ब में 'अनेकता में एकता' या 'अनुक्रम को क्षण' में बदलने की ताकत ही महत्त्वपूर्ण घटक और महत्त्वपूर्ण आयाम है। यही कारण है कि बिम्ब में सुन्दरता, अनुकरण तथा चित्रण का क्रम प्रबल भाव के बाद आता है।

(iv) वैचारिक गम्भीरता और ऊर्जस्विता को कॉलरिज ने मौलिक प्रतिभा का अन्तिम लक्षण माना है। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति गम्भीर दार्शनिक हुए बिना महान् कवि नहीं हुआ, क्योंकि कविता मानव के समस्त ज्ञान, भाव, विचार, मनोवेग और भाषा की सुगन्ध है।

1.4.3.2. काव्य और छन्द

सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने विलियम वर्ड्सवर्थ की काव्य और छन्द सम्बन्धी स्थापना की आलोचना करते हुए छन्द की उत्पत्ति और प्रभाव पर अपना मत प्रकट किया है। विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में छन्द का आकर्षण ऊपरी चीज है तथा यह काव्य हेतु अनिवार्य नहीं है। लेकिन अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के अट्ठारहवें अध्याय में कॉलरिज ने यह स्पष्ट किया है कि भाव की गतिविधियों को नियन्त्रण में रखने के सहज प्रयास के प्रभावस्वरूप जो मानसिक सन्तुलन आता है, उसी से छन्द की उत्पत्ति होती है। वे काव्य-प्रक्रिया की तरह छन्द का द्विपक्षीय विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जहाँ एक ओर उसका एक पक्ष स्वतःस्फूर्त है तो दूसरी ओर दूसरा पक्ष विवेक -नियन्त्रित होता है। चूँकि, छन्द का सम्बन्ध भावोद्दीप्त मनोदशा से है इसलिए उसमें एक प्रकार की सहजता होती है। कविता में कृत्रिम रूप से चेतन क्रिया द्वारा विभिन्न तत्त्व छन्द में ढलते हैं। छन्द चेतन और अचेतन दोनों है। कॉलरिज चेतन और अचेतन छन्दों की केवल सहभागिता को ही पर्याप्त नहीं मानते हैं, अपितु उनमें सामंजस्य की आवश्यकता पर अधिक बल देते हैं। छन्द के प्रभाव के विषय में उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि छन्द सामान्य भावों की संवेदनशीलता में वृद्धि के साथ-साथ पाठक के अवधान को अभिप्रेरित करता है। इतना ही नहीं, छन्द हमारी अनुभूति में उत्कर्ष का कारण होता है तथा परिचित मनोभावों को सामान्य के स्तर से ऊँचा उठा देता है।

कॉलरिज के अनुसार छन्द को कविता की वस्तु और भाषा के अनुरूप होना चाहिए। जब छन्द कविता की वस्तु और भाषा के अनुरूप होता है तो कविता के प्रत्येक घटक की ओर निरन्तर और स्पष्ट रूप से पाठक का ध्यान आकर्षित करता चलता है। वह पाठकीय उत्सुकता को तेजी से परिशान्त और पुनः जागृत करता हुआ एक प्रकार की आनन्दपूर्ण मनोदशा में अन्त तक आगे बढ़ जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में उनकी दृढ़ मान्यता है कि छन्द को अर्थ का अनुगामी होना चाहिए और साथ-ही-साथ काव्य-वस्तु को भी छन्द के अनुरूप होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो हमें एक प्रकार का झटका सा लगता है। और, यह झटका लगभग वैसा ही होता है जैसा कि हम अँधेरे में किसी सीढ़ी के अन्तिम पायदान से कूदे हों, जबकि हमने अपनी मांसपेशियों को तीन-चार पायदान कूदने के लिए तैयार कर लिया हो। इस तरह कुल मिलाकर कॉलरिज ने कविता के साथ छन्द के वस्तुपरक सम्पर्क पर बल दिया है।

1.4.3.3. काव्य और भाषा

भाषा को सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने विशेष महत्त्व देकर विवेचित किया है और कालान्तर में यह शैली आगन्तुक काव्यशास्त्रियों ने भी पल्लवित की है। कॉलरिज की प्रबल धारणा है कि यदि रचना की उत्कृष्टता की सबसे अधिक वस्तुनिष्ठ कसौटी कोई हो सकती है तो वह भाषा ही हो सकती है। कॉलरिज काव्यभाषा में स्वाभाविक भाषा का प्रयोग सर्वथा अनुचित मानते हैं। उनके विचार में प्रत्येक मनुष्य की भाषा उसके ज्ञान, क्रिया व संवेदना के अनुसार अलग-अलग होती है। मनुष्य की भाषा को वैयक्तिक, सामाजिक तथा शब्दों और मुहावरों की विशेषताएँ नियन्त्रित करती हैं।

गद्य और पद्य की भाषा में अभिन्नता पर उन्होंने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने विलियम वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रयुक्त 'एसेंशल' शब्द का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कहा है कि "मैं अपने साक्ष्य में प्रत्येक देश और प्रत्येक युग के सर्वोत्कृष्ट कवियों के प्रयोगों की ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ कि अनिवार्य शब्द के प्रत्येक अर्थ में गद्य और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में सचमुच अनिवार्य भेद हो सकता है और होना चाहिए।" इस प्रकार कॉलरिज के काव्य-चिन्तन में यह सुस्थापित है कि भाषिक रचना-विधान से निरपेक्ष रचना की विषयवस्तु का विवेचन और उसकी सफलता-असफलता का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो सकता। भाषा जितनी अधिक सर्जनात्मक होगी, रचना उतनी ही विशुद्ध और प्रामाणिक होगी।

1.4.3.4. कल्पना सिद्धान्त

सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने दर्शन और तत्त्व-चिन्तन के आधार पर अपने काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना की है। उनके अनुसार संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय या विचार हैं और जगत् विषयकृत ब्रह्म है। ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना द्वारा होता है। ब्रह्म कल्पना बाह्य प्रकृति को ब्रह्म के सम्मुख उपस्थित करती है जिससे ब्रह्म का विषयीकरण होता है। यह विश्व ब्रह्म की कला है। मानवीय कल्पना प्रकृति के उस क्षेत्र को मानव मन के सामने लाती है जिसमें मानव मन का व्यवहार हो। यदि विश्व ब्रह्म के आत्मज्ञान का कारण कल्पना है तो ऐसी कल्पना को सैम्युअल टेलर कॉलरिज प्रथम पदस्य कल्पना कहते हैं। यह प्रथम पदस्य कल्पना वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म के विचार विश्व में प्रविष्ट हैं और बिम्ब के पदार्थ उन्हें प्रतिबिम्बित करते हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के विचार मनुष्य जगत् में प्रविष्ट हैं और मनुष्य के क्षेत्र में उपस्थित पदार्थ उसके विचारों को प्रतिबिम्बित करते हैं। मनुष्य कल्पना ब्रह्म कल्पना का ही प्रतिनाद है और ईश्वर की सर्जना शक्ति की सहोदरा है। ब्रह्म कल्पना का विस्तार अधिक है तथा मानवीय कल्पना का क्षेत्र छोटा है। इस प्रकार कॉलरिज सम्पूर्ण सृष्टि को चेतना की अभिव्यक्ति मानता है। जड़ का चेतन पर प्रभाव पड़ता है और काव्य का सृजन होता है।

विलियम वर्ड्सवर्थ की एक कविता सुनकर कॉलरिज की भावना-शक्ति और बुद्धि दोनों चेतनावस्था में आ गई तथा उसे सौन्दर्यसहित सत्य का भी प्रत्यक्षीकरण हुआ। साथ ही उन्हें काव्य-सृजन की प्रक्रिया में निहित 'कल्पनाशक्ति' की महत्ता का आभास हुआ फलस्वरूप उन्होंने सौन्दर्यविधायनी व सर्जनात्मक शक्ति के रूप में कल्पना की उपादेयता को स्थापित किया। कॉलरिज कल्पना के दो भेद स्वीकार करते हैं – आद्य या मुख्य या प्राथमिक कल्पना तथा विशिष्ट या प्रतिनिधि कल्पना।

प्राथमिक कल्पना के आलोक में कॉलरिज ब्रह्मवादियों की तरह आत्मा व जगत् को एक ही सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन अन्तर यह है कि ब्रह्मवादी जहाँ आत्मा और जगत् के अलग-अलग प्रतीत होने का कारण माया की मौजूदगी मानते हैं, वहीं कॉलरिज ने उसका कारण प्राथमिक कल्पना को स्वीकार किया है। इसी प्राथमिक कल्पना के कारण एक ही चेतना खण्ड रूप में दिखाई देती है। यह प्राथमिक कल्पना मानव मन में मानसिक जगत् को प्रस्तुत करती है। यह कल्पना मानव मन की जीवन्त शक्ति है और सम्पूर्ण मानव प्रत्यक्षीकरण का मुख्य माध्यम है। यही प्राथमिक कल्पना विषय और विषयी को दो भागों में बाँटती है। चेतना को खण्ड-खण्ड

करके यही विषय और विषयी को अलग करती है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषय बोध को कल्पना ही व्यवस्थित करती है और यही हमारे अव्यवस्थित बोध बिम्बों को ज्ञान में बदलती है।

विशिष्ट कल्पना कलाकारों में पाई जाती है, सामान्य मनुष्य में नहीं। इसे प्राथमिक कल्पना की प्रतिध्वनि कहा जा सकता है। एक तरह से यह प्राथमिक कल्पना का मानवीय प्रयोग है। इस बाह्य संसार का प्रस्तुतीकरण और उसके पुनर्सृजन में विशिष्ट कल्पना ही काम आती है। यह अनेक विषयों में एकसूत्रता उत्पन्न करती है। विषय और विषयी को समन्वित करती है तथा अनेक रूपों और व्यापारों को अखण्ड रूप प्रदान करती है। भिन्न-भिन्न विषयों को एकत्रित करती है। इस प्रकार विशिष्ट अथवा प्रतिनिधि कल्पना का प्रयोग इच्छा से सहज रूप में किया जाता है।

कॉलरिज का मानना है कि कलाकार प्रकृति की नकल न करके अपनी भावना के अनुसार उसका पुनर्सृजन करता है जिससे आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है। जो तत्त्व जगत् से उसकी चेतना में आते हैं, कलाकार अपनी भावना के अनुसार उसका एकत्रीकरण करता है। वह प्रकृति को अधिक सुन्दर रूप में उपस्थित करता है। इस प्रकार कलाकार किसी वस्तु के अपूर्ण नमूनों को पकड़कर उसकी पूर्णता तक पहुँच जाता है। इस प्रक्रिया में वह कुछ विवरणों को छोड़ता है, कुछ नये विवरणों को जोड़ता है और वस्तु के परिवर्तित रूप की परिकल्पना कर लेता है। कल्पना द्वारा निर्मित वस्तु का यह परिवर्तित रूप कलाकार को सन्तोष प्रदान करता है। कॉलरिज के इस विवेचन यह सिद्ध होता है कि कल्पना विभिन्न तत्त्वों का एकीकरण करने वाली मानसिक शक्ति है। वह विरोधी का सामंजस्य करती है; दोनों के मध्य सन्तुलन स्थापित करती है; ससीम-असीम, समानता-असमानता, सामान्य-विशिष्ट, विचार-बिम्ब, नये-पुराने, विवेक, संयम, उत्साह और उत्तेजना का सामंजस्य करती है।

कॉलरिज कोरे यथार्थ के अनुकरण को यान्त्रिक अनुकरण तथा प्रकृति के अनुकरण को चोरी कहते हैं। उनके अनुसार कवि को ऐसे अनुकरण से बचना चाहिए। उनकी दृष्टि में कलाकार तो कल्पना द्वारा जीवन का सजीव रूपान्तरण और सृजन करता है। कल्पना जहाँ एक ओर यथार्थ और मन के मध्य के अन्तर को पाटती है, वहीं दूसरी ओर आन्तरिक और बाह्य का स्मरण भी करवाती है। उसी के द्वारा कलाकार प्रकृति बाह्य रूप को अपने मानस में गढ़ लेता है। यदि कोई कलाकार प्रकृति को खण्डित रूप में प्रस्तुत करता है तो वह प्रकृति के अंग-भंग का दोषी होगा। उसकी कल्पना की सिद्धि प्रकृति को इकाई रूप में प्रस्तुत करने में है। इस विधि से ही प्रकृति की आत्मा, उसका विशिष्ट व्यक्तित्व और सौन्दर्य प्रत्यक्ष हो सकता है। इसके अभाव में प्रकृति का अनुकरण जड़, मृत और निष्क्रिय रहेगा। इस प्रकार वह केवल ललित कल्पना से उत्पन्न पदार्थों को प्रस्तुत कर सकता है। वास्तव में कल्पना अनुकरण न होकर वस्तु का पुनर्निर्माण है जो मृत वस्तुओं में भी प्राण प्रतिष्ठित कर देती है।

1.4.4. सैम्युअल टेलर का काव्यशास्त्रीय अवदान

इंग्लैंड के स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तकों में प्रमुख सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने काव्य की स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं की तात्त्विक व्याख्या की है। उन्होंने अन्य काव्य-चिन्तकों की भाँति अकृत्रिमता, अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यंजना की सरलता को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। इन तत्त्वों से रहित कविता को वे कविता मानने के पक्ष में नहीं हैं। कॉलरिज कोरे भावोच्छवास को स्वीकार नहीं करते हैं। वे काव्य में भावना और चिन्तन की एकत्र उपस्थिति का आग्रह करते हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि काव्य में हृदय और मस्तिष्क दोनों का संयोग अपेक्षित होता है। केवल भावना काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है, केवल भौतिकता काव्य में तिरस्करणीय है; पर दोनों का एकीकृत रूप श्रेष्ठ काव्य का उपादान है। अपने काव्य-चिन्तन में कॉलरिज कल्पनातत्त्व पर भी विशेष बल देते हैं।

सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के अन्तर को स्थापित नहीं कर पाने के कारण कॉलरिज की आलोचना की जाती है। चूँकि, उनका दार्शनिक आधार उलझन भरा है, इसलिए उनका कल्पनासम्बन्धी विचार भी सर्वग्राह्य नहीं हो पाया है और उसमें विरोधाभास है। उदाहरण के लिए एक ओर जहाँ वे मनोवेगों को कविता के लिए आवश्यक मानते हैं, वहीं दूसरी ओर कवि को निर्वैयक्तिक होने का परामर्श भी देते हैं। इन मुख्य स्थापनाओं में दोष होते हुए भी कॉलरिज ने सत्य, काव्य आदि का मौलिक विवेचन किया है।

1.4.5. सारांश

सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने कवि की दो शक्तियों के प्रति विशेष आग्रह सूचित किया है। इनमें से पहली प्रकृति के निरीक्षण की शक्ति है और दूसरी उन निरीक्षित वस्तुओं का अध्याहार करने की शक्ति है। वे कविता में आनन्द को स्वतन्त्र स्थान प्रदान करने के पक्षधर नहीं हैं, क्योंकि वे आनन्द को सौन्दर्याश्रित मानते हैं और सौन्दर्य को कल्पनाशक्ति पर आश्रित। काव्य-सर्जना में कल्पनाशक्ति को उन्होंने इतना महत्त्व दिया है कि उसे ईश्वर का पर्याय तक घोषित कर दिया है। कॉलरिज की काव्यसम्बन्धी धारणा का मुख्य आधार जैववादी सिद्धान्त है। उन्होंने लॉक और हार्टली आदि की साहचर्यवादी तथा यान्त्रिकतावादी सिद्धान्त की आलोचना करके अपने जैववादी सिद्धान्त की स्थापना की है। जिस प्रकार मनुष्य का उसके अंगों के साथ अंगी-अंग रूप में विकास होता है, उसी प्रकार काव्य की सृष्टि इसी ढाँचे पर होती है। उसमें भाव, शब्द, अर्थ, बिम्ब, अलंकार, छन्द आदि अलग से नहीं जुड़ते, अपितु उनके सहभाव से ही काव्य की सृष्टि होती है। कॉलरिज के ये विचार भारतीय आचार्य कुन्तक और पाश्चात्य विचारक क्रोचे की अन्तःप्रज्ञा और अभिव्यंजना के समकक्ष हैं।

1.4.6. शब्दावली

जीवन्त	:	सक्रिय, जैविक
खण्ड	:	घटक, तत्त्व
शास्त्र	:	वैज्ञानिक कृति

पद्धति	:	एकता और अग्रगति
आवयविकता	:	काव्य गुण

1.4.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
6. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

1.4.8. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कॉलरिज के अनुसार कविता क्या है ?
2. काव्य में मौलिक प्रतिभा के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
3. कॉलरिज की आलोचनात्मक दृष्टि की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
4. "कल्पना मानव मन की जीवन्त शक्ति है।" स्पष्ट कीजिए।
5. "कल्पना विरोधी तत्त्वों के बीच सामंजस्य स्थापित करती है।" टिप्पणी कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "कविता सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम विधान है।" कॉलरिज के इस कथन का परीक्षण कीजिए।
2. कॉलरिज के कल्पना सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कॉलरिज ने कल्पना शक्ति के कितने रूपों की चर्चा की है ?

(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) पाँच

2. 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के रचयिता हैं –

(क) अरस्तू
(ख) विलियम वर्ड्सवर्थ
(ग) सैम्युअल टेलर कॉलरिज
(घ) मैथ्यू ऑर्नल्ड

3. "कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान है।" यह मत किस विचारक का है ?

(क) कॉलरिज
(ख) अरस्तू
(ग) लोंजाइनस
(घ) विलियम वर्ड्सवर्थ

4. जीवन्त से कॉलरिज का अभिप्राय है –

(क) सक्रिय
(ख) निष्क्रिय
(ग) यान्त्रिक
(घ) इनमें से कोई नहीं।

5. कॉलरिज ने किसके काव्यभाषा सम्बन्धी विचारों की आलोचना की है –

(क) विलियम वर्ड्सवर्थ
(ख) रिचर्ड्स
(ग) एलियट
(घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : प्रमुख विचारक – 2

इकाई – 1 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक मैथ्यू ऑर्नल्ड

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य कथन
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. मैथ्यू ऑर्नल्ड : व्यक्ति परिचय
  2.1.2.1. व्यक्तित्व
  2.1.2.2. कृतियाँ
2.1.3. मैथ्यू ऑर्नल्ड का काव्य-चिन्तन
  2.1.3.1. संस्कृति और नैतिकता
  2.1.3.2. काव्य की अवधारणा
  2.1.3.3. आलोचक और आलोचना
2.1.4. मैथ्यू ऑर्नल्ड के काव्य-चिन्तन का अनुशीलन
2.1.5. सारांश
2.1.6. शब्दावली
2.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.1.8. सम्बन्धित प्रश्न

2.1.0. उद्देश्य कथन

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वच्छन्दतावाद के प्रति मोहभंग की स्थिति के परिणामस्वरूप एक युगान्तकारी परिवर्तन का संकेत मिल रहा था। ऐसे में जीवन-मूल्यों में विघटन की प्रवृत्तियों से निपटने के लिए रचनाकर्म और आलोचना को पुनर्व्याख्यायित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। ऐसे परिदृश्य में पाश्चात्य साहित्यालोचना के क्षेत्र में मैथ्यू ऑर्नल्ड जैसे विचारक का आगमन होता है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. मैथ्यू ऑर्नल्ड के काव्य-चिन्तन में संस्कृति और नैतिकता की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
ii. मैथ्यू ऑर्नल्ड की 'काव्य की अवधारणा' को समझ सकेंगे।
iii. आलोचक और आलोचना के सन्दर्भ में मैथ्यू ऑर्नल्ड के विचार जान सकेंगे।
iv. मैथ्यू ऑर्नल्ड के काव्य-चिन्तन का अनुशीलन कर सकेंगे।

2.1.1. प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वच्छन्दतावादी आलोचना जिन आदर्शों, मूल्यों और प्रवृत्तियों को लेकर अवतरित हुई और इनसे युक्त होकर कविता की जो आकृति सामने आयी, उसे आगे चलकर नये समीक्षकों और नयी समीक्षादृष्टि की आवश्यकता महसूस हुई। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते पश्चिम में स्वच्छन्दतावाद के प्रति आकर्षण नहीं रह गया। ऐसे में जीवन-मूल्यों के विघटन के बीच उलझे मनुष्य को उबारने के लिए कविकर्म और आलोचना को पुनर्व्याख्यायित करना अपेक्षित था। ऐसे में आधुनिक पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में एक नयी जीवनदृष्टि से अनुप्राणित मैथ्यू ऑर्नल्ड का पदार्पण होता है। अपनी बौद्धिकता व गम्भीर अध्ययन के बल पर उन्होंने पाश्चात्य साहित्य आलोचना के क्षेत्र में कविता की सक्रिय सामाजिक भूमिका का निवेदन किया। उन्होंने साहित्य को जीवन की आलोचना माना है। वे केवल उसी साहित्य को प्राथमिकता देते हैं जो जीवन और समाज से सम्बद्ध हो। उनके विचार में जीवन और समाज से निरपेक्ष साहित्यिक सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं है। इस तरह उनके लिए कविता का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना है। यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि उनके काव्य-चिन्तन का विकास शून्य में नहीं हुआ है तथा वे अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं से विच्छिन नहीं हैं।

2.1.2. मैथ्यू ऑर्नल्ड : व्यक्ति परिचय

कला और साहित्य में वस्तुतत्त्व प्रमुख है अथवा रूपतत्त्व ! इस सम्बन्ध में समीक्षकों में मत वैभिन्न्य है। यह विवाद इस सीमा तक खींच गया है कि काव्य में वस्तु और रूप को प्रमुखता देते हुए कई भिन्न धारणाएँ बन गई हैं। यह स्थिति काव्य या कला के सही मूल्यांकन के लिए बाधक ही साबित हुई है। ऐसे परिदृश्य में मैथ्यू ऑर्नल्ड जैसे विचारकों ने संस्कृति और नैतिकता की प्रतिष्ठा करते हुए साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में किसी प्रकार के भ्रम को नहीं रहने दिया है।

2.1.2.1. व्यक्तित्व

मैथ्यू ऑर्नल्ड का जन्म 24 दिसंबर 1822 को हुआ। इनके पिता का नाम डॉ० टॉमस ऑर्नल्ड था जो रग्बी स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। मैथ्यू बचपन से ही अध्ययनशील प्रवृत्ति के थे तथा साहित्य में उनकी विशेष अभिरुचि थी। उन्होंने अपनी शिक्षा क्रमश: लेलेहम, रग्बी तथा ऑक्सफोर्ड में पूरी की। आगे चलकर वर्ष 1857 ई. में उनकी नियुक्ति ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में बतौर पोएट्री प्रोफेसर पद पर हुई। मैथ्यू ऑर्नल्ड बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने कविता, निबन्ध एवं आलोचना जैसी विविध विधाओं में उल्लेखनीय कार्य किये जिनमें सामाजिक तथा मानवीय आधार के निमित्त संस्कृति और नैतिकता की व्यापक स्वीकृति निहित है।

2.1.2.2. कृतियाँ

मैथ्यू ऑर्नल्ड काव्य को संस्कृति और मूल्यों के अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्होंने आजीवन जीवन और साहित्य की दूरी को पाटने के लिए अथक प्रयास किया। मैथ्यू ऑर्नल्ड का आरम्भिक रचनात्मक रुझान काव्य-लेखन की ओर था। 'द स्ट्रेंड रेवेलर' (1849), 'एम्पेडोक्स ऑन एटना' (1852), 'पोयम्स बाई मैथ्यू ऑर्नल्ड ' (1853), 'पोयम्स सेकेण्ड सीरीज' (1855), 'मेरोप' (1855) और 'न्यू पोयम्स' (1857) उनकी प्रसिद्ध काव्य कृतियाँ हैं। लेकिन समय बीतने के साथ कवि की बजाय उनके आलोचक रूप को अधिक ख्याति प्राप्त हुई। उनके आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह 'एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' का पहला भाग 1865 ई. में और दूसरा भाग 1888 ई. में प्रकाशित हुआ। वर्ष 1869 ई. में मैथ्यू ऑर्नल्ड के समस्त कृतित्व की केन्द्रीय रचना के रूप में एक संस्कृतिपरक कृति 'कल्चर एंड अनार्की' प्रकाशित हुई। धर्म की उदार एवं काव्यपरक व्याख्या के निहितार्थ उन्होंने अपनी 'लिटरेचर एंड डोगमा' (1873), 'गॉड एंड द बाइबल' (1875), 'एसेज़ ऑन चर्च एंड स्टेट' (1877) आदि रचनाओं में धर्म की हठधर्मिता का प्रबल विरोध किया है। उनकी दृष्टि में कुछ भी साहित्य की परिधि से बाहर नहीं है।

2.1.3. मैथ्यू ऑर्नल्ड का काव्य-चिन्तन

पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की विकसित परम्परा में मैथ्यू ऑर्नल्ड का आगमन उस समय होता है जब रोमांटिक युग पूरी तरह से समाप्त हो चुका था और विक्टोरियन काल अपनी पूरी पराकाष्ठा पर था। मैथ्यू ऑर्नल्ड से पहले पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन व विश्लेषण मूलतः एक विशिष्ट प्रकार की सर्जना और उसके साथ व्यक्त सैद्धान्तिक मान्यताओं के सन्दर्भ में ही हुआ था। मैथ्यू ने काव्य में नैतिकता और आदर्श को सम्बल बनाकर कविता और जीवन के सार्थक प्रतिमान गढ़े जो आज भी साहित्य एवं कला जगत् में उनकी रचनात्मक प्रतिभा के प्रमाण है। उल्लेखनीय है कि अपनी मूल प्रकृति में उनके प्रतिमान अपने सामाजिक-मानवीय आधारों के साथ अपनी लोकोत्तर व्याख्याओं को छोड़कर, अपेक्षाकृत अधिक सम्पूर्ण बनकर यानी समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण में काव्य या साहित्य की सक्रिय भागीदारी का निर्देश देते हुए सामने आते हैं।

2.1.3.1. संस्कृति और नैतिकता

पश्चिम में औद्योगीकरण की तीव्र प्रगति अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए आर्थिक सम्पन्नता और वैभव के चरमोत्कमर्ष का परिचायक थी, लेकिन भौतिक संसाधनों व उपलब्धियों के साथ-साथ नैतिक गिरावट, मूल्यहीनता और सांस्कृतिक पतन भी बढ़ता जा रहा था। यह परिवेश मैथ्यू ऑर्नल्ड जैसे सहृदय विचारक के लिए चिन्ता का विषय था। वैज्ञानिक विकास के चलते भौतिकता से आक्रान्त उस युग में कविता व साहित्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगना शुरू हो गए थे। तत्युगीन उपयोगितावादी दृष्टि के फलस्वरूप टॉमस लव पीकॉक जैसे आलोचक तो कविता के अस्तित्व को ही पूरी तरह नकार चुके थे। उनका विश्वास था कि ज्ञान, विज्ञान और तर्क के उस युग में कविता के लिए कोई स्थान नहीं है।

ऐसे परिवेश में मैथ्यू ऑर्नल्ड ने सम्पूर्ण अराजकता और असन्तुलन के बीच काव्य को ही जीवन में नैतिक आदर्शों का अभिप्रेरक और संस्कृति का साधन बताया तथा विज्ञान और काव्य के अन्तर्द्वन्द्व को उन्होंने नयी दृष्टि से देखने व परिभाषित करने का उल्लेखनीय प्रयास किया। उनकी स्थाापना में विज्ञान और कविता दो प्रतिनिधि शक्तियाँ नहीं, बल्कि एक-दूसरे की पूरक है । उन्होंने यह मत प्रकट किया कि कविता जीवन की व्याख्या है। जीवन के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने और उसे सम्बल प्रदान करने हेतु अधिकांश मानव जाति अन्ततः काव्य की ओर ही उन्मुख होगी। काव्य के बिना हमारा ज्ञान-विज्ञान अधूरा लगेगा। हमारे जीवन में धर्म एवं दर्शन का स्थापन्न कविता द्वारा ही सम्भव हो सकेगा।

वस्तुतः वैज्ञानिक विकास के साथ तत्कालीन समाज में जनजीवन के प्रति जो एकांगी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ था, मैथ्यू ऑर्नल्ड ने उसके विरोध में जीवन की समग्रता पर बल दिया। भौतिक व वस्तुगत सम्पन्नता के उस युग में वे दृढ़ता से नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्योंके प्रवर्तक बनकर अपने विचारों का प्रतिपादन करते रहे और कविता को इस सारे विघटन एवं संत्रास से मुक्ति का माध्यम स्थपित करते रहे।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के विचारों में अपने युग का विश्लेषण प्रतिध्वनित होता है। वे तत्युगीन जन समाज की वृत्तियों से त्रस्त हैं और यह कहने में नहीं सकुचाते कि अभिजात वर्ग निर्मम, कठोर, अमानवीय व बर्बर हो गया है, मध्यम वर्ग भोग में लिप्त है तथा निम्न वर्ग सुषुप्तावस्था में है। अभिजात वर्ग तथा निम्न वर्ग से उन्हें कोई आशा और अपेक्षा नहीं है। लेकिन, मध्यम वर्ग की जड़ता को तोड़ने के लिए वे साहित्य और आलोचना से अपेक्षा करते हैं कि वह उसकी रुचि का परिष्कार करे, उसे सुसंस्कृत करे। इसलिए वे जनजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता एवं समन्वयपरक दृष्टि का विकास करना चाहते हैं। उनके लिए संस्कृति ही पूर्णता का दूसरा नाम है। अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'कल्चर एंड अनार्की' के प्रथम अध्याय में वे संस्कृति को परिभाषित करते हैं। उनकी दृष्टि में संस्कृति पूर्णता का अध्ययन है, समग्रता का विश्लेषण है तथा बुद्धि और ईश्वर की इच्छा को सफल बनाना ही उसका उद्देश्य है। माधुर्य और आलोक उसके विशिष्ट गुण हैं। मानवमात्र के प्रति प्रेम और उसकी समस्याओं समझना संस्कृति के मुख्य भाग हैं। चूँकि, संस्कृति का उद्देश्य है जीवन में उदात्त मूल्यों तथा उद्देश्यों की सम्यक् प्रतिष्ठा करना, अतः जनजीवन में साध्य और साधन, स्थायी और अस्थायी, पूर्ण और अपूर्ण के भेद की विस्तृत व्याख्या संस्कृति का मुख्य ध्येय है। गोया, मैथ्यू ऑर्नल्ड की स्थापना में संस्कृति पूर्णता की प्रतिष्ठापक है तथा काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है। उन्हें विश्वास है कि तत्कालीन अराजकतापूर्ण स्थितियों में काव्य ही जीवन को नैतिक आदर्शों की ओर प्रेरित करता है और उसे सांस्कृतिक पूर्णता की ओर ले जाता है। अपनी इन्हीं धारणाओं के कारण वे स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं का खण्डन करते हैं और उसे काव्य के सांस्कृतिक लक्ष्य में बाधक मानते हैं।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के लिए काव्य का प्रयोजन केवल मनोरंजन या आनन्द नहीं, अपितु वह सांस्कृतिक उन्नयन और परिष्करण का साधन है। अतः जिस कविता में आदर्श या उपदेश नहीं, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं है। अतिशय गम्भीरता को काव्य का अन्यतम गुण मानते हुए वे प्राचीन अभिजात्यवादी सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना का सार्थक प्रयास करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में सुप्रसिद्ध विचारक अरस्तू उनके आदर्श हैं जिन्होंने 'कामदी' की अपेक्षा 'त्रासदी' को महत्त्व दिया था।

रोमांटिक कवियों की भावप्रवण एवं संगीतमय लालित्य से युक्त कविताएँ मैथ्यू ऑर्नल्ड द्वारा प्रतिपादित 'उत्तम कविता' की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। यही कारण है कि उन्होंने शैली, वॉयरन, कीट्स, कॉलरिज आदि कवियों की आलोचना की है। उनकी दृष्टि में सोफोक्लीकस, होमर, दांते, गेटे, मिल्टन जैसे कवियों का काव्य ही उत्तम है जो युग चेतना से सम्पन्न है। मैथ्यू ऑर्नल्ड के चिन्तन में प्राचीन काव्य के प्रति समादर है। उनके अनुसार कवियों को अपने विषय-चयन के लिए भी प्राचीन कवियों से प्रेरणा लेनी चाहिए क्योंकि तत्कालीन युग में नैतिकता व भव्यता नहीं हैं। वहाँ काव्य हेतु उपयुक्तविषय मिल सकते हैं।

मैथ्यू ऑर्नल्ड ने अपने आदर्श और साहित्यिक प्रतिमान प्राचीन साहित्य से ही ग्रहण किए हैं। इसलिए उन्हें यूनानी साहित्यिक आदर्शों का उद्धारक भी कहा जाता है। प्राचीन आदर्शों को ग्रहण कर उन्होंने एक नवीन आलोचना पद्धति का विकास किया जो कि बाद के आलोचकों के लिए अनुकरणीय बनी। उन्होंने काव्य को अपने युग और परिवेश से अभिन्न रूप में देखा और परखा। कहना सही होगा कि इस परिदृश्य में मैथ्यू ऑर्नल्ड परम्परा और आधुनिकता के मिलन बिन्दु पर खड़े दिखाई देते हैं। किन्तु एक विडम्बना यह भी है कि आलोचक के रूप में उन्होंने जिस गम्भीरता या उपदेशात्मकता की वकालत की, उनकी अपनी सभी कविताएँ भी उसका साक्ष्य नहीं देतीं। इस प्रकार वे वैचारिकता और भावना के द्वन्द्व में फँसे हुए-से लगते हैं। उनका पुनर्मूल्यांकन करते हुए प्रो० निर्मला जैन का कहना है – "ऑर्नल्ड को अंग्रेज़ी के उस परवर्ती रोमांटिक आलोचक के रूप में देखा गया जिसमें अर्ध-क्लासिकी और अर्ध-रोमानी चेतना का संगम मिलता है। वे क्लासिकी तेवर और रोमांटिक मिजाज से लैस ठेठ विक्टोरियन थे।"

वस्तुत: मैथ्यू ऑर्नल्ड के सम्मुख विज्ञान के प्रभुत्व और भौतिकता के वर्चस्व की जो चुनौती थी, उसका उत्तर वे सामाजिक आदर्शों व नैतिक मूल्यों के प्रतिस्थापन द्वारा ही दे सकते थे। इसलिए उन्होंने काव्य में नैतिक मूल्यों के प्रतिस्थापन पर विशेष बल दिया। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि नैतिक विचारों के विरुद्ध लिखी गई कविता जीवन के प्रति विद्रोह की कविता है और नैतिकता के प्रति उदासीन कविता जीवन के प्रति उदासीन कविता है। मैथ्यू ऑर्नल्ड की कविता का आदर्श तत्कालीन समाज न होकर ऐसा प्राचीन काव्य ही था जिसमें जीवन की महानता और भव्यता पर बल हो। उनके लिए उत्तम काव्य वही है जो जीवन के उदात्त एवं व्यापक विचारों को प्रस्तुत करने में सक्षम हो। उन्होंने काव्य को मानव मात्र को सांत्वना देने वाला, संस्कृति के अन्यतम साधन व नैतिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक के रूप में प्रस्तावित किया है।

2.1.3.2. काव्य की अवधारणा

मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार कविता जीवन की आलोचना है। उनके अनुसार कवि की महत्ता इस बात में है कि वह अपने जीवनसम्बन्धी विचारों को इस सवाल कि 'जीवन कैसे जीना चाहिए' से कितने सशक्त एवं सुन्दर ढंग से जोड़ पाता है। उनकी दृष्टि में उत्तम काव्य वही है जिसकी विषयवस्तु संस्कृति और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापक हो, जो मनुष्य के संस्कारों को आन्दोलित करे तथा जिसकी शैली भी भव्य हो।

मैथ्यू आर्नल्ड अपने काव्यशास्त्रीय चिन्तन में स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं का पूरी तरह खण्डन करते हैं। लेकिन, प्राचीन यूनानी चिन्तन व सिद्धान्तों के प्रति उनमें समादर का भाव सहज ही परिलक्षित होता है। होमर और अरस्तू के विचारों के प्रति उनका विशेष लगाव है। उन्होंने काव्य में स्वाभाविकता, सरलता और क्लासिक गुणों के साथ आलोचना की स्वायत्त सत्ता पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार काव्य वही स्थायी होता है जिसमें स्थायी भावों-संवेदनाओं की प्राण-प्रतिष्ठा हो। वे काव्य-कर्म में मुख्यत: निम्नलिखित चार बातों पर विशेष बल देते हैं –

(i) काव्य की विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण है।
(ii) रचना-प्रक्रिया के क्रम में संरचनात्मक अन्विति, अनुपात तथा सामंजस्य पर ध्यान देना चाहिए।
(iii) रचना में भव्य शैली का प्रयोग आवश्यक है।
(iv) आनन्द के साथ-साथ कविता नैतिक उन्नयन का दायित्व भी पूरा करे।

मैथ्यू ऑर्नल्ड काव्य में बारम्बार वस्तु और रूप के सामंजस्य पर बल देते हैं और सांस्कृतिक उन्नयन और भाव परिष्कार को ही काव्य का मूल प्रयोजन स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि काव्य का मूल्यांकन बाह्य मानदण्डों से नहीं किया जाना चाहिए। आलोचना रचना केन्द्रित हो और रचना केन्द्रित आलोचना के मानदण्ड रचना के भीतर से ही स्फुटित होने चाहिए। चूँकि, काव्यप्रयोजन मैथ्यू ऑर्नल्ड के चिन्तन के केन्द्र में है, इसलिए उनका आग्रह समाज में कविता की सक्रिय भूमिका पर है। उनके अनुसार कविता ही जीवन को समझने की दृष्टि देती है और उसे व्याख्यायित करती है। काव्य से सम्बद्ध सभी सवाल अनिवार्यत: जीवन से जुड़े हुए होते हैं, इसलिए कवि की महत्ता इस बात में है कि उसकी रचना ने युग की साहित्यिक-सामाजिक आवश्यकताओं को किस सीमा तक पूरा किया है।

कविता द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श की प्रतिष्ठा के निमित्त मैथ्यू ऑर्नल्ड विषय के चयन पर विशेष बल देते हैं। उनकी दृष्टि में मानव के कार्यव्यापार समस्त राष्ट्रों में सदा ही काव्य के शाश्वत विषय रहे हैं। इसलिए काव्य-विषय का महत्त्व उसकी समकालीनता पर नहीं, अपितु उसकी महानता पर निर्भर है। उन्होंने 'काव्य सत्य' एवं 'काव्य सौन्दर्य' के निर्धारित नियमों के अन्तर्गत ही कविता को जीवन की आलोचना स्वीकार किया है। 'काव्य सत्य' से उनका अभिप्राय विषयवस्तु की मूल्यवत्ता से है, जबकि 'काव्य सौन्दर्य' अभिव्यंजना सौन्दर्य एवं लालित्य का पर्याय है।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के लिए उत्तम काव्य वही है जिसमें महान् कार्य तथा उत्कृष्ट शैली का संयोजन हो। शैली की उत्कृष्टता केवल कुछ वाक्यांशों तक ही सीमित नहीं होती, बल्कि सम्पूर्ण काव्यविधान में उत्कृष्ट शैली का प्रयोग अपेक्षित है। कुल मिलाकर वे काव्य में सरल एवं स्वच्छ शैली के पक्षपाती हैं।

2.1.3.3. आलोचक और आलोचना

कविता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में मैथ्यू ऑर्नल्ड का मानना है कि आलोचना ही महान् विचारों के सम्प्रेषण द्वारा उत्कृष्ट साहित्य-सृजन के लिए उर्वर भूमि तैयार करती है, इसलिए आलोचना काव्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आलोचक की भूमिका केवल कविता के मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं है, अपितु एक चिन्तक होने के नाते उस पर सांस्कृतिक विकास का महत्त्वपूर्ण दायित्व भी होता है।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार आलोचना का लक्ष्य अपने युग के समक्ष उच्च आदर्श प्रस्तुत करना है। आलोचना का उद्देश्य व्यक्ति को उसकी संकीर्णताओं और तुच्छताओं से मुक्त कर निरपेक्ष सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करना और उसे पूर्णता की ओर उन्मुख करना है। कविता और आलोचना के सापेक्षिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने आलोचना के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य माने हैं –

(i) जीवन और काव्य की महान् उपलब्धियों को समझना।
(ii) उन उपलब्धियों के विचारों को सशक्त अभिव्यक्ति देना।
(iii) जीवन में उत्कृष्ट विचारों का संचार कर ऐसे परिवेश का निर्माण करना जो महान् साहित्य को अभिप्रेरित कर सके।

मैथ्यू ऑर्नल्ड आलोचना की तीन पद्धतियों का उल्लेख करते हैं – वैयक्तिक, ऐतिहासिक तथा वास्तविक। हालाँकि, इनमें से प्रथम दोनों को वे आलोचना ही नहीं मानते। उनके लिए आलोचना का तीसरा रूप ही मान्य है। वैयक्तिक आलोचना-पद्धति के विषय में उनकी धारणा है कि वैयक्तिक आलोचना में आलोचक की व्यक्तिगत रुचि तथा निजी प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण हो जाती है इसलिए वैयक्तिक आलोचना द्वारा रचना का शुद्ध एवं सार्थक मूल्यांकन नहीं हो सकता।

ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि साहित्यिक प्रवृत्तियों व उनके विकास-क्रम के सोपानों का विवेचन इतिहास का विषय है, जबकि आलोचना रचना के गुण-दोषों का विवेचन करती है। चूँकि, ऐतिहासिक आलोचना काव्य के अन्तर्निहित वैशिष्ट्य को उद्घाटित करने में समर्थ नहीं होती है, इसलिए यह अनुकरणीय नहीं है।

मैथ्यू ऑर्नल्ड वास्तविक आलोचना-पद्धति के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि में वास्तविक आलोचना ही सच्ची आलोचना है। यही कारण है कि वे वास्तविक आलोचना के लिए आलोचक की तटस्थता, निष्पक्षता व निस्संगता पर बल देते हैं। साथ ही, वे आलोचक की सृजन-प्रतिभा और सृजन-क्षण के परस्पर सम्बन्धों की पहचान के हिमायती भी हैं। उनकी दृष्टि में निष्पक्षता का आशय युगनिरपेक्षता नहीं है। तत्युगीन अराजकता से फैली सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध सांस्कृतिक पूर्णता व उसको आत्मसात् करने वाली आलोचना ही निष्पक्ष और वास्तविक आलोचना है।

2.1.4. मैथ्यू ऑर्नल्ड के काव्य-चिन्तन का अनुशीलन

मैथ्यू ऑर्नल्ड के काव्य तथा आलोचना सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि वे मूलतः एक आदर्शवादी और नीतिवादी समीक्षक थे। वे काव्य को समाज, देश और जाति के उत्थान का एक प्रभावी व सशक्त माध्यम स्वीकार करते हैं। अपनी नीतिवादी या आदर्शवादी विचारणा को वे इतनी दूर तक नहीं ले गए हैं कि काव्य तथा आलोचना की मूल प्रकृति ही उनकी दृष्टि से ओझल हो गई हो। यही कारण है कि वे आदर्श, नीति और उपदेश की बात करते हुए काव्य को जीवन की आलोचना मानते हैं। ज्ञातव्य है कि मैथ्यू ऑर्नल्ड को प्रथम आधुनिक आलोचक माना गया है। पाश्चात्य आधुनिक आलोचना का सूत्रपात उनके आगमन के साथ ही होता है। उनकी दृष्टि में आलोचना दर्शनशास्त्र की शाखा न होकर एक स्वायत्त विधा है। उन्होंने काव्य को जीवन की आलोचना माना है। उनके अधिकांश निबन्धों में यह बात खुलकर सामने आई है कि जीवन के व्यापक सौन्दर्य से युक्त, मानव के अनुभव-सत्यों से सम्पन्न काव्य जीवन की आलोचना अथवा व्याख्या है।

वास्तव में काव्य को जीवन की आलोचना कहकर मैथ्यू ऑर्नल्ड कलावाद-रूपवाद का खण्डन करना चाहते हैं। उनके मतानुसार काव्य में जीवन की समस्याओं व वास्तविकताओं का चित्रण अनिवार्यत: होना चाहिए। रचनाकार का काम युग-परिवेश में व्याप्त विचारों के संश्लेषण और उद्घाटन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिए।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष के निमित्त कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। उन्होंने काव्य में जीवन की गहराई और व्यापकता दोनों को विस्तार दिया है। उनकी प्रबल धारणा है कि काव्य की सीमा का विस्तार धर्म, संस्कृति, शिक्षा आदि से भी परे है। इस अर्थ में काव्य विज्ञान का विरोधी नहीं, अपितु उसका पूरक है, क्योंकि जैसे-जैसे विज्ञान की उन्नति होती जाएगी, वैसे-वैसे कविता की भूमिका का महत्त्व भी बढ़ता जाएगा। अपनी पूरी विचारधारा व चिन्तन में भावातिरेक और वैयक्तिकता से ग्रस्त होने के कारण मैथ्यू ऑर्नल्ड 'प्रगीतकाव्य' की अपने ढंग से आलोचना करते हैं तथा 'प्रबन्ध काव्य' को ही उत्कृष्ट काव्य मानते हैं।

कहना सही होगा कि मैथ्यू ऑर्नल्ड ने एक प्रकार से कविता और आलोचना दोनों के संकीर्ण दायरों को मुक्त कर उन्हें एक विस्तृत आयाम प्रदान किया है। सुप्रसिद्ध विचारक टी. एस. एलियट ने कहा है कि ऑर्नल्ड न तो प्रतिक्रियावादी हैं और न ही क्रान्तिकारी। वे एक युग के वैसे ही प्रतिनिधि हैं जैसे कि उनके पहले ड्राइडन और जॉनसन थे। एलियट ने उन्हें प्रमुखतया एक शिक्षक और आलोचक की अपेक्षा आलोचना का प्रचारक स्वीकार किया है। एलियट का कहना है कि ऑर्नल्ड ने हमेशा कविता की महानता के विषय में ही चिन्तन किया है। कविता के खरेपन को लेकर वे उतना गम्भीर नहीं दिखते हैं।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के विचार की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि वे काव्य हेतु उपयुक्त विषय-चयन की चर्चा करते हुए 'पुरातन', 'शाश्वत' या 'सनातन' पर इतना अधिक बल देते हैं कि नवीन विषयों की शक्ति या सम्भावनाओं की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं। वस्तुतः अपने वर्तमान से अत्यधिक आहत मैथ्यू ऑर्नल्ड

लोकमंगल और नैतिकता को लेकर इतने अधिक उत्साहित थे कि आधुनिकता के नाम पर यूनानी आभिजात्यवादी साहित्यिक गुणों को ही पुनर्प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं।

मैथ्यू ऑर्नल्ड के लिए कविता धर्म और दर्शन का प्रतिस्थापन है। वे संस्कृति के साधन के रूप में ही कविता पर विचार करते हैं। उनके साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक सरोकारों ने कविता के उद्देश्यों को ही विस्तृत नहीं किया, अपितु आलोचना पर भी नये दायित्वों को स्पष्ट किया। परिणामस्वरूप आलोचना केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रही, वह जीवन सापेक्ष हो गई तथा धर्म, संस्कृति, दर्शन आदि सभी कुछ उसके दायरे में समाहित हो गया।

2.1.5. सारांश

मैथ्यू ऑर्नल्ड के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में दृढ़ता और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। काव्य की श्रेष्ठता के निर्धारण पर वे आजीवन विचारशील रहे। ऑर्नल्ड ने बहुत विस्तार से इस तथ्य का विवेचन किया है कि साहित्य के इतर मानदण्ड साहित्य के विवेचन व मूल्यांकन में बाधक हैं। राजनैतिक-ऐतिहासिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त आलोचना साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकती। इसलिए वे आलोचक के निस्संग होने की वकालत करते हैं। अपनी प्रमुख स्थापनाओं में वे समकालीन जीवन की अपेक्षा प्राचीन कार्यव्यापारों के महत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी दृष्टि में मानव के कार्यव्यापार समस्त राष्ट्रों में सदा ही कविता के शाश्वत विषय रहे हैं। उनके लिए उत्तम काव्य वही है जो जीवन के उदात्त एवं व्यापक विचारों को प्रस्तुत करने में सक्षम हो। उन्होंने काव्य को मानव मात्र को सांत्वना देने वाला, संस्कृति के अन्यतम साधन व नैतिक मूल्योंके प्रतिष्ठापक के रूप में प्रस्तावित किया है।

2.1.6. शब्दावली

आक्रान्त	:	भयभीत
उन्नयन	:	उत्कर्ष
परिष्करण	:	शुद्धिकरण
शाश्वत	:	कालजयी

2.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, रामसेवक, मैथ्यू ऑर्नल्ड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
2. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. शर्मा, डॉ॰ देवेन्द्रनाथ, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
5. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.

7. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
8. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

2.1.8. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार संस्कृति और आलोचना किस प्रकार एक-दूसरे के पूरक हैं ?
2. काव्य के उत्कृष्ट विषय पर ऑर्नल्ड के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. "पाश्चात्य साहित्य में ऑर्नल्ड का महत्त्व ऐतिहासिक है।" प्रकाश डालिए।
4. आर्नल्ड ने वैयक्तिक आलोचना को हेय क्यों माना है ?
5. साहित्य के इतिहास और साहित्य की आलोचना में भेद कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "महान् काव्य के लिए विषयवस्तु उदात्त होनी चाहिए और शैली भव्य।" ऑर्नल्ड के इस कथन पर प्रकाश डालिए।
2. मैथ्यू ऑर्नल्ड की आलोचना दृष्टि का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार काव्य का मुख्य लक्ष्य है –

(क) मनोरंजन
(ख) आनन्द
(ग) सांस्कृतिक उन्नयन एवं परिष्करण
(घ) इनमें से कोई नहीं

2. 'क्रॉमवेल' के रचयिता हैं –

(क) अरस्तू
(ख) विलियम वर्ड्सवर्थ
(ग) सैम्युअल टेलर कॉलरिज
(घ) मैथ्यू ऑर्नल्ड

3. "कविता जीवन की आलोचना है।" यह मत किसका है ?

(क) कॉलरिज
(ख) मैथ्यू ऑर्नल्ड
(ग) लोंजाइनस
(घ) विलियम वर्ड्सवर्थ

4. मैथ्यू ऑर्नल्ड ने काव्य का अधिष्ठाता किसे माना है ?

(क) धर्म और राजनीति
(ख) समाज और संस्कृति
(ग) संस्कृति और मूल्य
(घ) इनमें से कोई नहीं

5. मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुसार काव्य का आशय है –

(क) जीवन की आलोचना
(ख) जीवन की पुनर्व्याख्या
(ग) जीवन का समग्रता से निरीक्षण-परीक्षण
(घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : प्रमुख विचारक – 2

इकाई – 2 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक बेनेदितो क्रोचे

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य कथन
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. बेनेदितो क्रोचे : व्यक्ति परिचय
  2.2.2.1. व्यक्तित्व
  2.2.2.2. कृतियाँ
2.2.3. बेनेदितो क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धान्त
  2.2.3.1. संवेदना और सहजानुभूति
  2.2.3.2. सहजानुभूति, अभिव्यंजना तथा अभिव्यक्ति
  2.2.3.3. कला सृजन की प्रक्रिया
  2.2.3.4. अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त
2.2.4. अभिव्यंजना सिद्धान्त की सीमाएँ
2.2.5. सारांश
2.2.6. शब्दावली
2.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.2.8. सम्बन्धित प्रश्न

2.2.0. उद्देश्य कथन

काव्यकला और सृजन के क्षेत्र में बाह्य जगत् के प्रतिमानों पर बल देने वाले विचारकों का चिन्तन वस्तुवादी है। लेकिन क्रोचे जैसे विचारक काव्य-चिन्तन की प्रक्रिया में बाह्य जगत् की भूमिका को लगभग नकार देते हैं। प्रस्तुत इकाई अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक बेनेदितो क्रोचे पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. बेनेदितो क्रोचे के काव्य-चिन्तन को समझ सकेंगे।
ii. अभिव्यंजना सिद्धान्त के आलोक में संवेदन, सहजानुभूति व अभिव्यक्ति की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. कला सृजन की प्रक्रिया का विवेचन कर सकेंगे।
iv. अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्तिवाद सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

भावना, बुद्धि (विचार) तथा कल्पना ये तीन तत्त्व ऐसे हैं जो प्रत्येक युग की कविता के साथ आत्यन्तिक रूप से सम्बद्ध रहे हैं। उनके साथ ही वह इन्द्रियबोध भी है जिसके माध्यम से कवि संसार से परिचित होता है और जिसकी गहरी छाप उसकी कविता में होती है। यही वे मूलभूत तत्त्व हैं जिनकी आधुनिक काव्य-चिन्तकों ने भी अपने ढंग से युग की बदलती हुई संवेदनाओं के अनुरूप व्याख्या की है। आधुनिक काव्य-चिन्तक इन तत्त्वों को अपनी व्याख्या से समन्वित कर सर्जना के प्रमुख तत्त्वों की पहचान करते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कतिपय सिद्धान्त बाह्य जगत् के प्रतिमानों के प्रति विशेष आकर्षण रखते हुए वस्तुवादी प्रतिमानों पर बल देते हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मपरकता पर बल देने वाले कुछ सौन्दर्यशास्त्रीय विचारक कलाकार की चेतना को केन्द्र में रखकर कला को ही मूलतः आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। स्वच्छन्दतावाद, कलावाद आदि सिद्धान्त इसी कोटि के हैं। इस परिप्रेक्ष्य में बेनेदितो क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' आत्मपरक काव्य-सिद्धान्तों की चरम सीमा पर रखा जा सकता है।

2.2.2. बेनेदितो क्रोचे : व्यक्ति परिचय

आधुनिक युग के पाश्चात्य विचारकों में बेनेदितो क्रोचे का महत्त्वपूर्ण योगदान है। काव्य-चिन्तन का जो स्वरूप उनके विवेचन में उभरकर सामने आया है, उससे उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का पता चलता है। क्रोचे के अनुसार बाह्य जगत् की घटनाएँ महत्त्वहीन हैं। मानव जीवन की तमाम क्रियाएँ चेतना के स्तर पर ही पूरी होती हैं। उल्लेखनीय है कि उनके समय में मार्क्सवादी विचारधारा भौतिकवाद की स्थापना करते हुए बाह्य जगत् और तत्सम्बन्धी सत्य को स्वीकारने पर बल दे रही थी। क्रोचे के पूर्ववर्ती कई विचारकों, खासकर प्रत्ययवादी विचारकों ने भी बाह्य जगत् की सत्ता पूरी तरह से नकारी नहीं थी। लेकिन, बेनेदितो क्रोचे अपने काव्यशास्त्रीय चिन्तन में केवल मन या चेतना के स्तर पर सत्य या तथ्य का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

2.2.2.1. व्यक्तित्व

बेनेदितो क्रोचे का जन्म सन 1886 ई. में नेपल्स (इटली) में हुआ। वे बचपन से ही तार्किक प्रवृत्ति व अध्ययनशील प्रवृत्ति के थे। बचपन में धर्म के प्रति उनकी कोई आस्था नहीं थी, लेकिन आगे समय बीतने के साथ रोम विश्वविद्यालय में दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र व नीतिशास्त्र का अध्ययन करते हुए उनका चिन्तन क्रमश: अमूर्तता और आत्मपरकता की ओर प्रशस्त हुआ। अन्ततः बाह्य जगत् को पूर्ण निरर्थक मानते हुए वे चेतना को परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तथा यह मत स्थापित करते हैं कि मानव जीवन की सारी क्रियाएँ मूलतः चेतना के स्तर पर ही सम्पन्न होती हैं। उनके अनुसार कला का सृजन भी चेतना के स्तर पर ही आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है।

2.2.2.2. कृतियाँ

बेनेदितो क्रोचे का लेखन बहुआयामी था और वे आजीवन गहन अध्ययन व लेखन में सक्रिय रहे। उनका लेखन दर्शनशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, इतिहास, तर्कशास्त्र आदि विषयों पर केन्द्रित है। वर्ष 1900 ई. में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था – 'एस्थेटिक ऐज़ द साइंस ऑफ एक्सप्रेशन एंड जनरल लिंग्विस्टिक्स'। उसके दो साल बाद उनकी बहुचर्चित पुस्तक 'एस्थेटिक' प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने 'अभिव्यंजना सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है। उसी वर्ष उन्होंने 'लॉ क्रितीका' नामक पत्रिका भी निकाली। आगे चलकर उनके द्वारा रचित सौन्दर्यशास्त्रीय निबन्धों का संग्रह 'न्यू एस्सेज़ ऑन एस्थेटिक' का प्रकाशन 1920 ई. में हुआ। स्मरणीय है कि सौन्दर्यशास्त्रीय प्रमुख स्थापनाओं में 'अभिव्यंजनावाद' को बेनेदितो क्रोचे का सबसे बड़ा रचनात्मक अवदान माना जाता है।

2.2.3. बेनेदितो क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धान्त

बेनेदितो क्रोचे द्वारा स्थापित 'अभिव्यंजना सिद्धान्त' एक कला सिद्धान्त है जिसका सम्बन्ध मूलतः सौन्दर्यशास्त्र से है। उनकी धारणा है कि कलाकार अपनी कलाकृति में अपने अन्तर की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति विचारात्मक होती है, इसलिए उसका स्वरूप उसके मानस में मौजूद होता है तथा बाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। बाह्य जगत् केवल बिम्ब-निर्माण में सहायक हो सकता है।

'अभिव्यंजनावाद' को समझने के लिए क्रोचे की चेतना सम्बन्धी अवधारणा का परिचय आवश्यक है। क्रोचे यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन की विभिन्न क्रियाएँ चेतना के स्तर पर सम्पन्न होती हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में चेतना ही परम सत्य है। जीवन की सैद्धान्तिक (सहजानुभूति अभिव्यंजना और अवधारणात्मक) और व्यावहारिक क्रियाएँ (सामान्य स्वेच्छाचालित और नैतिक) इसी के द्वारा संचालित होती हैं। वे विभिन्न क्रियाओं के क्रम का निर्धारण भी करते हैं। सहजानुभूति अभिव्यंजना इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैजबकि नैतिक क्रियाओं का क्रम सबसे बाद में आता है।

2.2.3.1. संवेदना और सहजानुभूति

बेनेदितो क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धान्त चेतना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्रिया सहजानुभूति अभिव्यंजना पर आधारित है। क्रोचे ने कहा है कि रचनाकार की सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही रचना। यह सहजानुभूति विभिन्न संवेदनों के माध्यम से होती है। सामान्यतः 'संवेदना' और 'अनुभूति' को एक ही अर्थ में ग्रहण किया जाता है। अनुभूति का सम्बन्ध अनुभव या चेतना से होता है। लेकिन, संवेदन को अनुभूति से अलग मानते हुए क्रोचे ने उसे चेतना से पूर्व क्रिया की संज्ञा प्रदान की है। इस तरह संवेदन तो अपरूप होते हैं तथा चेतना ही उनकी पहचान को रूपायित करती है।

चेतना का सम्बन्ध कहीं-न-कहीं बोध यानी ज्ञान से जुड़ा हुआ है, इसलिए क्रोचे की प्रबल धारणा है कि चेतना के अभाव में सहजानुभूति सम्भव नहीं है। चेतना के सक्रिय होने पर ही सहजानुभूति हो सकती है। कला सृजन में यह शक्ति बेहद प्रभावशाली है। बोध भावपरक होता है तथा संवेदनों को सहजानुभूति में परिवर्तित करता है। मनुष्य के हृदय में यह संवेदनों के बिम्ब के रूप में आता है और इस प्रकार के बिम्बों के संश्लेषण से ही अन्ततः कला का सृजन होता है।

बेनेदितो क्रोचे की मान्यता है कि सामान्य व्यक्ति और कलाकार दोनों में सहजानुभूति होती है। हालाँकि, दोनों की सहजानुभूति की मात्रा में अन्तर होता है। कलाकार की सहजानुभूति अधिक व्यापक एवं विस्तृत होती है। क्रोचे कवि या सामान्य व्यक्ति की गुण या प्रतिभा का कोई अन्तर नहीं मानते। उनकी स्थापना है कि प्रकृति की अनुकृति का वास्तविक अर्थ सहजानुभूति ही है। इस प्रकार 'अभिव्यंजना' को ही वे 'कला' स्वीकार करते हैं। क्रोचे की स्थापना को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है –

(i) बाह्य जगत् का असर इन्द्रियों पर संवेदनों के रूप में पड़ता है।

(ii) केवल चेतना सक्रिय होने पर ही संवेदनों का बोध होता है। कल्पना शक्ति के माध्यम से ही चेतना सक्रिय होती है।

(iii) संवेदनों का बोध ही सहजानुभूति है। इसमें बुद्धि तथा तर्क की शक्तियों और विश्लेषण या वर्गीकरण की क्रियाओं का कोई स्थान नहीं होता।

(iv) व्यक्ति को चेतना द्वारा ही बाह्य जगत् की प्रतीति और बोध होता है। इस प्रकार चेतना ही अन्तिम सत्य है।

2.2.3.2. सहजानुभूति, अभिव्यंजना तथा अभिव्यक्ति

बेनेदितो क्रोचे सहजानुभूति और अभिव्यंजना को अभिन्न स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ये मानसिक क्रियाएँ हैं। बाह्य जगत् में इनका मूर्त होना आवश्यक नहीं है। वे कला को भी अभिव्यंजना के स्तर पर पूर्ण स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में वे 'अभिव्यंजना' को ही कला कहते हैं।

'सौन्दर्यवाद' की व्याख्या करते हुए क्रोचे उसके चार स्तरों की परिकल्पना करते हैं – अन्तःसंस्कार अथवा आत्मसंवेदन, अभिव्यंजना, आनुषंगिक आनन्द और अभिव्यक्ति। उनके विचार में किसी भी कलाकृति को देखकर मन पर पड़ने वाले सहज प्रभाव और उससे उठने वाली विभिन्न संवेदनाएँ अन्तःसंस्कार के अन्तर्गत आती हैं। सहजानुभूति का जन्म इसी अन्तःसंस्कार से होता है।

अभिव्यंजना को स्वयंप्रकाश ज्ञान या सौन्दर्य भी कहा गया है। यह सौन्दर्य संवेगों से भिन्न होता है। संवेग क्षणिक और अरूप होते हैं जो सौन्दर्य का रूप तभी ग्रहण करते हैं जब किसी बिम्ब के रूप में सामने आते हैं। स्वयंप्रकाश ज्ञान किसी बौद्धिक प्रक्रिया अथवा विचारधारा पर आधारित है, यह आत्मा की सहज क्रिया है। क्रोचे सौन्दर्य का आधार अभिव्यंजना को स्वीकार करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि जैसे स्वयंप्रकाश ज्ञान सहज

अनुभूति का विषय है, ठीक उसी प्रकार कला भी सहज अनुभूति पर आधारित है। कलात्मक अनुभूतियाँ अपनी प्रकृति में यद्यपि व्यापक एवं जटिल होती हैं, तथापि वे स्वयंप्रकाश ज्ञान ही हैं।

अभिव्यंजना से आनन्द की अनुभूति होती है अथवा इसे यूँ कहा जाए कि अभिव्यंजना के अवसर पर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है जो उस भाव को अभिव्यक्त करने के लिए उसे अभिप्रेरित करता है।

बेनेदितो क्रोचे की अवधारणा के अनुसार प्रत्येक सहजानुभूति अवश्य ही अभिव्यक्त होती है। अभिव्यक्ति से उनका अभिप्राय केवल शाब्दिक व्यंजना से नहीं है अपितु रूप, रंग, रेखा, ध्वनि आदि अशाब्दिक व्यंजनाओं से भी है। इस तरह सहजानुभूति आवश्यक रूप से अभिव्यंजना ही है और इन दोनों में भेद नहीं किया जा सकता है। सहजानुभूति और अभिव्यक्ति के तादात्म्य पर प्रकाश डालते हुए स्टॉक जेम्स ने स्पष्ट किया है कि "क्रोचे के दर्शन में कला सहजानुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं अथवा वह मानस के अन्दर प्रभावों की अभिव्यक्ति है।" सहजानुभूति तब कला होती है जब 'आत्म' सहजानुभूति में रमता है और सिर्फ पूर्ण अभिव्यक्ति की क्रिया में एकाग्र होता है।

अभिव्यंजना पूर्णत: आन्तरिक वस्तु है। जब कवि के हृदय में वस्तु का बिम्ब या रूप स्पष्ट हो जाता है तब उसका कार्य पूरा हो जाता है। इस आन्तरिक भाव को अभिव्यक्त करना आवश्यक नहीं है। कला सदैव आन्तरिक होती है तथा जिसे बहिर्गत कहा जाता है, वह कलाकृति नहीं। कला भले ही आन्तरिक वस्तु है, लेकिन कुछ पल ऐसे होते हैं जिन्हें बाँधने के लिए कलाकार व्याकुल हो उठता है। उसे विभिन्न अनुशासनों तथा वर्जनाओं के अन्तर्गत अपनी कला को सचेत भाव से सँवारना पड़ता है। उस स्थिति में कला सहज सौन्दर्य सृष्टि न होकर सामाजिक उपभोग हेतु एक उपयोगी वस्तु मात्र बनकर रह जाती है। साथ ही सौन्दर्यशास्त्र से हटकर वह समाजशास्त्र की परिधि में आ जाती है।

संवेदन कला के लिए पहली शर्त है। जब चेतना की क्रिया या कल्पना का योग संवेदनों में होता है तब वह सहजानुभूति अभिव्यंजना में परिवर्तित हो जाती है। रचनाकार रंग, कूची, शब्द, प्रस्तरखण्ड आदि का सहारा लेकर अपनी आन्तरिक अनुभूति को स्थूल रूप देता है तथा बाह्यकरण की इस प्रक्रिया के माध्यम से सहजानुभूतियों को नष्ट होने से बचाता है।

2.2.3.3. कला सृजन की प्रक्रिया

बेनेदितो क्रोचे की स्थापना है कि कलात्मक अनुभूति का क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक होता है। हालाँकि, अपनी कार्यप्रणाली में वह साधारण सहजानुभूति से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार उसका अन्तर तीव्रता नहीं प्रत्युत विस्तार में है। उनके अनुसार जिस प्रकार एक प्रस्तरखण्ड जिन रासायनिक तत्त्वों से निर्मित होता है, उन्हीं से ऊँचे-ऊँचे पर्वतों का भी निर्माण होता है, ठीक उसी प्रकार जीवनानुभूति और कल्पनात्मक अनुभूति में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है। क्रोचे कलाकृति की एकता और अखण्डता में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार कला-सृजन की प्रक्रिया मानसिक स्तर पर ही बिम्बविधान के माध्यम से पूरी हो जाती है। बाह्य जगत् में काव्य, चित्र,

संगीत, मूर्ति आदि के रूप में उसकी अभिव्यक्ति एक अतिरिक्त व अनावश्यक क्रिया है। वे कला की सृजन-प्रक्रिया के चार चरणों का प्रतिपादन करते हैं –

(i) प्रथम चरण में बाह्य जगत् के उद्दीपन व्यक्ति की संवेदना को स्पर्श करते हैं, किन्तु उसे उनका बोध नहीं होता। इस प्रकार इस चरण का सम्बन्ध अमूर्त संवेदनों के स्तर से है।

(ii) द्वितीय चरण चेतना के सक्रिय होने से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत कल्पना के माध्यम से व्यक्ति की चेतना सक्रिय होती है और उसे संवेदनों का बोध होने लगता है। इस बोध के साथ ही उन संवेदनों के संश्लेषण तथा अन्वय की क्रिया भी संचालित होती है जो सहजानुभूति-अभिव्यंजना का स्तर है।

(iii) तृतीय चरण को क्रोचे 'प्रगीतात्मक सहजानुभूति' की संज्ञा प्रदान करते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण चरण है। द्वितीय चरण के संश्लेषण और अन्वय की प्रक्रिया के माध्यम से इस चरण में व्यक्ति के मानस में उन संवेदनों के बिम्ब बन जाते हैं और मन ही मन में वह शब्द संयोजना आकार या रेखाओं की परिकल्पना या संगीत के माध्यम से कलाकृति गढ़ लेता है।

(iv) चतुर्थ चरण वैकल्पिक प्रकृति का होता है यानी इसके होने अथवा न होने से कला के सृजन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः इस चरण में मानसिक स्तर पर पूर्ण कला काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है। बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होने पर कला पर अनेक राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक आदि अनुशासनों के नियन्त्रण लागू होने लगते हैं तथा उसका स्वतन्त्र स्वरूप तथा स्वायत्तता नष्ट हो जाती है, इसलिए वह कला न रहकर उपयोगिता की एक वस्तु बनकर रह जाती है। क्रोचे ऐसी स्थिति को अवांछनीय मानते हैं।

2.2.3.4. अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त

प्रख्यात आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पाश्चात्य तथा भारतीय काव्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन व विश्लेषण के निहितार्थ बेनेदितो क्रोचे के 'अभिव्यंजना सिद्धान्त' और भारतीय काव्य-चिन्तक कुन्तक के 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' का विवेचन किया है। उनके अनुसार इन दोनों स्थापनाओं में कई बिन्दुओं पर साम्य है। इसी से अभिव्यंजना सिद्धान्त को वे 'भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' कहते हैं। हालाँकि, परवर्ती समीक्षक इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हैं तथा उनकी दृष्टि में 'अभिव्यंजनावाद' व 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' में जो साम्य दिखता है वह सतही है। अवधारणात्मक स्तर पर इनमें साम्यता की कोई प्रतीति नहीं होती। उदाहरण के लिए एक ही शब्द 'अभिव्यक्ति' का प्रयोग कुन्तक तथा क्रोचे भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं। कुन्तक के 'वक्रोक्ति' की जहाँ बाह्य जगत् में सिद्धि होती है, वहीं क्रोचे 'अभिव्यंजना' को मानसिक स्तर पर ही सिद्ध मान लेते हैं। 'अभिव्यंजनावाद' तथा 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' के साम्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है –

(i) 'वक्रोक्ति' व 'अभिव्यंजना' सिद्धान्त मूलतः कलावादी हैं तथा ये दोनों ही साहित्य अथवा काव्य को सौन्दर्यशास्त्र की कसौटी पर ही जाँचने के पक्षपाती हैं।

(ii) दोनों स्थापनाओं में 'कल्पना' को प्रमुखता दी गई है। कुन्तक जहाँ 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा मानते हुए कल्पना की आवश्यकता पर विशेष बल देते हैं, वहीं क्रोचे संवेदनों को सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदलने हेतु कल्पना की भूमिका अनिवार्यत: स्वीकार करते हैं।

(iii) सैद्धान्तिक विवेचन के अनुक्रम में कुन्तक तथा क्रोचे दोनों ही क्रमश: वक्रोक्ति और अभिव्यंजना को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में स्थापित करते हैं तथा उसके वर्गीकरण के खिलाफ हैं।

उपर्युक्त समानताएँ होने के साथ ही अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त में पर्याप्त वैषम्य भी है। ये विषमताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) क्रोचे तथा कुन्तक की कला सम्बन्धी अवधारणा पृथक्-पृथक् है। क्रोचे कला को अपने आप में सम्पूर्ण तथा स्वयं अपना लक्ष्य मानते हैं। साथ ही, वे कला के सामाजिक सन्दर्भ तथा सरोकार को पूरी तरह नकारते हैं। लेकिन, कुन्तक के यहाँ कला साधन है, साध्य नहीं। उनके अनुसार कला उपयोगिता और नैतिकता से भी जुड़ी हुई है।

(ii) क्रोचे के अनुसार जहाँ कला होती है, वहाँ आनन्द भी अनिवार्यत: होता है जबकि कुन्तक आनन्द को कला का प्रयोजन स्वीकार करते हैं।

(iii) कुन्तक की दृष्टि में कला सोद्देश्य होती है जबकि क्रोचे की मान्यता है कि सोद्देश्य होने पर कला में सहजता नहीं रह जाती है।

(iv) क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना या कला मानसिक स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है इसलिए वे उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को अनावश्यक एवं अतिरिक्त क्रिया मानते हैं जबकि कुन्तक का मानना है कि अभिव्यंजना का मतलब ही अभिव्यक्ति है यानी मानसिक स्तर पर रची हुई उक्ति का बाह्य जगत् में प्रकटीकरण।

(v) क्रोचे की दृष्टि में कला सहज है इसलिए यह सहजानुभूति है। परन्तु कुन्तक कला को आयास-साध्य मानते हैं। उनके अनुसार उक्ति में विदग्धता, विचित्रता तथा चमत्कार पैदा करने हेतु कलाकार को आवश्यक प्रयास करना ही पड़ता है।

(vi) क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना कभी असफल नहीं होती है इसलिए श्रेष्ठता के आधार पर कृतियों का विभाजन अथवा वर्गीकरण नहीं होता। जबकि कुन्तक स्वीकार करते हैं कि विभिन्न कृतियों की गुणवत्ता में अन्तर होता है।

कुन्तक तथा क्रोचे की जीवनदृष्टि व कलादृष्टि एक समान न होकर अलग-अलग है। सैद्धान्तिक स्थापनाओं के विवेचन क्रम में कहीं-कहीं शब्दावली साम्य की प्रतीति उनमें अवश्य होती है, लेकिन उन शब्दावलियों के निहितार्थ गहरे नहीं हैं। इसलिए 'अभिव्यंजनावाद' व 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' को एक ही श्रेणी में रखने की बजाय अलग-अलग श्रेणियों में रखना उचित होगा।

2.2.4. अभिव्यंजना सिद्धान्त की सीमाएँ

बेनेदितो क्रोचे मूलतः साहित्यशास्त्री न होकर दार्शनिक व सौन्दर्यशास्त्री हैं। उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र को बहुत व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है। उनकी 'अभिव्यंजनावादी' स्थापना में सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ उनकी समीक्षादृष्टि भी परिलक्षित होती है। अपनी सैद्धान्तिक व्याख्या में वे बाह्य अभिव्यक्ति को पूरी तरह नकारते हुए मानसिक स्तर पर ही कला को सम्पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। इस तरह उनकी अभिव्यंजनावादी स्थापना पारम्परिक कलावाद की अतिशय सीमा को भी लाँघ देती है।

क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' में निहित आत्मपरकता तथा इससे जुड़ी हुई मान्यताओं का परवर्ती विचारकों व समीक्षकों ने अत्यन्त गहराई से अध्ययन एवं विवेचन किया है। अभिव्यंजना सिद्धान्त की सीमाओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) अभिव्यंजनावाद की मान्यताएँ कला के अमूर्त रूप से जुड़ी हुई हैं, जबकि कला का क्षेत्र मूर्त है। यदि कला की अभिव्यक्ति मन में बिम्बों के रूप में पूर्ण हो जाती है तो उसे बाह्य जगत् के सम्मुख लाने की क्या आवश्यकता है। इस सवाल का जवाब भी अभिव्यंजनावाद में नहीं मिलता है।

(ii) अभिव्यंजनावाद में प्रवर्तक बेनेदितो क्रोचे ने कतिपय शब्दों का स्वेच्छापूर्वक अर्थ ग्रहण किया है। परिणामस्वरूप उनके सैद्धान्तिक विवेचन में बहुत दुरूहता आ गई है। उदाहरण के तौर पर उन्होंने कला, सहजानुभूति, अभिव्यंजना, सौन्दर्य, कल्पना आदि को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया है जबकि इन सभी शब्दों के अपने गहरे निहितार्थ हैं।

(iii) बेनेदितो क्रोचे सहजानुभूति को बौद्धिकता से रहित मानते हैं लेकिन व्यावहारिक जीवनदृष्टि में इस पार्थक्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(iv) प्रत्येक रचनाकार जीवन को अपने ढंग से, अपनी दृष्टि से देखता है तथा अपनी कृति में उसी दृष्टि को अभिव्यक्त करता है लेकिन अभिव्यंजनावाद में इसका उल्लेख नहीं है।

(v) क्रोचे बाह्य स्तर पर कला की अभिव्यक्ति को 'स्मृति की सहायक' मात्र स्वीकार करते हैं। लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे किसकी स्मृति की बात कर रहे हैं।

(vi) क्रोचे सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचना के अनुक्रम में समीक्षा कर्म की भी चर्चा करते हैं, किन्तु किसी कृति की समीक्षा तभी सम्भव है जब वह बाह्य जगत् में अभिव्यक्त हो। ऐसी अभिव्यक्ति को उन्होंने कलाकृति से अतिरिक्त और प्रासंगिक मात्र माना है। इस तरह समीक्षा कर्म की चर्चा करते हुए क्रोचे प्रकारान्तर से उसे सौन्दर्यशास्त्र का एक महत्त्वहीन और अनावश्यक प्रसंग मात्र मानते हैं।

किन्तु उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद भी पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन में बेनेदितो क्रोचे के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। आत्मपरक दृष्टि पर अतिरिक्त बल देकर उन्होंने साहित्य और कला को घोर वस्तुपरकता की परिधि से बाहर निकालने में बहुत हद तक सफलता प्राप्त की है। तत्युगीन समीक्षा में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति बढ़ गई थी। इससे कृति का समग्र सौन्दर्य उपेक्षित रह जाता था। क्रोचे ने एक सौन्दर्य वस्तु

के रूप में रचना की समग्रता और संश्लिष्टता के महत्त्व को रेखांकित करने का प्रयास किया। काव्य में अलंकरण की प्रवृत्ति को अनावश्यक मानते हुए क्रोचे ने रचना की अन्तर्वस्तु और उसकी पहचान पर अधिक बल दिया। साथ ही, रचना तथा आलोचना की भाषा की जीवन्तता और गतिशीलता के आलोक में उन्होंने भाषा की शक्ति व सम्भावनाओं को उजागर किया है।

2.2.5. सारांश

पाश्चात्य काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही सौन्दर्यतत्त्व की विवेचना होती रही है। बेनेदितो क्रोचे ने सौन्दर्य को कला एवं साहित्य के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में केवल सौन्दर्य की खोज तथा निरूपण ही कला का उद्देश्य है। इसीलिए अभिव्यंजनावाद में आदर्शवादी सौन्दर्य दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (वस्तुवादी दृष्टि) को क्रोचे स्वीकार नहीं करते हैं। वे मन और उसकी मानसिक क्रियाओं के व्यापार से सम्बन्धित अन्तर्मुखी चेतना के दर्शन का महत्त्व प्रतिष्ठापित करते हैं जिसका साहित्य-समीक्षा तथा कला-दर्शन पर व्यापक एवं विस्तृत प्रभाव पड़ा। अभिव्यंजना सिद्धान्त में उन्होंने 'सहजानुभूति' को स्वतःस्फूर्त माना है। सहजानुभूति और कला को अभिन्न मानते हुए उन्होंने सामान्य अनुभूति और कलानुभूति में कोई भेद स्वीकार नहीं किया है।

2.2.6. शब्दावली

आत्मवादी	:	आत्मकेन्द्रित
वस्तुवादी	:	वस्तुजगत्-केन्द्रित
अनुभूति	:	चेतना
अन्तर्वस्तु	:	कथ्य

2.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सुधांशु डॉ॰ लक्ष्मीनारायण, काव्य में अभिव्यंजनावाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.
2. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. शर्मा, डॉ॰ देवेन्द्रनाथ, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
5. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
8. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

2.2.8. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बेनेदितो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की मूल स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।
2. अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त के वैषम्य को स्पष्ट कीजिए।
3. चेतना की मूलभूत क्रियाओं को समझाइए।
4. बेनेदितो क्रोचे ने सौन्दर्यवाद की व्याख्या किस प्रकार की है ?
5. अभिव्यंजना के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "क्रोचे के दर्शन में कला सहजानुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं अथवा वह मानस के अन्दर प्रभावों की अभिव्यक्ति है।" उक्त कथन का परीक्षण कीजिए।
2. "बेनेदितो क्रोचे कला को नैतिक बन्धनों से स्वतन्त्र मानकर भी स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय नहीं देता।" युक्तियुक्त टिप्पणी कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'अभिव्यंजनावाद' को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त का विलायती उत्थान किसने कहा है ?

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
(ग) डॉ॰ रामविलास शर्मा
(घ) डॉ॰ नगेन्द्र

2. 'न्यू एस्सेज़ ऑन एस्थेटिक' का प्रकाशन कब हुआ ?

(क) 1905 ई. में
(ख) 1910 ई. में
(ग) 1915 ई. में
(घ) 1920 ई. में

3. क्रोचे के अनुसार कला की प्रक्रिया होती है –

(क) सोची-समझी
(ख) बिना सोची-समझी
(ग) थोपी हुई
(घ) उपर्युक्त सभी

4. क्रोचे की स्थापनाओं में 'अभिव्यंजना' है –

(क) एक खण्डित इकाई
(ख) एक अखण्डित इकाई
(ग) उपर्युक्त दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं

5. क्रोचे के मतानुसार भाषा का स्वरूप होता है –

(क) स्थिर
(ख) गतिशील
(ग) पारम्परिक
(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : प्रमुख विचारक – 2

इकाई – 3 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक टी. एस. एलियट

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य कथन
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. टी. एस. एलियट : व्यक्ति परिचय
 2.3.2.1. व्यक्तित्व
 2.3.2.2. कृतियाँ
2.3.3. टी. एस. एलियट की अवधारणा
 2.3.3.1. परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा
 2.3.3.2. निर्वैयक्तिकता
 2.3.3.3. मूर्त विधान
2.3.4. टी. एस. एलियट का काव्य-चिन्तन : समीक्षा
 2.3.4.1. आलोचना का मूल प्रतिपाद्य
 2.3.4.2. प्रभाववादी समीक्षा का विरोध
 2.3.4.3. आलोचना का आधार
2.3.5. टी. एस. एलियट के काव्य-चिन्तन के महत्त्वपूर्ण आयाम
 2.3.5.1. संश्लिष्ट संवेदनशीलता
 2.3.5.2. काव्यभाषा
 2.3.5.3. काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान
2.3.6. सारांश
2.3.7. शब्दावली
2.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.3.9. सम्बन्धित प्रश्न

2.3.0. उद्देश्य कथन

बीसवीं सदी के दो विश्वयुद्धों की विकट मानवीय त्रासदी के बीच एलियट का काव्य-चिन्तन परम्परा और आधुनिकता के अर्थ व सम्बन्ध को एक नया सन्दर्भ प्रदान करता है। प्रस्तुत इकाई पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन और आलोचना के क्षेत्र में एलियट के अवदान पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. टी. एस. एलियट की परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता व मूर्तविधान सम्बन्धी अवधारणा को समझ सकेंगे।
ii. उनके समीक्षा सिद्धान्त की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

iii. टी.एस. एलियट के काव्य-चिन्तन के विविध आयामों का अनुशीलन कर सकेंगे।

2.3.1. प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की सुविकसित परम्परा में टी. एस. एलियट ने काव्यसम्बन्धी बुनियादी सवालों पर यद्यपि परम्परागत पद्धति से भिन्न नये विचारों का प्रतिपादन किया है, किन्तु विचारों के नयेपन के बावजूद काव्यसम्बन्धी उनके चिन्तन को ऐसे कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत सुविधापूर्वक रखा जा सकता है जो कविता या साहित्य-विवेचन के सिलसिले में परम्परा से उल्लेखनीय रहे हैं। सैद्धान्तिक तौर पर टी. एस. एलियट ने जहाँ एक ओर काव्य-विषय के क्षेत्र को संकीर्ण बनाने का विरोध किया है, वहीं दूसरी ओर काव्य-चिन्तन में उन्हीं विषयों को ग्रहण करने पर बल दिया है जिनके साथ रचनाकार का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सके। कविता के विषय और काव्य-वस्तु के सम्बन्ध में उनके विचार सार्थक हैं।

2.3.2. टी. एस. एलियट : व्यक्ति परिचय

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विलियम वर्ड्सवर्थ, सैम्युअल टेलर कॉलरिज, शेली आदि विचारकों ने जिस आलोचना का सूत्रपात किया था उसमें कवि व्यक्तित्व, भावना, कल्पना आदि की प्रमुखता रही। इसी सदी के उत्तरार्द्ध में कला का अतिवादी रूप हावी रहा। लेकिन बीसवीं शताब्दी की पाश्चात्य कविता की तरह पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में टी. एस. एलियट का आगमन होता है। रचनाकार और आलोचक टी. एस. एलियट ने न केवल अपने युग की साहित्यिक अभिरुचि का संस्कार-परिष्कार किया, अपितु तत्युगीन दरबारी काव्य-परम्परा के निकृष्ट रीतिवादी संस्कारों से काव्य को मुक्ति दिलाने की सार्थक पहल भी की।

2.3.2.1. व्यक्तित्व

टी. एस. एलियट का जन्म 26 सितंबर 1888 को सेंटलुई (अमेरिका) में हुआ। हार्वर्ड विश्वविद्यालय से उन्होंने 1910 ई. में एम.ए. किया तथा वहीं के साहित्यिक वातावरण में उन्होंने काव्य-सृजन आरम्भ किया। बाद में पेरिस और लंदन जाकर उन्होंने अपनी अकादमिक शिक्षा पूर्ण की। वर्ष 1948 ई. में उन्हें प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में समीक्षा को प्रभावित करने वाले विचारक टी. एस. एलियट का 04 जनवरी, 1965 ई. को निधन हो गया।

2.3.2.2. कृतियाँ

टी. एस. एलियट को विवादास्पद पाश्चात्य समीक्षक माना जाता है। इनके कवि, कविता, दर्शन, साहित्य, समीक्षा आदि से सम्बन्धित मत महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ विवादास्पद भी हैं। उल्लेखनीय है कि हिन्दी साहित्य जगत् के प्रयोगवादियों पर इनका अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। टी. एस. एलियट की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना "Tradition and Individual Talent" है जिसमें साहित्य की आधारभूत एवं मौलिक समस्याओं

को आधारभूत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उनकी काव्य कृतियों में 'दि लव सांग ऑफ एल्फौर्ड प्रूफ्रांक' (1915), 'दि वेस्टूलैंड' (1922), 'फॉर क्वार्टर्स' (1943); नाट्य कृतियों में 'मर्डर इन द कैथिड्रल' (1935), 'दि फैमली रियूनियन' (1939) तथा 'दि कॉकटेल पार्टी' (1950); आलोचनात्मक रचनाओं में 'दि सेक्रेड वुड' (1920), 'होमेज टु जॉन ड्राइडन' (1924), 'एलिजबेथेन एसेज़' (1932), 'दि यूज ऑफ पोएट्री एंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज़्म' (1933), 'सेलेक्टेड एसेज़' (1934), और 'एसेज़ एन्शेंट एण्ड मॉडर्न' (1936) बहुत चर्चित हैं। वर्ष 1922 ई. में उन्होंने त्रैमासिक पत्रिका 'क्राइटेरियन' की स्थापना की तथा उसका सम्पादन दायित्व भी संभाला। एलियट के साहित्यिक व्यक्तित्व के विस्तार में इस पत्रिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

2.3.3. टी. एस. एलियट की अवधारणा

दो विश्वयुद्धों के बीच रचना-कर्म में सक्रिय टी. एस. एलियट के चिन्तन में परम्परा और आधुनिकता का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर एक ओर जहाँ दांते, एलिजाबेथेन तथा जैकोबियन नाटक का प्रभाव है, वहीं दूसरी ओर उन्नीसवीं सदी के प्रतीकवादियों से उनकी शैली प्रभावित हुई। कहना सही होगा कि आलोचक के रूप में एलियट ऐसे चिन्तक हैं जिन्होंने अपनी पीढ़ी की अभिरुचि और विस्तार चेतना को बहुत दूर तक अभिप्रेरित किया है। सर्जक की दृष्टि से उन्हें जो काव्य-चिन्तन ग्रहण करने योग्य प्रतीत हुआ है, वे केवल उसी को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि पूर्ववर्ती विचारों से प्रभावित होने के बावजूद भी टी. एस. एलियट की अवधारणा किसी का अनुगमन नहीं करती है।

2.3.3.1. परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा

स्वच्छन्दतावादी परम्परा में कवि की प्रतिभा और अन्तःप्रेरणा को ही कला-सृजन का मूल आधार माना गया है। टी. एस. एलियट इस मत का विरोध करते हैं। आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा के रचनात्मक सम्बन्ध का प्रभावशाली चिन्तन वस्तुतः तत्युगीन यूरोप के बौद्धिक परिवेश की उपज है। पूर्ववर्ती काव्य-चिन्तन के आलोक में 'परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' टी. एस. एलियट का एक बहुचर्चित निबन्ध है जिसमें उन्होंने सभ्यता के संकट को उसके मूलभूत दायरे में समझकर व्याख्यायित किया तथा परम्पराओं में रूढ़ि तथा मौलिकता के बीच भेद को अपने चिन्तन के केन्द्र में रखा। उनके अनुसार परम्परा के अभाव में कवि छाया मात्र है और उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है। परम्परा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है जिसके बिना हम वर्तमान को नहीं समझ सकते हैं। उनकी 'परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' सम्बन्धी स्थापनाओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) टी. एस. एलियट के अनुसार परम्परा का विस्तार देश और काल दोनों में होता है। यह कोई मृत वस्तु नहीं है, अपितु एक प्रकार की निरन्तरता है जो अतीत के साहित्यिक-सांस्कृतिक धरोहर के महत्त्वपूर्ण अंश से वर्तमान को सम्पन्न और सार्थक बनाती है। साथ ही, भविष्य हेतु मार्ग प्रशस्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी करती है।

(ii) परम्परा पर चिन्तन करते हुए एलियट ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक प्रजाति की अपनी रचनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक मानसिकता भी हुआ करती है।

(iii) उन्होंने बल देकर कहा है कि अतीत को वर्तमान से उसी तरह परिवर्तित होना चाहिए जिस तरह वर्तमान अतीत से नियन्त्रित और निर्देशित होता है।

(iv) किसी कवि की कृति के श्रेष्ठ ही नहीं, बल्कि सर्वथा वैयक्तिक पक्ष भी वही होते हैं जिनमें उसके पहले के रचनाकारों का प्रभाव प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त हुआ होता है। व्यक्तिगत प्रज्ञा परम्परा से असम्बद्ध विषय नहीं है। परम्परा से गहरे अर्थों में जुड़कर ही एक रचनाकार अपनी वैयक्तिक सामर्थ्य को प्रभावशाली तरीके से अभिव्यक्त कर सकता है।

(v) परम्परा का रचनाकार के साथ एक संघर्ष-संवाद निरन्तर चलता रहता है। कवि के लिए परम्परा साँस की तरह सहज, स्वाभाविक, अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है।

(vi) परम्परा के प्रति लगाव 'अन्धानुकरण' का पर्याय नहीं है, क्योंकि अन्धानुकरण में मौलिकता नष्ट हो जाती है। उनके अनुसार परम्परा को केवल विरासत के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसकी प्राप्ति के लिए कठोर साधना अनिवार्य है।

(vii) परम्परा बोध का अभिप्राय 'इतिहासबोध' है, इसलिए रचनाकार को इतिहासबोध आवश्यक है। इस सन्दर्भ में एलियट की स्पष्ट धारणा है कि इतिहासबोध का तात्पर्य अतीत के अतीत्व का ही नहीं है, अपितु उसकी वर्तमानता का अनुभव भी है। इतिहासबोध अपनी पीढ़ी के रचनाकर्म को ध्यान में रखकर लिखना नहीं है। उसमें होमर से लेकर पूरे यूरोप के साहित्य, साथ ही अपने देश के समग्र साहित्य, दोनों का अस्तित्व हुआ करता है। इतिहासबोध ही कवि को परम्परासम्मत बनाता है।

(viii) रचनाकार के लिए अतीत की चेतना को विकसित किया जाना अपेक्षित है। उसकी प्रगति निरन्तर आत्मबलिदान में है। व्यक्तित्व के इस निर्वैयक्तिककरण से ही कला विज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर सकती है।

2.3.3.2. निर्वैयक्तिकता

टी. एस. एलियट की स्थापना के अनुसार कविगत भाव और काव्यगत भाव की प्रकृति में आधारभूत अन्तर होता है। एलियट पर एजरा पाउंड के विचारों का व्यापक प्रभाव है। एजरा पाउंड की मान्यता है कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है। एलियट 'निर्वैयक्तिकता' की सैद्धान्तिक व्याख्या इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने इसका अर्थ कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का 'सामान्यीकरण' बताया है। तदनुसार कवि अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहण क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को एक प्रकार से आयात कर लेता है जो उसकी निजी अनुभूतियाँ हो जाती हैं। उसके बाद जब वह आयातित अनुभवों को अपने स्वचिन्तन द्वारा काव्य में अभिव्यक्त करता है तो वे उसके निजी अनुभव होते हुए भी सबके अनुभव बन जाते हैं।

टी. एस. एलियट के 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त' की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि कविता कवि-व्यक्तित्व के निरपेक्ष नहीं हो सकती है। कवि के अनुभव कविता में अभिव्यक्त होकर 'सामान्यीकृत' बन

जाते हैं। एलियट कवि और कलाकृति दोनों को परस्पर प्रभावित होना स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश जरूर प्रदान करता है, लेकिन वह अपने द्वारा निर्मित पात्रों से वह स्वयं भी प्रभावित होता है। इस समग्र प्रक्रिया में पूरी रचना कवि के व्यक्तित्व से निर्मित हो उठती है। कवि भी अपने काव्यजगत् में व्याप्त हो जाता है। टी. एस. एलियट कविता में कवि के व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान करते हैं। उनकी 'मूर्तविधान' अवधारणा की व्याख्या में वैयक्तिक भावों के निर्वैयक्तिक में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया निहित है।

2.3.3.3. मूर्त विधान

टी. एस. एलियट के 'निर्वैयक्तिकता' की मूल अवधारणा को समझने के लिए 'मूर्तविधान' सम्बन्धी व्याख्या का अध्ययन एवं विश्लेषण आवश्यक है। 'मूर्तविधान' का सर्वप्रथम उल्लेख अरस्तू के चिन्तन में मिलता है। कालान्तर में फ्रांस के प्रतीकवादियों ने भी अपने काव्यशास्त्रीय विवेचन में इसका उपयोग किया है। टी. एस. एलियट अपने बहुचर्चित निबन्ध 'हेमलेट और उसकी समस्याएँ' में 'मूर्तविधान' की स्थापना करते हैं। उल्लेखनीय है कि उनके इस सिद्धान्त को भारतीय काव्यशास्त्र में 'विभावन व्यापार' से सम्बन्धित अवधारणा के अत्यन्त निकट स्वीकार किया जाता है। एक कवि के रूप में एलियट का मानना है कि अमूर्त का संचार चुनौतीपूर्ण कार्य होता है और इसका निदान यह है कि रचनाकार किसी मूर्त वस्तु का सहारा लेकर अमूर्त को सम्प्रेषित करने का प्रयास करे। उनकी 'मूर्तविधान' सम्बन्धी व्याख्या के प्रमुख पक्ष निम्नलिखित हैं –

(i) भाव अथवा विचार मूलतः अमूर्त होते हैं, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति किसी मूर्त वस्तु या स्थिति की सहायता से ही सम्भव है।

(ii) एलियट वस्तु की व्यंजकता से अधिक भाव के साथ उसके सटीक सम्बन्ध को अहमियत प्रदान करते हैं।

(iii) भाव के प्रकृत रूप से सम्बद्ध कोई वस्तु, समुदाय, परिस्थिति या घटना-शृंखला हो सकती है जिससे उस अमूर्त भाव को मूर्त रूप में अभिव्यक्त और सम्प्रेषित किया जा सके।

(iv) बाह्य वस्तुओं के आधार पर ही कवि और पाठक एक भावभूमि पर मिलते हैं। एक बार भाव के प्रकट होते ही उससे सम्बद्ध वस्तुव्यापार की ऐन्द्रीय अनुभूति समाप्त हो जाती है।

(v) भावाभिव्यक्ति में जो मूर्तविधान अपेक्षित है, उसकी कमी रचना को कमजोर बना देती है।

2.3.4. टी. एस. एलियट का काव्य-चिन्तन : समीक्षा

टी. एस. एलियट के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में समीक्षा के अन्तर्गत साहित्य की मूलभूत आकृति को नये सिरे से समझने का प्रयास परिलक्षित होता है। विज्ञान के आधुनिक युग में किसी बात को सर्वांशतः स्वीकार कर लेना सरल नहीं है। शंकाएँ परम्परा से उठती रहती हैं। शंकाओं से जूझने और निपटने के प्रयास में ही विचार की परम्परा आगे बढ़ती रही है तथा समीक्षा के नये आयाम उभरते रहे हैं। किसी एक काव्य-सिद्धान्त को काटकर,

चाहे वह कितना ही स्वीकृत क्यों न हो, किसी दूसरे सिद्धान्त का सामने आना, पाश्चात्य चिन्तन-परम्परा में भी हेय नहीं माना गया है। एलियट के काव्य-चिन्तन में भी 'समीक्षा' का सन्दर्भ व मूल्यांकन इसका अपवाद नहीं है।

2.3.4.1. आलोचना का मूल प्रतिपाद्य

टी. एस. एलियट रुचि-परिष्कार को आलोचना का मूल प्रतिपाद्य स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यथार्थबोध ही आलोचक का सबसे बड़ा गुण होना चाहिए। उनकी प्रबल धारणा है कि सृजन प्रक्रिया में यथार्थबोध धीरे-धीरे विकसित होता है और उसका विकास सभ्यता के चरमोत्कर्ष का ही बोधक होता है। कलाकृति की समझ, आस्वाद और परिशंसन के लिए भूमि तैयार करना आलोचना का प्रमुख लक्ष्य है। सच्ची आलोचना का लक्ष्य कवि नहीं, अपितु काव्य है। इस तरह वे व्यक्तिवादी आलोचना पद्धति को चुनौती देते हैं। उनका विरोध आलोचक के व्यक्तित्व से नहीं बल्कि 'व्यक्ति-तत्त्व' की अनियन्त्रित अभिव्यक्ति से है।

2.3.4.2. प्रभाववादी समीक्षा का विरोध

टी. एस. एलियट के अनुसार आलोचना का अभिप्राय लिखित शब्दों के माध्यम से कलाकृतियों का भाष्य और निरूपण, कलाकृतियों का स्पष्टीकरण और अभिरुचि का परिष्कार है। यही कारण है कि उनके काव्य-चिन्तन में प्रभाववादी समीक्षा पद्धति के प्रति घोर विरोध परिलक्षित होता है। उनके अनुसार प्रभाववादी समीक्षा पर ज़्यादा विचार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि यह उन मानवों को प्रभावित करती है जो इतने दुर्बल और आलसी हैं कि मूल कलाकृति का सामना करने से कतराते हैं। प्रभाववादी समीक्षा का विरोध करते हुए वे बारम्बार इस बात पर बल देते हैं कि आलोचकों को अपने आलोचना कर्म में व्यक्तिगत-अभिरुचि संस्कार को हावी नहीं होने देना चाहिए। अपनी बहुचर्चित किताब 'द सेक्रेड वुड' में उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि आलोचक को व्यक्तिगत भावों से मुक्त होकर मूल रचना या कलाकृति पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। काव्य अथवा साहित्य की समझ तथा आस्वाद चेतना में अभिवृद्धि करना ही आलोचना का परम दायित्व माना जाना चाहिए।

2.3.4.3. आलोचना का आधार

टी. एस. एलियट अपने आरम्भिक काव्य-चिन्तन में आलोचना कर्म में साहित्येतर प्रतिमानों का पूरी तरह निषेध करते हैं। लेकिन बाद में वे धार्मिक और नैतिक आग्रहों के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। अपने 'आलोचना के सीमान्त' नामक निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि हर युग में हर कलाकार के लिए एक प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता पड़ती है ताकि वह अपनी धातु को कला में प्रयुक्त होने लायक बना सके। प्रत्येक युग में कला की उपयोगिता का स्वरूप भी बदल जाता है तथा प्रत्येक युग कलात्मक चिन्तन में मूल्यांकन हेतु विशिष्ट मानदण्डों को स्थान देता है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि टी. एस. एलियट ने आलोचना को रचनाकार से रचना की ओर उन्मुख कर पाश्चात्य आलोचना की दशा और दिशा ही बदल दी है।

2.3.5. टी. एस. एलियट के काव्य-चिन्तन के महत्त्वपूर्ण आयाम

कला और साहित्य में वस्तु व शिल्प के सवाल को लेकर सुदीर्घकाल से विवाद चलता आया है। सवाल यह है कि काव्य या साहित्य में वस्तुतत्त्व प्रमुख होता है अथवा शिल्पतत्त्व। यह विवाद इस सीमा तक खिंच गया है कि वस्तु और शिल्प को प्रमुखता देते हुए समीक्षा की विभिन्न धारणाएँ बन गई हैं। टी. एस. एलियट इस परम्परा का निषेध करते हैं क्योंकि यह स्थिति कविता या कला के सही मूल्यांकन के लिए बाधक ही सिद्ध हुई हैं। उनके अनुसार कवि और समीक्षक दोनों में वास्तविक जीवन की संवेदन ज्ञानात्मक और ज्ञान संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति विकसित होना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में वे काव्य के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू जैसे, संश्लिष्ट संवेदनशीलता, काव्यभाषा, काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान पर विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए कृति को एक 'निर्वैयक्तिक' साधना के रूप में स्थापित करते हैं।

2.3.5.1. संश्लिष्ट संवेदनशीलता

काव्य-सृजन की प्रक्रिया में टी. एस. एलियट ने कल्पना की बजाय 'संश्लिष्ट संवेदनशीलता' पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में महान् कवि और महान् काव्य में वैयक्तिकता और परम्परा, भावुकता और बौद्धिकता, भाव और विचार, समकालिकता और निरन्तरता, कथ्य और शिल्प का गहन सामंजस्य रहता है। 'संवेदनशीलता का असाहचर्य' उनकी प्रख्यात अवधारणा है जिस पर फ्रांस के सुविख्यात कवि व आलोचक रेमी द गुर्मो का प्रभाव देखा जा सकता है। उनके अनुसार संवेदना न तो केवल भाव है और न ही विचार मात्र। वस्तुतः भाव और विचार के रासायनिक योग से ही संवेदना निर्मित होती है। कमजोर या दुर्बल काव्य में भाव और विचार की एकरूपता विघटित हो जाती है और अन्ततः काव्योत्कर्ष की हानि होती है। टी. एस. एलियट इसी को 'संवेदनशीलता' को असाहचर्य कहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि 'संघटित संवेदनशीलता' के आधार पर ही एक कविता अपने चरमोत्कर्ष को धारण करती है।

2.3.5.2. काव्यभाषा

काव्यभाषा के सन्दर्भ में टी. एस. एलियट का मानना है कि प्रत्येक देश का अपना काव्य और काव्य-चरित्र होना चाहिए जिसमें उस समाज की संवेदनशीलता के परिष्करण और चेतना के विस्तार को सरलता से समझा जा सके। वस्तुतः अन्य समस्त कलाओं से कविता इस अर्थ में अलग होती है कि जिस भाषा में उसकी रचना हो रही है, उस भाषा के लोगों के लिए जो उसका मूल्य है वह दूसरों के लिए नहीं हो सकता। गहन संश्लिष्ट भाव की अभिव्यंजना काव्य में ही सम्भव है, जबकि विचार की अभिव्यंजना गद्य में भी हो सकती है। गद्य की तुलना में काव्य अपने मूल चरित्र में अधिक स्थानीय होता है। सभी कलाओं में काव्य राष्ट्रीय अस्मिता का सर्वाधिक वहन करता है। अनुभूतियों और संवेदनों की सर्वाधिक समर्थ अभिव्यक्ति जनता की सामान्य व्यवहार की भाषा में होती है। भाषा की संरचना, लय, मुहावरे, ध्वनि आदि उस भाषा में बोलने वालों के प्रजातिगत या वंशानुगत चरित्र को सामने लाते हैं।एलियट बल देकर कहते हैं कि एक कवि के रूप में कवि का पहला दायित्व

अपनी प्रजाति की भाषा के प्रति है, उसके विस्तार, संस्कार और परिष्कार के प्रति है। अच्छा कवि भावी संवेदनाओं का खोजी होता है और वह इस कार्य के द्वारा भाषा को विकसित और सम्पन्न बनाता है। उनकी स्थापना है कि यदि किसी भाषा में महान् कवियों के उत्पन्न होने की परम्परा में निरन्तरता नहीं है तो उस भाषा और संस्कृति का नाश हो जाता है।

काव्यगत संवेदनशीलता ही मानव जीवन के अनेक पक्षों की जटिलता को ठीक से व्यक्त कर पाती है, अतः काव्यभाषा ही किसी भाषा की व्यंजकता, प्रौढ़ता व सम्प्रेषण-क्षमता का साक्ष्य हो सकती है। एलियट की भाषासम्बन्धी मान्यताओं पर दांते और विलियम वर्ड्सवर्थ का प्रभाव परिलक्षित होता है। वे शब्द के सार्थक प्रयोग, भाषा-समृद्धि तथा भाषा की रक्षा पर विशेष बल देते हैं। टी. एस. एलियट के भाषासम्बन्धी विचारों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) काव्यभाषा बहुत हद तक सामान्य जन द्वारा प्रयुक्त भाषा पर निर्भर करती है, इसलिए काव्य का दायित्व है कि वह भाषा को इस स्तर तक विकसित करे कि वह जटिल से जटिल आधुनिक भावों को व्यक्त करने में सक्षम हो।

(ii) ग्रामीणों की साधारण, सार्थक, सटीक भाषा के शब्दों एवं लयों का नूतन प्रयोग प्रभावी संचार हेतु आवश्यक है।

(iii) आडम्बररहित और स्वच्छ शब्द-सम्पदा का विकास काव्य अथवा साहित्य को ग्राह्य बनाता है।

(iv) शब्दों एवं भावों का पूर्ण सामंजस्य प्रभावी सम्प्रेषण के लिए आवश्यक है।

(v) काव्यभाषा का संगीत से निकट का सम्बन्ध है तथा प्रकरण और अर्थ का प्रभाव काव्य-संगीत पर भी पड़ता है।

(vi) शब्द माधुर्य ही काव्य का संगीत है। शब्दों के संगीत का निर्धारण उनके साहचर्य से होता है।

(vii) काव्यार्थ पूर्वनिर्धारित वस्तु नहीं है। विभिन्न पाठकों के लिए एक ही कविता के अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। ये सभी अर्थ लेखकीय अर्थ से भी अलग हो सकते हैं। साधारण भाषा की अपेक्षा कविता में अर्थ का विशिष्ट सन्दर्भ निहित रहता है।

(viii) काव्य में सुन्दर शब्दों का रहना आवश्यक है। केवल ध्वनि ही शब्द के सौन्दर्य का निर्धारण नहीं कर सकती।

2.3.5.3. काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान

काव्य की स्वायत्तता के सम्बन्ध में एलियट के विचार अपने पूर्ववर्ती विचारकों, खासकर विलियम वर्ड्सवर्थ और ऑर्नल्ड के विचारों से बिल्कुल अलग है। टी. एस. एलियट कविता को केवल कविता के रूप में देखने के पक्षपाती हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि काव्य मनोरंजन का सबसे उत्कृष्ट रूप है। यह उत्तम छन्दों में उत्तम शब्दों का उत्तम शब्द-विन्यास है। भाव-सम्प्रेषण के लिए वे वस्तुनिष्ठ समीकरण को आवश्यक मानते हैं। काव्य या साहित्य में भाव-प्रदर्शन का एक ही मार्ग है, और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को

प्रस्तुत किया जाए। वे एक ओर जहाँ काव्य का सम्बन्ध कुछ मायनों में नैतिकता, धर्म व राजनीति से जोड़ते हैं तो वहीं दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं कि काव्य न तो राजनीति का निर्देश होता है और न ही नैतिकता का उपदेश। यह अन्तर्विरोध एलियट के अन्य बहुत से सैद्धान्तिक कथनों में भी देखा जा सकता है।

टी. एस. एलियट के अनुसार "काव्य की महत्ता केवल साहित्यिक प्रतिमान से ही निर्धारित नहीं हो सकती है, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई कृति साहित्य है अथवा नहीं, इसका निर्धारण भी केवल साहित्यिक प्रतिमानों से ही होता है।" काव्यगत नैतिकता के आलोक में उनका स्पष्ट विचार है कि "साहित्यिक कृतियों की नैतिकता का निर्णय प्रत्येक पीढ़ी की अपनी नैतिक संहिता से होता है।" टी. एस. एलियट का यह कथन उचित ही है क्योंकि देश, काल व वातावरण के अनुसार नैतिकता एवं मानवीय जीवन-मूल्यों के मानदण्डों में परिवर्तन होता रहता है।

2.3.6. सारांश

चिन्तन और विचार के क्रम में जो अहैतुक और सतही है, समय के साथ-साथ वह अपने-आप पृष्ठभूमि में विलीन होता रहता है; किन्तु जो सार्थक और प्राणवान है, वह न केवल बच जाता है, अपितु आगे के चिन्तन के लिए नयी ज़मीन भी बनाता है। इस दृष्टि से टी. एस. एलियट द्वारा प्रस्तुत 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त' तथा समीक्षा-पद्धति न केवल काव्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में चली आती हुई विचार परम्परा को आगे बढ़ाती है, अपितु साहित्य की एक नयी बुनियादी समझ भी विकसित करती है। अपने विशिष्ट अवदान के कारण उनका काव्य-चिन्तन कई मायनों में विवादास्पद होने के बावजूद भी अपनी महत्ता रखता है।

2.3.7. शब्दावली

परिशंसन	:	आन्तरिक गुणों की प्रशंसा
बोध	:	ज्ञान
प्रकरण	:	सन्दर्भ
विन्यास	:	व्यवस्थापन
कालातीत	:	नित्य

2.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिन्हा, प्रो॰ सावित्री, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
2. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. शर्मा, डॉ॰ देवेन्द्रनाथ, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
5. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्यक चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

6. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
8. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

2.3.9. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. टी. एस. एलियट के 'निर्वैयक्तिकता' सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।
2. टी. एस. एलियट की मूर्तविधान सम्बन्धी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
3. संश्लिष्ट संवेदनशीलता की अवधारणा को समझाइए।
4. एलियट के अनुसार आलोचना का मूल प्रयोजन क्या है ?
5. एलियट के परम्परा सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक प्रजाति की अपनी सर्जनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक मानसिकता भी हुआ करती है।" एलियट के इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. टी. एस. एलियट के काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण पक्षों का विवेचन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा' नामक निबन्ध के रचयिता हैं –

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ख) टी. एस. एलियट
(ग) मैथ्यू आर्नल्ड
(घ) विलियम वर्ड्सवर्थ

2. एलियट के अनुसार आलोचना का मूल प्रयोजन है–

(क) मनोरंजन
(ख) व्यापार
(ग) रुचि-परिष्कार
(घ) उपर्युक्त सभी

3. सच्ची आलोचना का लक्ष्य कवि नहीं, बल्कि काव्य है। यह कथन है –

(क) लोंजाइनस का
(ख) अरस्तू का
(ग) मैथ्यू ऑर्नल्ड का
(घ) टी. एस. एलियट का

4. 'दि कॉकटेल पार्टी' के रचयिता हैं –

(क) टी. एस. एलियट
(ख) लोंजाइनस
(ग) विलियम वर्ड्सवर्थ
(घ) इनमें से कोई नहीं

5. एलियट के मतानुसार मनोरंजन का उत्कृष्ट रूप है –

(क) काव्य
(ख) संगीत
(ग) दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : प्रमुख विचारक – 2

इकाई – 4 : काव्यशास्त्र के पाश्चात्य विचारक आई. ए. रिचर्ड्स

इकाई की रूपरेखा

2.4.0. उद्देश्य कथन
2.4.1. प्रस्तावना
2.4.2. आई. ए. रिचर्ड्स : व्यक्ति परिचय
  2.4.2.1. व्यक्तित्व
  2.4.2.2. कृतियाँ
2.4.3. आई. ए. रिचर्ड्स का काव्य-चिन्तन
  2.4.3.1. मूल्य सिद्धान्त
  2.4.3.2. भाषा सिद्धान्त
  2.4.3.3. अर्थ मीमांसा चिन्तन
  2.4.3.4. लय और छन्द
2.4.4. आई. ए. रिचर्ड्स का सम्प्रेषणीयता का सिद्धान्त
2.4.5. आई. ए. रिचर्ड्स का अवदान
2.4.6. सारांश
2.4.7. शब्दावली
2.4.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.4.9. सम्बन्धित प्रश्न

2.4.0. उद्देश्य कथन

आई. ए. रिचर्ड्स ने विज्ञान व मनोविज्ञान की सहायता से काव्य-चिन्तन को महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान किया है। प्रस्तुत इकाई पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में नयी समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करने वाले विचारक आई. ए. रिचर्ड्स पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आई. ए. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धान्त, भाषा सिद्धान्त, अर्थ मीमांसा चिन्तन, लय और छन्द का अनुशीलन कर सकेंगे।
ii. काव्यानुभूति के आलोक में आई. ए. रिचर्ड्स के सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्त का विश्लेषण कर सकेंगे।
iii. आई. ए. रिचर्ड्स के रचनात्मक अवदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

2.4.1. प्रस्तावना

आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों में आई. ए. रिचर्ड्स का काव्य-चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक क्रमबद्ध एवं विस्तृत है। इनसे पहले पाश्चात्य काव्यजगत् में काव्य-समीक्षा के अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे। जैसे, बेनेदितो क्रोचे तब तक नूतन वैज्ञानिक उपलब्धियों के आधार पर अभिव्यंजनावाद को स्थापित कर चुके थे; युंग, एडलर, सिग्मंड फ्रायड आदि विचारकों ने मनोविश्लेषणवाद का प्रतिपादन किया; मैक्स ईस्टुमैन ने कविता को विज्ञान का अनुगमन करने की सलाह दी, परन्तु कल्पना से सम्बद्ध होने के कारण विज्ञान के समक्ष कविता की उपयोगिता व महत्ता कम होने लगी; ऐसे में मैथ्यू ऑर्नल्ड ने यह मत स्थापित किया कि धर्म और संस्कृति के इस संक्रान्तिकाल में केवल कविता ही मानव का उद्धार कर सकती है। उस संक्रान्तिकाल में मनोवैज्ञानिक उन्नति एवं भौतिक समृद्धि के सन्दर्भ में कविता का अवमूल्यमन होने लगा था। तत्युगीन परिवेश में आई. ए. रिचर्ड्स जैसे व्यक्तित्व का मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र में आगमन होता है जिन्होंने मनोविज्ञान का आधार लेकर अपनी काव्य-स्थापनाओं की व्याख्या प्रस्तुत की। उनका मूल्य सिद्धान्त गहरे स्तर पर कलाशास्त्र और मनोविज्ञान के गहन चिन्तन पर केन्द्रित है। भाषा और अर्थ मीमांसा के क्षेत्र में भी उनकी उल्लेखनीय भूमिका है। हिन्दी आलोचना में आई. ए. रिचर्ड्स की चर्चा पहले-पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की है। आज भी हिन्दी समीक्षा जगत् में रिचर्ड्स के काव्य-चिन्तन को रेखांकित किया जाता है।

2.4.2. आई. ए. रिचर्ड्स : व्यक्ति परिचय

भौतिकतावादी दर्शन और विज्ञान की निरन्तर प्रगति के साथ कविता की सार्थकता और उपयोगिता को लेकर निर्मित संशयात्मक परिवेश में आई. ए. रिचर्ड्स का सुधारवादी व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। उन्होंने अध्यात्म, दर्शन, भाषा, मनोविज्ञान, विज्ञान आदि को मिलाकर नवीन काव्य-सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि काव्य से व्यक्ति, समाज और जाति में सन्तुलन पैदा होता है। उनका वैशिष्ट्य इस अर्थ में भी है कि उन्होंने अपने युग में विज्ञान के बढ़ते आतंक को मिटाने के लिए विज्ञान की पद्धति और मनोविज्ञान का सहारा लिया।

2.4.2.1. व्यक्तित्व

आई. ए. रिचर्ड्स का जन्म इंग्लैंड में 26 फरवरी 1893 को हुआ। बचपन से ही उनका मन अध्ययन में खूब रमता था। उन्होंने अंग्रेज़ी, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे विषयों में अपनी अकादमिक शिक्षा पूर्ण की और हार्वर्ड विश्वविद्यालय से डी. लिट्. की उपाधि प्राप्त की। बाद में कई वर्षों तक वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफेसर भी रहे। समकालीन यूरोपीय काव्यशास्त्र में आई. ए. रिचर्ड्स का योगदान परिणाम व गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

2.4.2.2. कृतियाँ

आई. ए. रिचर्ड्स का रचनाकाल सन् 1922 से 1974 के मध्य माना जाता है। सी. के. ओग्डेन और जेम्स. वुड के साथ सहलेखक के रूप में उनकी पहली कृति 'दि फाउंडेशन ऑफ एस्थेटिक्स' का प्रकाशन 1922 ई. में हुआ। उन्होंने लगभग बारह ग्रन्थों की रचना की है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' रिचर्ड्स की बहुचर्चित कृति है। उनकी अन्य रचनाओं में 'मेन्सियस ऑफ द माइंड' (1931), 'एक्सेपेरिमेंटस इन मल्टिपिल डेफिनीशन' (1932), 'बेसिक रूल्स ऑफ रीजन' (1933), 'कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन' (1934), 'दि फिलॉसफी ऑफ रेटरिक' (1936), 'इंटरप्रिटेशन इन टीचिंग' (1938), 'दि स्पेक्यूलेटिव इंस्ट्रूमेंटस' (1955), 'पोएट्रीज़ : देयर मीडिया एंड एंड्स' (1973), 'हाउ टु रीड ए पेज', 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म', 'सायंस एंड पोएट्री' व 'बियोंड' (1974) उल्लेखनीय हैं।

2.4.3. आई. ए. रिचर्ड्स का काव्य-चिन्तन

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में आई. ए. रिचर्ड्स का पदार्पण उस समय होता है जब साहित्यिक समालोचना संकट के दौर से गुजर रही थी। स्वयं रिचर्ड्स के अनुसार तब तक प्रस्तुत समीक्षा-सिद्धान्तों को अनुमान, ताड़नाओं, तीक्ष्ण और पृथक् विचारों, चमत्कारी कल्पनाओं, वक्तृता और व्यावहारिकता, अस्पष्टता, अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह, मानसिक लहरें और तरंगें, रहस्यवाद की प्रचुरता, वास्तविक कल्पना, विविध अन्तःप्रेरणा, अर्थगर्भित संकेत और दिशाहीन रूप-रेखाओं का एकत्रीकरण मात्र कहा जा सकता है। ऐसे संकटकालीन दौर में आई. ए. रिचर्ड्स ने आधुनिक मनोविज्ञान को सामाजिक समालोचना का आधार बनाया और मनोवैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति साहित्य पर विचार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने साहित्यिक समालोचना के उन आधारभूत तत्त्वों की खोज की जिन पर पूर्ववर्ती विचारकों का ध्यान ही नहीं गया था। पूर्ववर्ती समालोचना के इस वास्तविक संकट को रिचर्ड्स ने अपनी बुद्धिमत्ता से हल किया। रिचर्ड्स का काव्यशास्त्रीय चिन्तन व रचनात्मक सक्रियता के विभिन्न पहलू समालोचना की नूतन दृष्टि विकसित करते हैं। उनके द्वारा स्थापित काव्य-मूल्यांकन के सशक्त प्रतिमानों ने युगीन साहित्यिक चिन्तन पर गहरे प्रभाव छोड़े हैं। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं में मूल्य सिद्धान्त, भाषा सिद्धान्त, अर्थ मीमांसा सिद्धान्त, लय और छन्द प्रमुख हैं।

2.4.3.1. मूल्य सिद्धान्त

प्रो॰ ब्रेडले ने काव्य की सौन्दर्यानुभूति का समर्थन किया और उसको जीवन से अलग स्वीकार किया। रिचर्ड्स ने उसका खण्डन करते हुए कला काव्य का जीवनमूलक मूल्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। उनकी दृष्टि में काव्य-रचना एक मानवीय क्रिया है और इसके मूल्य का मान नहीं होना चाहिए जैसा कि अन्य मानवीय क्रियाओं का होता है। उनके मतानुसार मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्वेगों से हैं। इसके दो रूप हैं – प्रवृत्तिमूलक (भूख, तृष्णा, वासना आदि) तथा निवृत्तिमूलक (घृणा, निर्वेद, वितृष्णा आदि)।

आई. ए. रिचर्ड्स का मानना है कि जो मनुष्य के प्रवृत्तिमूलक उद्वेगों की सन्तुष्टि करे, वही मूल्यवान् है क्योंकि वह उसके मन की विविध माँगों की सन्तुष्टि करता है। काव्य अथवा साहित्य का मूल्य इस प्रक्रिया में है कि वह हमारे उद्वेगों में संगति और सन्तुलन स्थापित करे। कविता रचनाओं की तुष्टि करती है इसलिए वह मूल्यवान् है। वह कविता अधिक मूल्यवान् है जो ऐसी श्रेष्ठ आकांक्षाओं की सृष्टि करे जिससे कम से कम वृत्तियाँ क्षुब्ध होती हों। इस प्रकार रिचर्ड्स की अवधारणा में कविता भौतिक वस्तुओं से अधिक मूल्यवान् है।

आई. ए. रिचर्ड्स ने कला को 'साधारण मनुष्यों का सिद्धान्त' कहा है। वे मूल्यवादी विचारक हैं इसलिए 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध करते हैं। चिन्तन की व्यापकता के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। श्रेष्ठ कला की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने यह मत प्रकट किया है कि यदि वह मानव सुख की अभिवृद्धि में निरत हो, पीड़ितों के उद्धार या हमारी पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार में संलग्न हो अथवा हमारे अपने विषय में या हमारे या वस्तुजगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ऐसे नये या पुराने सत्य का आख्यान करे जिससे उक्त भूमि पर हमारी स्थिति और सुदृढ़ हो, तो वह महान् कला होगी।

आई. ए. रिचर्ड्स की प्रबल धारणा है कि वे प्रवृत्तियाँ मूल्यवान् हैं जो किसी अनुभव या मानसिक क्रिया द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। इस तरह किसी अनुभव का मूल्य उसके उत्तरकालीन प्रभाव द्वारा आँका जाता है। साहित्य के प्रभाव मूल्य को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि कलाकार की कम से कम अनुभूतियों में जो उसकी कृति को मूल्यवान् बनाती है, ऐसे आवेगों का सामंजस्य स्थापित होता है जो अधिकांशत: लोगों के मन में अस्त-व्यस्त, परस्पर अन्तर्भूत तथा छन्दभूत हुआ करते हैं। इस प्रकार जो कविता श्रोता या पाठक के मन को जितना अधिक प्रभावित कर सकती है, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी। इस सन्दर्भ में रिचर्ड्स ने इमैनुएल कांट के पूर्ववर्ती और परवर्ती लेखकों का हवाला देते हुए कहा है कि जो लोग कलाओं के सन्दर्भ में विशिष्ट, अद्वितीय, असाधारण कला अनुभव की सत्ता स्वीकार करते थे या उसके पक्ष में चुन-चुनकर दलीलें पेश करते थे, वे दलीलें आज भ्रामक सिद्ध हुई हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार के किसी भी अनुभव के लिए स्थान ही नहीं है।

कविता के उद्देश्य को लेकर आई. ए. रिचर्ड्स बहुत सजग हैं। उनकी दृष्टि में कविता का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की अधिकाधिक वृत्तियों को परितोष प्रदान करते हुए उनमें सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित करना है। उनके अनुसार ऐसी कोई भी वस्तु या व्यापार जो किसी वृत्ति को परितोष या सन्तोष प्रदान करती है, मूल्यवान् होती है। उसकी मूल्यवत्ता के मूल्यांकन का आधार यह होता है कि वह अपने समान या अपने से महत्त्वपूर्ण किसी वृत्ति में विक्षोभ पैदा न करे। वृत्तियों की परितोष-प्रक्रिया में कुछ को तोष और कुछ में क्षोभ पैदा होता ही है, इसलिए उत्तमोत्तम सन्तुलन वही है जो मानवीय सम्भावनाओं की कम से कम क्षति करे। वास्तव में यह सन्तुलन और सामंजस्य भी दो रूपों में घटित होता है – अपवर्जन तथा समावेशन। इसी को आधार बनाकर रिचर्ड्स कविता के दो रूप स्वीकार करते हैं – अपवर्जी कविता तथा समावेशी कविता। अपवर्जी कविता में घटित होने वाले सामंजस्य या सामरस्य में परस्पर विरोधी भावों के निषेध से सामरस्य सीधा व सरल होता है, जबकि समावेशी काव्य में सामंजस्य का प्रभाव सघन और एकाग्र किन्तु जटिल होता है। काव्य में निहित 'विडम्बना'

तत्त्व के आधार पर रिचर्ड्स समावेशी काव्य की महिमा को प्रतिपादित करते हैं तथा अपवर्जी काव्य को कला में श्रेष्ठ स्थान नहीं प्रदान करते। रचना में परस्पर आवेगों, संवेगों और भावों को एकत्रित करते हुए एकाग्र करने का कार्य भी 'विडम्बना' द्वारा ही होता है। रिचर्ड्स ने जिसे 'विडम्बना' कहा है, उसे ही टी. एस. एलियट 'विदग्ध' कहते हैं। 'विदग्ध' का कार्य भी रचना में आन्तरिक सन्तुलन स्थापित करना होता है। एलियट से रिचर्ड्स के चिन्तन में भिन्नता इस अर्थ में है कि वे आन्तरिक सन्तुलन को कविता की पूरी रचना में व्याप्त न मानकर कविता के प्रभाव में मानते हैं। अपनी बहुचर्चित कृति 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में आई. ए. रिचर्ड्स ने यह मत प्रकट किया है कि जीवन में सन्तुलन और व्यवस्था के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्रति क्षण हमारे आवेग या मनोवेग स्वतः व्यवस्थित होते रहते हैं। व्यवस्था उत्पन्न करने में साहित्य और कला से विशेष सहायता मिलती है। रिचर्ड्स के अनुसार काव्य का वैशिष्ट्य उनकी इस स्थापना में है कि साधारण जीवन की सरल मनोदशा या मनोभूमिका की तुलना में उससे कहीं अधिक मानसिक जटिलता होती है। काव्य-प्रभाव और काव्यप्रयोजन के आलोक में आई. ए. रिचर्ड्स के 'मूल्य सिद्धान्त' का सार इस प्रकार है –

(i) कला तथा कलानुभूति जीवन के मानव व्यापारों से सम्बद्ध हैं। काव्यानुभूति या कलानुभूति जीवनानुभूति का पर्याय है।

(ii) मानव क्रियाओं में कला सर्वाधिक मूल्यवान् क्रिया है।

(iii) किसी भी मानवीय क्रिया का मूल्य इस बात से सुनिश्चित होता है कि उसमें मनोवेगों में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता कहाँ तक है।

(iv) मूल्य-व्यवस्था और सम्प्रेषण आलोचना के दो आधार हैं। काव्य-सम्प्रेषण से उत्पन्न कविता का प्रभाव तथा उसके आधार पर मूल्य-निर्धारण ही रिचर्ड्स के काव्य-चिन्तन का केन्द्रीय तत्त्व है।

2.4.3.2. भाषा सिद्धान्त

काव्यभाषा के सवाल पर आई. ए. रिचर्ड्स 'सम्प्रेषणीयता' को महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार भाषा ही सम्प्रेषण का साधन और माध्यम है। इस माध्यम का उपयोग हर रचनाकार अपने-अपने ढंग से करता है। उनकी दृष्टि में भाषा प्रतीक-व्यवस्था है। रचनाकार और पाठक के बीच मानसिक वृत्तियों अर्थ-गुच्छे निहित होते हैं। इस मायने में अर्थ ग्रहण के अनेक स्तर हैं। चूँकि, देशकाल व वातावरण का सन्दर्भ भी अर्थ को बदल देता है, इसलिए भाषा को समझने के लिए मनोविज्ञान के साथ-साथ व्याकरण भी सहायक होता है। भाषा का मुख्य कार्य है सरल और जटिल अर्थ को सम्प्रेषित करना। उन्होंने दो प्रकार के भाषासम्बन्धी प्रयोगों की विवेचना की है – वैज्ञानिक प्रयोग तथा रागात्मक प्रयोग।

भाषासम्बन्धी वैज्ञानिक प्रयोग पर रिचर्ड्स का मानना है कि जब किसी सन्दर्भ विशेष के लिए वक्तव्य दिया जाता है, वह चाहे सत्य हो अथवा मिथ्या, उसे सूचनात्मक, तथ्यात्मक अथवा अभिधात्मक भाषा-प्रयोग भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत शब्द द्वारा हमें किसी तथ्य की सूचना मिलती है तथा उसका यथार्थबोध होता है।

चूँकि, विज्ञान की भाषा तथ्यात्मक होती है, इसलिए इसके अन्तर्गत 'गधा' शब्द का अर्थ कोई लक्ष्यार्थ न होकर चार पैरों वाला पशु विशेष ही होता है।

भाषा के रागात्मक प्रयोग के सम्बन्ध में रिचर्ड्स का कहना है कि यह प्रयोग मनोवेगों तथा दृष्टिकोण को प्रभावी बनाने के लिए किया जाता है। सच तो यह है कि काव्य में रागात्मक या भावात्मक प्रयोग ही प्रभावी और महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें पदार्थ का उल्लेख मात्र सूचनात्मक्क न होकर पाठक के मन में अभिप्रेत भावों को आहूत करने के लिए होता है । इसी आधार पर उन्होंने काव्य में शुद्ध कथन की उपेक्षा करके छद्म कथन की महत्ता स्वीकार की है।

भाषा की उत्कृष्टता के विषय में आई. ए. रिचर्ड्स की धारणा है कि जिस भाषा में रूपकों का प्रयोग किया जाता है, वह सर्वाधिक उच्च स्तर की भाषा होती है। उनकी प्रबल धारणा है कि शब्द का अर्थ प्रसंग के अन्तर्गत ही उद्घाटित होना चाहिए। इस प्रकार भाषा का अर्थ सम्बन्धी सन्दर्भ सिद्धान्त प्रस्तुत करने का श्रेय रिचर्ड्स को ही जाता है। इसी सन्दर्भ सिद्धान्त से काव्यभाषा में लाक्षणिकता और अनेकार्थकता को समुचित स्थान मिला है।

2.4.3.3. अर्थ मीमांसा चिन्तन

आई. ए. रिचर्ड्स ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में 'अर्थ-विचार' प्रस्तुत किया है। काव्य के मूल्यांकन में 'प्रसंग' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि शब्द का अर्थ वाक्य के पूरे 'अर्थ-प्रसंग' में ही प्रकट होता है। ऐसी दशा में हम शब्दों को बिल्कुल अलग नहीं ले सकते। शब्द का अर्थ परम्परागत प्रयोग से भी निर्धारित रहता है। रिचर्ड्स अर्थ की स्थिति लय में ही स्वीकार करते हैं। 'अर्थ-ग्रहण' और 'अर्थ-व्यापार' पर व्यापक चिन्तन करते हुए उन्होंने चार प्रकार के अर्थों का निर्देशन किया है – वाच्यार्थ, भाव, ध्वनि या लहजा तथा अभिप्राय । वाच्यार्थ यानी वस्तुस्थिति को सामने लाने वाली प्रमुख शब्दशक्ति, भाव यानी विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा, ध्वनि या लहजा यानी पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा तथा अभिप्राय यानी लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय । इन चारों के सामंजस्य से ही भाषा का समग्र अर्थ व्यंजित होता है। इन चारों का सम्बन्ध अर्थ लय से निर्धारित हुआ करता है।

आई. ए. रिचर्ड्स ने 'फिलॉसफी ऑफ रेटरिक' में शब्दों के स्वभाव, उनके साहचर्य के नियम, शब्द-संगति तथा वाक्य-विन्यास पर विशेष ध्यान दिया है। 'रूपक' पर चर्चा करते हुए उन्होंने यह विचार प्रकट किया है कि जटिल रूपकों में कभी-कभी तो अर्थ के सात-आठ स्तर मिलते हैं। आधुनिक कविता की दुरूहता बहुत हद तक कुछ रूपकों की जटिलता के कारण ही है।

2.4.3.4. लय और छन्द

आई. ए. रिचर्ड्स कविता की बाह्य व्यवस्था को लेकर बहुत सजग हैं। उनका विश्वास है कि परम्परागत व्यवस्थित छन्दों में लिखी हुई कविता एक 'नियत परिपाटी' में ढली होती है और नियमबद्ध होने के कारण एक

लीक पर पड़ी दिखाई देती हैं। छन्दों के कठोर अनुशासन के कारण ही लैटिन कविताएँ उच्च महत्ता प्राप्त नहीं कर सकी हैं। यद्यपि 'लय' कविता के लिए अनिवार्य है तथापि इस लय का स्वरूप भी स्वीकृत छन्दों के लय में बँधकर पूरी तरह सतही हो जाता है। लय की स्थिति काव्यार्थ की गहराई में है।

रिचर्ड्स के विचारों की नवीनता पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में विशेष महत्त्व रखती है। उनके अनुसार लय केवल ध्वनि-व्यवस्था मात्र नहीं है, अपितु गहरे स्तर पर वह अर्थ व्यवस्था भी है। छन्दों का यान्त्रिक प्रयोग रिचर्ड्स को स्वीकार्य नहीं है। उनके अनुसार छन्द की उपयोगिता लय को नियमित करने में है। छन्द की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए वे यह मत स्थापित करते हैं कि काव्य तथा संगीत में लय इस प्रकार नियोजित की जाती है कि अर्थ की भावी सम्भावनाओं का प्रकाश मन में छाया रहता है।

आई. ए. रिचर्ड्स मीमांसा को कला की बजाय शास्त्र कहते हैं। उनके अनुसार मीमांसा केवल मूल्यांकन ही नहीं करती, अपितु मानदण्ड भी निर्धारित करती है। अर्थ की गहराई को समझने के लिए वे भाषा में स्पष्टता, तथ्यपरकता एवं तार्किकता को आवश्यक मानते हैं और रहस्यमयता एवं अस्पष्टता को अर्थगत दोष के रूप में व्याख्यायित करते हैं।

2.4.4. आई. ए. रिचर्ड्स का सम्प्रेषणीयता का सिद्धान्त

आई. ए. रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान का आधार लेकर काव्य में सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार सम्प्रेषणीयता में कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सम्प्रेषणीयता किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना है। इस परिप्रेक्ष्य में कवि, कलाकार या सर्जक की अनुभूतियों का भावक द्वारा अनुभव किया जाना ही सम्प्रेषण है।

सम्प्रेषणीयता के आधारभूत तत्त्वों पर विचार करते हुए आई. ए. रिचर्ड्स ने इसका श्रेय कवि की वर्णन-क्षमता और श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। उनकी दृष्टि में कला में सम्प्रेषणीयता आवश्यक है, लेकिन इसके लिए कलाकार को अलग से प्रयत्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि, कलाकार जितना सहज और स्वाभाविक रूप से अपना कार्य करेगा, उसकी अनुभूतियाँ उतनी ही सम्प्रेषणीय बनेंगी।

काव्य-सम्प्रेषण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे छह भागों में विभाजित किया है –

(i) मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण।
(ii) नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से सम्बन्धित विषयों का ग्रहण।
(iii) स्वतन्त्र विषयों का ग्रहण।
(iv) विभिन्न वस्तुओं का बोध।
(v) भाषानुभूति।
(vi) दृष्टिकोण सामंजस्य।

काव्य को पढ़ने से सर्वप्रथम अक्षरों, उसकी स्पष्टता, शुद्धता आदि का बोध होता है। उसके बाद उन अक्षरों से पाठक अथवा श्रोता के मन में बिम्ब बनने प्रारम्भ होते हैं। रिचर्ड्स के अनुसार किसी कविता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे दो बिम्ब उत्पन्न नहीं होंगे। यह भी सम्भव है कि सभी पाठकों के मन में अलग-अलग बिम्ब बनें। अतः काव्य में मूर्तविधान का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। काव्यानुभूति व सम्प्रेषणीयता के सन्दर्भ में आइ. ए. रिचर्ड्स यह मत स्थापित करते हैं कि मूर्तविधानजन्य स्थिति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण भावतत्त्व है जिसके कारण विभिन्न पाठकों के अनुभव में समानता आती है। सम्प्रेषण सिद्धान्त की उपयोगिता एवं महत्त्व को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) रिचर्ड्स काव्य का मूल्यांकन रागात्मक आधार पर करते हैं और पाठकों के मन पर पड़े प्रभावों के आधार पर ही उसे आँकते हैं।

(ii) मनोविज्ञान के आधार पर विश्लेषण करते हुए वे सम्प्रेषण सिद्धान्त में आदिम आवेगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उल्लेखनीय है कि रस सिद्धान्त में स्थायी भाव की सत्ता 'वासना रूप में विद्यमान' भावों के रूप में की गई है।

(iii) रस सिद्धान्त में जहाँ भिन्न-भिन्न रसों की चर्चा की गई है, वही रिचर्ड्स ने विरोधी आवेगों को स्वीकार किया है।

(iv) रिचर्ड्स का सम्प्रेषण सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित साधारणीकरण के बहुत निकट है।

(v) संचार की दृष्टि से भाषा में 'लहजा / लहजे' का विशेष महत्त्व है जिसका आधार सम्बन्ध न होकर भावदशा है।

2.4.5. आई. ए. रिचर्ड्स का अवदान

आई. ए. रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धान्त ने अपने युग के समीक्षकों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उन्होंने साहित्य का एक ऐसा वातावरण खोजने का प्रयास किया जो भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के तत्त्वों से समन्वित है। विज्ञान के युग में विज्ञान के आतंक से मुक्त होकर उन्होंने कविता की महत्ता को प्रतिष्ठापित किया। रिचर्ड्स का अवदान इस रूप में भी है कि उन्होंने साहित्यालोचना को वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता प्रदान की। रिचर्ड्स कलावाद का पूरी तार्किकता से खण्डन करते हुए काव्यानुभव को जीवनानुभव की ठोस जमीन पर स्थापित करते हैं। कहना सही होगा कि उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन को नवीन दिशा प्रदान की है तथा नये शब्दों से उसे समृद्ध किया है। आई. ए. रिचर्ड्स के काव्यशास्त्रीय अवदान को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) रिचर्ड्स ने मानवीय व्यवहार एवं क्रियाओं में कला को सर्वाधिक मूल्यवान् क्रिया स्वीकार किया है।

(ii) उनकी दृष्टि में कविता विचारों की अभिव्यक्ति के लिए नहीं अपितु भावों के प्रभावार्थ होती है। इसलिए साहित्य में अभिव्यक्त विचार भाव और दृष्टिकोण के निमित्त होते हैं।

(iii) रिचर्ड्स की स्थापना में सम्प्रेषण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उसके लिए कलाकार को न तो सजग रहने की आवश्यकता है और न ही अलग से प्रयत्न करने की।

(iv) काव्यानुभूति में भावोदीप्ति को उद्देश्य मानते हुए भी उन्होंने उसका लक्ष्य हमारे आवेगों को सुव्यवस्थित करना बताया है।

(v) रिचर्ड्स का मानना है कि समालोचना केवल मूल्यांकन ही नहीं करती है, अपितु रचनात्मक मानदण्ड भी निर्धारित करती है। वे साहित्य, या काव्य का मूल्य केवल रागात्मक आधार पर स्वीकार करते हैं और काव्यानुभूति का मूल्य पाठक के मन पर पड़ने वाले प्रभावों को मानते हैं।

(vi) काव्य अथवा साहित्य का सरोकार विशुद्ध बौद्धिक सत्य से न होकर भावात्मक सत्य से होता है। रिचर्ड्स का 'मूल्य सिद्धान्त' कलाशास्त्र और मनोविज्ञान के चिन्तन और विश्लेषण पर केन्द्रित है।

2.4.6. सारांश

बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य समीक्षक आई. ए. रिचर्ड्स की प्रतिपादन शैली, तात्त्विक अभिव्यंजना और चिन्तन-परम्परा अत्यन्त क्लिष्ट और दुरूह होते हुए भी उपादेय है। समालोचना के क्षेत्र में उनकी स्थापनाएँ सर्वग्राह्य हैं। मनोवेगों से सम्बन्धी उनका सैद्धान्तिक विमर्श मौलिक एवं चिन्तन-प्रधान है। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति को अपनाया है। यद्यपि भाषा और अर्थ सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में परवर्ती विचारकों द्वारा उनकी आलोचना की गई है तथापि काव्य के समग्र मूल्यांकन में 'प्रसंग' के महत्त्व सम्बन्धी उनकी अवधारणात्मक उपयोगिता आधुनिक समीक्षा जगत् में समादृत है।

2.4.7. शब्दावली

मनोवेग	:	भावोद्दीपन
मीमांसा	:	अनुशीलन
समानुभूति	:	तादात्म्य
भाव	:	विषय के प्रति लेखकीय विचार
प्रत्याशा	:	सम्भावना

2.4.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिन्हा, प्रो॰ सावित्री, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
2. जैन, निर्मला, काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. गुप्त, शान्ति स्वरूप, पाश्चात्य आलोचना के काव्य-सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. शर्मा, डॉ॰ देवेन्द्रनाथ, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
5. जैन, निर्मला, पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

6. श्रीवास्तव, अर्चना, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. सिंह, विजय बहादुर, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.
8. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला.

2.4.9. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आई. ए. रिचर्ड्स के 'मूल्य सिद्धान्त' की व्याख्या कीजिए।
2. आई. ए. रिचर्ड्स की अर्थ-मीमांसा सम्बन्धी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
3. आई. ए. रिचर्ड्स के 'भाषा का रागात्मक प्रयोग' सम्बन्धी विचार को संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए।
4. आई. ए. रिचर्ड्स के 'सम्प्रेषण सिद्धान्त' की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिए।
5. आई. ए. रिचर्ड्स के आलोचक व्यक्तित्व को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नच

1. "आई. ए. रिचर्ड्स ने भाषा, मनोविज्ञान, अध्यात्म, दर्शन आदि को मिलाकर नूतन काव्य-सिद्धान्तों की महत् प्रतिष्ठा की है।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. "कविता में सम्प्रेषणीयता के बिना उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।" इस कथन के आलोक में आई. ए. रिचर्ड्स के भाषासम्बन्धी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन' के रचयिता हैं –

(क) आई. ए. रिचर्ड्स
(ख) टी. एस. एलियट
(ग) मैथ्यू आर्नल्ड
(घ) विलियम वर्ड्सवर्थ

2. आई. ए. रिचर्ड्स की अन्तिम कृति 'बियोंड' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(क) 1970 ई. में
(ख) 1972 ई. में
(ग) 1974 ई. में
(घ) 1976 ई. में

3. 'मूल्य सिद्धान्त' के प्रणेता हैं –

(क) लोंजाइनस
(ख) अरस्तू
(ग) मैथ्यू ऑर्नल्ड
(घ) आई. ए. रिचर्ड्स

4. 'काव्यभाषा का संवेगात्मक सिद्धान्त' के प्रतिपादक हैं –

(क) टी. एस. एलियट
(ख) आई. ए. रिचर्ड्स
(ग) विलियम वर्ड्सवर्थ
(घ) इनमें से कोई नहीं

5. 'फिलॉसफी ऑफ रेटरिक' में उल्लेख मिलता है –

(क) शब्दों के स्वभाव का
(ख) शब्दों के साहचर्य के नियम का
(ग) शब्द संगति तथा वाक्य-विन्यास का
(घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : सिद्धान्त और वाद

इकाई – 1 : स्वच्छन्दतावाद

इकाई की रूपरेखा

3.1.00. उद्देश्य
3.1.01. प्रस्तावना
3.1.02. स्वच्छन्दता का अर्थ और स्वच्छन्दतावाद की परिभाषा
3.1.02.1. स्वच्छन्दता शब्द का अर्थ
3.1.02.2. स्वच्छन्दतावाद की परिभाषा
3.1.03. स्वच्छन्दतावाद की पूर्व-पीठिका
3.1.03.1. स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि
3.1.03.2. स्वच्छन्दतावादी कला-सिद्धान्त
3.1.04. स्वच्छन्दतावाद का उद्भव और विकास
3.1.05. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास
3.1.05.1. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (पृष्ठभूमि)
3.1.05.2. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (जर्मनी)
3.1.05.3. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (इंग्लैंड)
3.1.05.4. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (फ्रांस)
3.1.06. स्वच्छन्दतावाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ
3.1.06.1. आत्मपरकता
3.1.06.2. प्रकृति-प्रेम
3.1.06.3. भाव-प्रवणता
3.1.06.4. कल्पना
3.1.06.5. विद्रोह
3.1.06.6. भाषा-शैली और काव्यरूप
3.1.06.7. सौन्दर्य की चाह
3.1.07. स्वच्छन्दतावाद की अन्य प्रवृत्तियाँ
3.1.07.1. जैविकता
3.1.07.2. विलक्षणता और चित्रात्मकता
3.1.07.3. विडम्बना
3.1.07.4. राष्ट्रवाद
3.1.08. स्वच्छन्दतावाद का अवसान
3.1.09. पाठ-सारांश
3.1.10. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ
3.1.10.1. हिन्दी पुस्तकें
3.1.10.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
3.1.10.3. इंटरनेट स्रोत
3.1.11. अभ्यास प्रश्न

3.1.00. उद्देश्य

पाश्चात्य काव्यशात्र के अध्ययन के अन्तर्गत अब तक आप अरस्तू से लेकर आई॰ ए॰ रिचर्ड्स तक प्रमुख चिन्तकों और उनके विचारों का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप स्वच्छन्दतावाद का अध्ययन करेंगे। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. स्वच्छन्दता का अर्थ और स्वच्छन्दतावाद का स्वरूप समझ पाएँगे।
ii. स्वच्छन्दतावाद के उद्भव और विकास को जान पाएँगे।
iii. स्वच्छन्दतावाद की विशेषताओं और मुख्य प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iv. प्रमुख स्वच्छन्दतावादी कवियों और चिन्तकों के विचार जान पाएँगे।

3.1.01. प्रस्तावना

स्वच्छन्दतावाद का जन्म अट्ठारहवीं सदी के यूरोप में हुआ। इस आन्दोलन का प्रभाव पूरी दुनिया के चिन्तन और साहित्य पर किसी न किसी रूप में रहा है। इस आन्दोलन का मुख्य ज़ोर आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर था। कवि स्वयं कविता का नायक और वाचक बना। पिछले समय की तार्किकता को यान्त्रिक, निर्वैयक्तिक और कृत्रिम घोषित कर दिया गया। इसके स्थान पर भावात्मकता, सहजता और मौलिकता को वैचारिक और सृजनात्मक साहित्य का मुख्य आधार माना गया। स्वच्छन्दतावादी कवि स्वयं को अपने कल्पनात्मक सत्य को अभिव्यक्त करने वाली स्वतन्त्र सत्ता मानने लगे। उन्होंने लोक भाषाओं और लोक-संस्कृति का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्हें रचनाशीलता का माध्यम और विषय बनाया। इससे प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम की अभिव्यक्ति के साथ-साथ साहित्य में साधारण जीवन की पुनर्प्रतिष्ठा हुई।

अनेक पूर्व-प्रचलित मूल्यों और विचारों के प्रति निषेधात्मक प्रतिक्रियास्वरूप उभरने के बावजूद स्वच्छन्दतावाद कोई नकारात्मक प्रवृत्ति नहीं थी। चिन्तन और सृजन के क्षेत्र में इस आन्दोलन ने अनेक मूल्यवान् कृतियाँ साहित्य जगत् को दी हैं। वस्तुत: स्वच्छन्दतावाद एक व्यापक कलात्मक और सांस्कृतिक रुझान था जो अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ और उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में अपने चरम पर पहुँचा।

3.1.02. स्वच्छन्दता का अर्थ और स्वच्छन्दतावाद की परिभाषा

हिन्दी में 'स्वच्छन्दतावाद' अंग्रेज़ी के 'रोमैण्टिसिज़्म' का समानार्थी शब्द और विचार है। 'स्वच्छन्दतावाद' को प्रायः 'स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन' या 'स्वच्छन्दतावादी उत्थान' के नाम से भी जाना जाता है। 'स्वच्छन्दता' या 'स्वच्छन्दतावाद' से जो सामान्य अर्थ-बोध होता है, एक साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रवृत्ति या आन्दोलन के रूप में इसका अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक और संश्लिष्ट है।

3.1.02.1. स्वच्छन्दता शब्द का अर्थ

'रोमैण्टिसिज़्म' शब्द 'रोमैंस' और 'रोमैण्टिक' शब्दों से निस्सृत है। ये दोनों शब्द अतिभावुकता और काल्पनिकता के अन्तर्निहित भावों के साथ अलग-अलग समय में अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते रहे हैं। इन शब्दों की अर्थध्वनियाँ मध्यकालीन रूमानियत और साहसिक कथाओं से लेकर उन्मुक्त और अमूर्त विचारों की अभिव्यक्ति तक व्याप्त हैं, परन्तु हम यहाँ पर इन शब्दों के साहित्यिक इतिहास पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

'रोमैण्टिक कविता' शब्द का प्रथम प्रयोग पुनर्जागरणकाल के इतालवी कवियों लुडोविको अरिस्तो और तोरक्वातो तास्सो ने सोलहवीं सदी में किया था। उन्होंने वीरतापूर्ण कथाओं और मध्यकालीन रोमांस (प्रेम, वीरता, उच्च आदर्शों और अतिमानवीय क्रियाओं पर आधारित कथाएँ) के आशय में इस शब्द का प्रयोग किया था। फ्रांस में 1669 में कला-चिन्तन के सन्दर्भ में और इंग्लैंड में 1674 में पारिभाषिक रूप में इसका प्रयोग हुआ। टॉमस वार्टन ने 1774 में प्रकाशित ग्रन्थ 'अंग्रेज़ी काव्य का इतिहास' में संकलित अपने शोध निबन्ध का शीर्षक 'यूरोप में रोमैण्टिक कथा साहित्य का उद्भव' रखा था। जर्मनी में 1766 में गर्स्टनबर्ग ने वार्टन की पुस्तक 'फेयरी क्वीन पर टिप्पणियाँ' पर लिखी एक समीक्षा में 'गॉथिक' और 'रोमैण्टिक' में अन्तर बताने का प्रयास किया।

जर्मन कवि और दार्शनिक नोवालिस ने 1798-99 में 'रोमैण्टिक' शब्द का संज्ञा के रूप में स्पष्ट प्रयोग किया। नोवालिस के विचारों की प्रतिध्वनि फ्रेड्रिख़ श्लेगल के विचारों में मिलती है जब वह कहता है कि स्वच्छन्दता समस्त काव्य का तत्त्व है और समस्त काव्य स्वच्छन्द होता है। फ्रेड्रिख़ श्लेगल के भाई ऑगस्त श्लेगल ने सौन्दर्यशास्त्र पर दिए गए अपने भाषणों (येना, 1798) में रोमैण्टिक नाटकों के प्रभाव की ओर संकेत किया था। आगे चलकर उसने (बर्लिन, 1801-04 और वियना, 1808-09 में) 'शास्त्रीय' के विरोधी अर्थों में विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में 'रोमैण्टिक' शब्द का प्रयोग कर इसे साहित्यिक इतिहास में प्रतिष्ठित किया। यहाँ से यह शब्द इस विशेष अर्थ के साथ दुनिया के अन्य देशों में पहुँचा। हिन्दी साहित्य में 'रोमैण्टिक' को 'स्वच्छन्दता' और 'रोमैण्टिसिज़्म' को 'स्वच्छन्दतावाद' के अर्थ में पारिभाषिक मान्यता प्राप्त है। 'स्वच्छन्दता' और 'स्वच्छन्दतावाद' शब्दों का साहित्यिक सन्दर्भ में प्रयोग उस नवीन रचनाशीलता के लिए किया जाता है जिसका उत्थान अठ्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में मुख्य रूप से नव-आभिजात्यवाद के विरोध में हुआ था।

3.1.02.2. स्वच्छन्दतावाद की परिभाषा

साहित्यिक आलोचकों के मध्य स्वच्छन्दतावाद की परिभाषा को लेकर बहुत विवाद और मतभेद रहा है। 'दि ऑक्स्फ़र्ड कम्पैनियन टू इंगलिश लिट्रेचर' में स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में लिखा गया है कि "यह एक साहित्यिक आन्दोलन, और संवेदनशीलता में बड़ा परिवर्तन था, जो ब्रिटेन और पूरे यूरोप में 1770 और 1848 के बीच हुआ। बौद्धिक स्तर पर इसने ज्ञानोदय के विरुद्ध तीक्ष्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की। राजनैतिक दृष्टि से यह फ्रांस और अमेरिकी क्रान्तियों से प्रेरित था ... भावनात्मक रूप से इसने आत्म और व्यक्तिगत अनुभवों के महत्त्व को

असीम और लोकोत्तर भाव के साथ दृढ़तापूर्वक अभिव्यक्त किया ... सामाजिक रूप से इसने प्रगतिशील उद्देश्यों का प्रबल समर्थन किया ... स्वच्छन्दतावाद का शैलीवैज्ञानिक सिद्धान्त गहनता है, और इसका नारा 'कल्पना' है।"

स्वच्छन्दतावाद वैयक्तिकता और मानव-अनुभव के आत्मनिष्ठ आयामों पर बल देता है। वैयक्तिकता पर अधिक बल का आशय प्रत्येक व्यक्ति की स्वायत्तता और इस स्वायत्तता से उत्पन्न विविधता और भेद है। इसलिए कुछ आलोचक मानते हैं कि सैद्धान्तिक और रचनात्मक स्तर पर एक नहीं अनेक स्वच्छन्दतावाद हैं। ऑर्थर ओ॰ लवजॉय ने अपने निबन्ध 'ऑन द डिस्क्रिमिनेशन ऑफ रोमैण्टिसिज़्म'(1924) में स्वच्छन्दतावाद की बहुलता को रेखांकित किया है और लिखा है कि "एक देश का स्वच्छन्दतावाद दूसरे देश के स्वच्छन्दतावाद से मेल नहीं खाता है। यह असल में स्वच्छन्दतावादों का बहुवाद है।" लवजॉय के अनुसार स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में विभिन्न कलाकारों के परस्पर विरोधी विचार सामने आते हैं और इसके इतने अर्थ हैं कि इसका कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। अतः हमें स्वच्छन्दतावादों की बात करनी चाहिए ताकि स्वच्छन्दतावाद और स्वच्छन्दतावादी विचारों के अलग-अलग रूपों को पहचाना जा सके।

दूसरी ओर, रेने वेलेक ने इस मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए 'कॉन्सैप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में लिखा है कि "इस अतिशय बहुवाद का कोई आधार नहीं है, क्योंकि मुख्य स्वच्छन्दतावाद के आन्दोलनों की दार्शनिक मान्यताओं और शैलियों में अन्विति है और ये विचारों के समन्वित समूह का निर्माण करते हैं।" रेने वेलेक के अनुसार स्वच्छन्दतावाद यूरोप के चिन्तन और कला का एक सामान्य आन्दोलन है तथा इसकी निजी जड़ें हर बड़े देश में है, क्योंकि इस प्रकार की समस्त गम्भीर और सार्थक सांस्कृतिक क्रान्तियाँ आयातों से सम्पन्न नहीं होतीं।

वॉल्टर पेटर की मान्यता है कि "स्वच्छन्दतावाद किसी सांस्कृतिक दौर का कोई अलग कला-आन्दोलन नहीं है, बल्कि यह तो प्रत्येक काल में सभी कला-आन्दोलनों का एक भाग रहा है। ... स्वच्छन्दतावाद प्रत्येक युग की नवीन, परम्परा-भंजक और नवोन्मेषी रचनाशीलता में सदैव पाया जाता है और वही आगे चलकर क्लासिक या शास्त्रीय बन जाता है।"

चार्ल्स बॉदलेयर के शब्दों में "स्वच्छन्दतावाद की अवस्थिति न तो विषय-वस्तु के चुनाव में है और न ही वास्तविक सत्य में, बल्कि अनुभव करने के ढंग में है।"

3.1.03. स्वच्छन्दतावाद की पूर्व-पीठिका

एक कला-सिद्धान्त या साहित्यिक आन्दोलन के रूप में स्वच्छन्दतावाद का सम्बन्ध अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के यूरोप से है, परन्तु स्वच्छन्दतावाद कोई एकदम नया विचार नहीं था। वस्तुत: शास्त्रीय अथवा आभिजात्य भावधारा के साथ-साथ स्वच्छन्द भावधारा सदैव चलती रही है, जिसमें बाह्य यथार्थ को प्रमुखता दी जाती थी और कला को इस यथार्थ का प्रतिबिम्ब माना जाता था।

3.1.03.1. स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि

अनुकरण सिद्धान्त के अनुसार मानव मस्तिष्क बाह्य जगत् का निष्क्रिय भोक्ता है। वह इसमें किसी भी प्रकार से संशोधन नहीं कर सकता। प्लेटो और अरस्तू अलग-अलग तर्क-प्रणाली के साथ इसी सिद्धान्त के प्रवर्तक थे। अनुकरण सिद्धान्त में मनुष्य का महत्त्व मानव-प्रजाति के सदस्य के रूप में है, न कि एक व्यक्ति के रूप में। 'सामान्य' में ही सभी मूल्य समाहित हैं, जो भी व्यक्तिगत है वह विशिष्ट है। तर्क ही सर्वश्रेष्ठ गुण है, वही सर्वोपरि पथ-प्रदर्शक और त्राणदाता होता है। नव-आभिजात्यवाद में अनुकरण के सर्वमान्य सिद्धान्त के अतिरिक्त होरेस के इस सूत्र पर विशेष बल दिया गया कि कला का उद्देश्य 'आनन्द' और 'उपदेश' होना चाहिए।

अट्ठारहवीं सदी के अन्त तक आते-आते अनुकरणात्मक-तर्कवादी सौन्दर्यशास्त्र की मूलभूत मान्यताओं को चुनौती देने वाले नये रुझानों और कला-मानों के स्पष्ट संकेत मिलने लगते हैं, जीवन और कला के प्रति नया स्वच्छन्द दृष्टिकोण उभरने लग गया था।

इमैनुएल कांट और फ़िख़्टे वस्तुगत जगत् के आत्मगत सन्दर्भों को अपने चिन्तन में प्रमुखता देने लग गए। फ़िख़्टे ने घोषणा कर दी कि अनात्म का अस्तित्व आत्म पर निर्भर होता है तथा संसार का अस्तित्व और रूपाकार पूर्ण रूप से व्यक्तिगत कल्पना पर निर्भर होता है। फ्रेड्रिख़ श्लेगल और ऑगस्त श्लेगल, हायरिख़ हायने तथा लुडविग ओहलान्द आदि ने अपने लेखन में इस वैचारिक परिवर्तन को साकार कर दिया।

संक्षेप में, स्वच्छन्दतावादियों ने मनुष्य की आत्मपरकता और उसकी अभिव्यक्ति तथा प्रकृति के उल्लास को अपना आदर्श माना है। इन आदर्शों के साथ समाज के आदिम रूप, मनुष्य की रागात्मकता और भावावेग, स्वतःस्फूर्ति और सरलता, उदात्त और लोकोत्तर भाव तथा कल्पना को समाहित करते हुए इन्हें तार्किकता और वस्तुगत यथार्थ से श्रेष्ठ और मूल्यवान् माना है।

3.1.03.2. स्वच्छन्दतावादी कला-सिद्धान्त

उपर्युक्त ज्ञान-मीमांसा से निस्सृत कला-सिद्धान्त कलाकार के आन्तरिक आयामों को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। यह अनुकरण सिद्धान्त के इस निष्कर्ष को अस्वीकार करता है कि कला अनुकृति या अधिक से अधिक एक व्याख्या है, या कि कला बुद्धि की विषय-वस्तु है जो अलग-अलग विचारों को मिलाकर सुखद दृश्यों या सर्वमान्य चित्रों का निर्माण करती है। स्वच्छन्दतावादी चिन्तन के अनुसार कला अनुकरण या व्याख्या नहीं है, और न ही यह किसी प्रकार का सार्वभौमिक प्रतिमान है। वस्तुत: कविता व्यक्ति के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति है और यदि यह बाह्य जगत् का कुछ भी प्रतिबिम्बित करती है तो केवल 'कल्पना' द्वारा परिवर्तित बाह्य जगत् को ही प्रतिबिम्बित करती है।

यद्यपि स्वच्छन्दतावादियों ने काव्य की परिभाषा में अलग-अलग प्रकार के विवरण और तर्क दिए हैं, लेकिन उन सब में अभिव्यक्ति और आन्तरिक के बाह्यान्तरण पर बल एक केन्द्रीय तत्त्व है। वर्ड्सवर्थ ने कविता

को 'शक्तिशाली भावनाओं के सहज उत्प्रवाह' के रूप में परिभाषित किया है। कॉलरिज रेखांकित करता है कि "सभी कलाएँ व्यक्ति के अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति है।" शैली ने कविता को 'कल्पना की अभिव्यक्ति' कहा है और बायरन कविता को कल्पना का ऐसा लावा करार देता है जिसका प्रस्फुटन भूकम्प को रोक देता है।

यद्यपि आत्माभिव्यक्ति और कल्पना स्वच्छन्दतावाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु जैसा कि वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि कविता का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति और आनन्द से पहले मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को समृद्ध और पूर्ण बनाना तथा दुःखियों और कमज़ोरों को सांत्वना प्रदान करना है। इसलिए स्वच्छन्दतावादी कवियों ने तथाकथित भद्रता को कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण बताकर उसका परित्याग कर दिया। कलाकार को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए भावना, कल्पना और अन्तःप्रज्ञा को नये काव्य-मूल्य घोषित कर दिया।

3.1.04. स्वच्छन्दतावाद का उद्भव और विकास

स्वच्छन्दतावादी साहित्य और आलोचनात्मक परम्परा का उद्भव उन सामाजिक, राजनैतिक,आर्थिक और बौद्धिक परिवर्तनों के गर्भ से हुआ जो पुनर्जागरणकाल से यूरोप में विकसित हो रहे थे। यूरोप के इतिहास में यह विस्तृत कालखण्ड प्राचीन सामन्ती व्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त होने का समय था। इस युग में बुद्धि और विवेक मानवता के कल्याण का मूलमन्त्र बन चुके थे। जीवन में बुद्धि और तर्क की अतिशय प्रमुखता के कारण साहित्य में भी भावों का स्थान गौण हो गया था। नियमबद्धता और शास्त्रीयता ने उन्मुक्त विचारों और भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। कठोर प्रतिमानों और तर्क-बुद्धिवाद की कसौटियों पर कसे जाने के कारण साहित्य जन-मन से दूर हो गया था।

अट्ठारहवीं शताब्दी में जर्मनी और इंग्लैंड के दर्शनशास्त्र और साहित्यिक सिद्धान्तों में दृढ़ अन्तस्सम्बन्ध रहे हैं। ये सम्बन्ध इन दोनों देशों के बीच के राजनैतिक और आर्थिक सम्बन्धों के परिचायक हैं। इन देशों में प्राचीन सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध बुर्जुवा वर्ग का विरोध मुखर और निर्णायक रूप से हुआ, जबकि फ्रांस में 1789 की 'एस्टेट जनरल' और 'फ्रांस की राज्य-क्रान्ति' की उग्रता के बाद मध्यवर्ग की आकांक्षाओं को नयी उड़ान मिली।

जर्मनी के भाववादी दर्शन और 'रोमैण्टिक' साहित्य का स्वच्छन्दतावादी साहित्य, विशेष रूप से अंग्रेज़ी रचनाकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इमैनुएल कांट ने परम्परागत नैतिकता और धार्मिक विचारों की नये दार्शनिक आधारों के साथ पुनर्रचना की, जिसमें धार्मिक विचारों और जीवन-दृष्टि के लौकिकीकरण पर विशेष आग्रह था। फ्रेड्रिक हेगल के दर्शन का प्रस्थान-बिन्दु है – आत्म तथा चिन्तन का तादात्म्य अर्थात् किसी विचार या आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में वास्तविक जगत् का अवबोध। फ्रेड्रिक शिलर का विचार था कि केवल कला ही मनुष्य को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान कर सकती है। विशुद्ध नैतिक मानदण्डों पर आधारित होने के बावजूद उसका यह विचार सामन्ती व्यवस्था के प्रति विरोध का एक रूप था। ये सभी विचार स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य-दृष्टि के निर्माण में सहायक रहे हैं।

फ्रांसीसी क्रान्ति ने 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्त्व' का उद्घोष किया, जो अनेक रचनाकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। कई लेखकों ने फ्रांस जाकर इसमें भाग भी लिया था। बौद्धिक स्तर पर यह क्रान्ति मुख्य रूप से रूसो के लेखन से प्रेरित थी। रूसो ने सामन्ती वर्गसम्बन्धों और निरंकुशतावाद की तीव्र आलोचना की और मनुष्य की समानता का समर्थन किया।

3.1.05. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास

किसी भी कला-आन्दोलन के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके आन्तरिक सूत्रों की पहचान अत्यन्त आवश्यक होती है। काल के प्रवाह में बनते-बिगड़ते ही कोई विचार या आन्दोलन अपना स्वरूप ग्रहण करता है। स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उसके इतिहास पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा।

3.1.05.1. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (पृष्ठभूमि)

अट्ठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति, राष्ट्रवाद के विकास और वैज्ञानिक आविष्कारों की उपलब्धियों ने उच्च वर्ग को अपना वर्चस्व स्थापित करने की ओर प्रेरित किया, जिससे समाजवाद, अराजकतावाद तथा परम्परा और धर्म के पुनरुत्थान जैसे अन्तर्विरोधी आन्दोलनों का जन्म हुआ। इस परिदृश्य में असहमति और विरोध के स्वर उभरने लगे और आभिजात्य वर्ग के विरुद्ध वैचारिक और राजनैतिक विद्रोह शुरू हो गया।

औद्योगिक क्रान्ति ने भी धीरे-धीरे आभिजात्यवादी संस्कृति के सामाजिक आधारों को कमज़ोर किया। फ्रांसीसी क्रान्ति ने इससे राजनैतिक ढंग से निपटने का मार्ग दिखाया। जनता के व्यापक हिस्सों, विशेष रूप से मध्यमवर्ग, के हितों को प्रतिबिम्बित करने वाली नयी संस्कृति एक आवश्यकता बन गई थी। 'स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन' ने इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की। स्वच्छन्दतावादी अपने आदर्श अतीत में खोज रहे थे, इसलिए जब तक पुरानी सामन्ती व्यवस्था और उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के मूल्यों का टकराव समाप्त नहीं हुआ, तब तक किसी भी देश के साहित्य और आलोचना में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ पूरी तरह से प्रकट नहीं हो पाई थीं। यह अकारण नहीं है कि स्वच्छन्दतावाद का विकास प्रारम्भ में जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस में हुआ जहाँ समाज में बुर्जुआ वर्ग का आधिपत्य पहले हुआ। इतिहास की गति के साथ आगे चलकर इटली, अमेरिका, स्पेन, पोलैंड और रूस आदि देशों में स्वच्छन्दतावाद का प्रसार हुआ, विशेष रूप से इनके व्यापारिक केन्द्रों में, जहाँ बुद्धिजीवियों और लेखकों ने परम्परागत मूल्यों को खुली चुनौती दी।

इस आन्दोलन के अग्रणी देशों – जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस में अपनी मूल अवधारणा और प्रेरणा में समानता दर्शाने के बावजूद इसके उद्भव और विकास के विशेष स्थानीय कारण और परिस्थितियाँ रही हैं। आइये देखें कि यूरोप के इन तीन देशों में स्वच्छन्दतावाद का विकास किस प्रकार हुआ।

3.1.05.2. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (जर्मनी)

जर्मनी को स्वच्छन्दतावाद की जन्मभूमि कहा जाता है। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति, आभिजात्यवाद और फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की पृष्ठभूमि में इसका जन्म हुआ। हेमन, गेटे, शिलर और हर्डर आदि के नेतृत्व में शुरू हुए 'तूफान और तनाव' (स्टॉर्म एण्ड स्ट्रैस) आन्दोलन की विरासत और फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो के प्रभाव के साथ-साथ इसके दर्शनशास्त्र और साहित्य-सिद्धान्त की मुख्य अवधारणाओं का स्रोत जर्मनी के दार्शनिक और लेखक थे। गेटे, शिलर, नोवालिस, हायने जैसे कवि और फ्रेड्रिक श्लेगल और ऑगस्त श्लेगल जैसे आलोचक तथा हेगल, इमैनुएल कांट, शेलिंग, फ़िख़्टे एवं शोंपनहोंवर जैसे दार्शनिक-विचारक इस सांस्कृतिक आन्दोलन के वास्तविक प्रणेता थे।

फ्रेड्रिक श्लेगल ने अपने ग्रन्थ 'अथीनीएम फ्रैग्मैण्ट' में माना है कि 'स्वच्छन्द' शब्द की सुस्पष्ट समझ का विकास आवश्यक है ताकि इस आन्दोलन को जर्मनी और आधुनिकता का प्रतीक बनाया जा सके। स्वयं उसने 'स्वच्छन्द विडम्बना' की अवधारणा के माध्यम से जीवन और जगत् को समझने का प्रयास किया। ऑगस्त श्लेगल के अनुसार कविता में केवल आन्तरिक उत्कृष्टता ही निर्णायक होती है। हमें इस आन्तरिकता को किसी आवरण से छिपाना नहीं चाहिए।

ऑगस्त श्लेगल से कुछ ही समय पहले फ्रेड्रिक शिलर ने इस स्वच्छन्द अवधारणा को अपने निबन्ध 'नाइईव एण्ड सेंटीमेंटल पॉयट्री' (1795) में बाल सुलभ और आदिम प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कर दिया था। उसने बताया कि सभ्य व्यक्ति जिन प्रेमपूर्ण सुकोमल भावों का अनुभव प्रकृति और आदिम अवस्था के लिए करता है वह अनुभव नैतिक है न कि सौन्दर्यात्मक।

नयेपन के उत्साह के बावजूद जर्मन स्वच्छन्दतावादी अपने समय के बदलते यथार्थ को पूरी तरह से समझ पाने में नाकाम रहे। कुछ ही समय बाद कई लेखक अतीत में लौटने लगे और जिस काल को 'अन्धयुग' कहा जाता था वह उन्हें 'मानवता का अद्भुत काल' नज़र आने लग गया। उन्हें मध्ययुगीन नैतिकता लुभाने लगी। उस समय जर्मन स्वच्छन्दतावादियों पर ज्ञानोदयी तर्कवादियों द्वारा वैचारिक आक्रमण हो रहे थे और धार्मिक संस्थाएँ परम्परागत मूल्यों की संरक्षक बनी हुई थीं। ऐसे परिवेश में पुरानी पीढ़ी के अधिकांश जर्मन लेखकस्वच्छन्दता की मूल भावना को अक्षुण्ण नहीं रख सके। फ्रेड्रिक श्लेगल और नोवालिस प्रोटेस्टैण्ट से कैथोलिक प्रचारक बन गए; जबकि फ्रेड्रिक श्लायरमारकर आधुनिक प्रोटेस्टैंट उदारवाद का बड़ा धर्माचार्य बन गया। अपने पुरोधा शिलर के साथ उपर्युक्त सभी लेखक यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद के अग्रणी सिद्धान्तकार और आलोचक थे।

3.1.05.3. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (इंग्लैंड)

इंग्लैंड में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन एक स्वतः विकसित और अनौपचारिक साहित्यिक गतिविधि की तरह था। इसका प्रारम्भ विलियम वर्ड्सवर्थ के काव्य-संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन (1798) से माना जाता है। सन 1800 में प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' के दूसरे संस्करण (1802 में संशोधित एवं परिवर्द्धित) में

वर्ड्सवर्थ ने एक लम्बी 'भूमिका' लिखी। यह 'भूमिका' 'लिरिकल बैलेड्स' में संगृहीत कविताओं के बारे में है जिसमें काव्य के उद्देश्य, स्वरूप, विषयवस्तु और काव्यभाषा पर वर्ड्सवर्थ ने अपनी मान्यताओं को अभिव्यक्त किया है। 'लिरिकल बैलेड्स' में वर्ड्सवर्थ के साथ-साथ कॉलरिज की कविताएँ भी हैं और भूमिका में व्यक्त विचारों में कॉलरिज के विचार भी शामिल थे। यद्यपि आगे चलकर कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ के विचारों से अपना मतभेद प्रकट किया और उसकी आलोचना की। 'लिरिकल बैलेड्स' के लिए वर्ड्सवर्थ द्वारा लिखी गई 'भूमिका' स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के नये सौन्दर्यशास्त्र का घोषणा-पत्र है। कॉलरिज ने अपने सौन्दर्यशास्त्र की नींव कल्पना के सिद्धान्त और जैववाद के विचार के आधार पर रखी।

सैमुअल टेलर कॉलरिज अंग्रेज़ी कविता की स्वच्छन्दतावादी धारा का प्रमुख और प्रतिभाशाली कवि था। वह साहित्य का आलोचक भी था। वह जर्मन दार्शनिकों से बहुत प्रभावित था। उसने अपनी आलोचना पुस्तक 'बायोग्राफ़िया लिटरेरिया' में संवेदनात्मक ज्ञान और काव्य-रचना के सम्बन्धों की व्याख्या प्रस्तुत की है। उसने कविता में कल्पना की अनिवार्यता बताते हुए उसके भेदों और कार्यों का भी विस्तार से उल्लेख किया है। उसने कल्पना को काव्य-सृजन का आधार स्वीकार करते हुए उस पर मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है।

अंग्रेज़ कवि शेली की कविताओं में स्वतःस्फूर्त गेयता एक महत्त्वपूर्ण गुण है। उनकी कविताओं में प्रेम, प्रकृति और सामाजिक परिवर्तन की भावनाएँ सहज ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं। शेली भी फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रभावित था। उसने काव्यसम्बन्धी अपने विचार अपनी पुस्तक 'ए डिफेंस ऑफ पोयट्री' में अभिव्यक्त किए हैं। वह कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति मानता है। उसने नैतिकता को ही प्रेम मानते हुए प्रेम को एक नया अर्थ प्रदान किया।

प्रायः वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, शेली, बायरन आदि कवियों के लेखन की विशेषताओं या प्रवृत्तियाँ के आधार पर अंग्रेज़ी स्वच्छन्दतावाद को पहचाना जाता है। ध्यान देने की बात है कि उस दौर के गद्य लेखकों जैसे चार्ल्स लैम्ब, सर वॉल्टर स्काट, विलियम हैज़लिट आदि के लेखन में भी स्वच्छन्दतावादी रुझान स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं।

3.1.05.4. स्वच्छन्दतावाद का इतिहास (फ्रांस)

फ्रांस में ज्याँ ज़ाक रूसो स्वच्छन्दतावाद का मुख्य प्रवर्तक था। रूसो की महान् उद्घोषणा कि "मनुष्य स्वतन्त्र जन्म लेता है, और सब जगह बेड़ियों में जकड़ा हुआ है", पहले फ्रांसीसी क्रान्ति और आगे चलकर स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रेरक बनी। उसने मानव सभ्यता के विकास की उपलब्धियों को भ्रष्टाचार, कृत्रिमता और यान्त्रिकता के लिए दोषी ठहराया और मनुष्य को प्रकृति की ओर लौटने का आह्वान किया। रूसो का 'सामाजिक संविदा' का सिद्धान्त लोकतान्त्रिक मूल्यों का पुरज़ोर समर्थन करता है।

फ्रांस में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों की स्पष्ट झलक मदाम जर्मैन द स्तैल और फ्रांस्वा द शतोब्रीयाँ की रचनाओं में मिलती है। स्तैल ने 'विवेक' और 'कल्पना' को ही मनुष्य के सर्वाधिक विलक्षण गुण माना। इन दोनों में भी 'कल्पना' अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि केवल 'विवेक' मनुष्य के मन-मस्तिष्क को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। मनुष्य को भुलावों और आनन्द की आवश्यकता होती है, और काल्पनिक रचनाएँ आनन्द प्रदान करने के साथ-साथ हमारे नैतिक आदर्शों को भी प्रभावित करती हैं। स्तैल ने समाज में महिलाओं की स्थिति और उनकी स्वतन्त्रता का मुद्दा भी उठाया। शतोब्रीयाँ ने ज्ञानोदय के आदर्शों का विरोध करते हुए कैथोलिक मत का समर्थन और प्रचार किया, परन्तु उसने अपनी रचनाओं में समाज के निम्न वर्ग के लोगों के जीवन का चित्रण भी किया। जॉर्ज सैंड ने साधारण ग्रामीणों और किसानों को अपनी रचनाओं के नायक-नायिकाएँ बनाया। विक्टर ह्यूगो ने कला और कविता को शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त कराने के लिए संघर्ष किया तथा सामाजिक अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

3.1.06. स्वच्छन्दतावाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ

स्वच्छन्दतावाद किन्हीं पूर्वनिर्धारित सुस्पष्ट नियमों के अन्तर्गत शुरू किया गया कला-आन्दोलन नहीं था। वस्तुतः नियमों का विरोध ही तो इसकी प्रारम्भिक पहचान थी। इस आन्दोलन के किसी एक लेखक की सभी रचनाओं में या एक देश के सभी रचनाकारों में एक समान प्रवृत्तियाँ नहीं पाई जाती हैं। समय के अन्तराल से एक ही लेखक के विचारों और रचनात्मक प्राथमिकताओं में भी स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। आइये, इस विस्तृत आन्दोलन के साहित्य में जो विभिन्न रुझान और प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं और जो विशेषताएँ सामने आयीं, उन पर विचार करें।

3.1.06.1. आत्मपरकता

व्यक्ति के प्रति आग्रह और आत्म-प्रतिष्ठा पर बल स्वच्छन्दतावाद का वह केन्द्र है जिसके इर्द-गिर्द उसकी अन्य मान्यताओं, विश्वासों और काव्य-मूल्यों का ताना-बाना बुना गया है। स्वच्छन्दतावादी कवि की अपनी वेदना, मनःस्थिति, आशा-निराशा और कल्पना की अभिव्यक्ति जिस गहराई और संवेदना के साथ हुई है वैसी अभिव्यक्ति अन्य सामाजिक तथ्यों की नहीं हुई है। व्यक्ति की भावनाओं और उसकी विशेष रचनात्मक प्रतिभा को इतना महत्त्व पहले कभी नहीं दिया गया गया था। पूँजीवाद के विकास के साथ उभरे शहरीकरण और विशेषीकरण ने जीवन को विखण्डित कर दिया था। एक अपूर्ण और अकेला व्यक्ति उन परिस्थितियों का सामना कर रहा था। इस अपूर्णता और एकाकीपन से उसमें आत्म-सजकता और वैयक्तिक चेतना का अभूतपूर्व संचार हुआ। अपने खोये हुए संसार को पुनः प्राप्त करने के लिए कभी अतीत और कभी भविष्य में उसके सपने देखने लगा।

व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने के फलस्वरूप व्यक्तिगत दृष्टिकोण अर्थात् आत्मपरकता को काव्य का उच्चत्तर मूल्य माना गया गया। अनेक बार तार्किक और वैज्ञानिक रूप से सिद्ध तथ्यों के सन्दर्भ में भी व्यक्तिगत

आग्रहों के कारण यथार्थ-जगत् के क्रिया-व्यापारों की उपेक्षा कर दी जाती थी। इस नितान्त व्यक्तिगत अनुभव की अभिव्यक्ति अर्द्ध-धार्मिक प्रतीकों में भी होती है। यहाँ अतिशय भावुकता और रहस्यवादी स्थिति मोहक लगती है। अन्यमनस्कता और सामाजिक मुद्दों से अलगाव कवि के असन्तोष को प्रकट करने का तरीक़ा बन जाता है।

3.1.06.2. प्रकृति-प्रेम

स्वच्छन्दतावादी कवियों ने अपने विश्व-बोध के लिए प्रकृति के सत्य और सौन्दर्य के गीत गाए हैं। मानव सभ्यता के विकास की विकृतियों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए रूसो ने मनुष्य को प्रकृति की शरण में लौट जाने के लिए पुकारा था। वर्ड्सवर्थ ने लिखा कि "कविता मनुष्य और प्रकृति का प्रतिरूप है।" यह मनुष्य शहरी और आभिजात्य नहीं है, बल्कि साधारण और ग्रामीण मनुष्य है। यह प्रकृति ऊबड़-खाबड़ मैदानों, जंगलों, लहलहाते खेतों, टहलते-चहकते पशु-पक्षियों, नदियों-झरनों और उल्लासभरे देहातों की प्रकृति है।

स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रकृति-प्रेम उन्मुक्त और सहज है। हर तरह के बनावटी सौन्दर्य का तिरस्कार करते हुए उन्होंने प्रकृति के भव्य और आनन्ददायक रूपों का मनमोहक चित्रण किया है। उस समय जब औद्योगीकरण और पूँजीवाद की शक्तियाँ प्रकृति के लिए ख़तरा बन रही थी तथा औद्योगिक सभ्यता का अन्धविकास जन-मन की विकलता बढ़ा रहा था, तब स्वच्छन्दतावादी कवियों ने प्रकृति के आलिंगन में राहत की साँस ली। ये कवि प्रकृति के सौन्दर्य और उल्लास, उसकी चमक-दमक और रूखेपन में उपलब्ध जीवन-कणों से अपनी कविता और अभिव्यक्ति को समृद्ध करते हैं। यह प्रकृति-चित्रण भौतिक सौन्दर्य के लिए उतना नहीं था जितना प्रकृति के विविध रूपों और रंगों में मनुष्य की वास्तविक अस्मिता प्राप्त करने के लिए था। कहना न होगा कि मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों का उद्घाटन करने वाला यह प्रकृति-वरण स्वच्छन्दतावादी कवियों की मुख्य अनुभूति और प्रेरणा है।

3.1.06.3. भाव-प्रवणता

स्वच्छन्दतावादी कवियों ने तार्किकता पर आधारित चिन्तन और व्यवहार को अवांछनीय और त्याज्य करार दिया। उसके स्थान पर भावों, और कभी-कभी भावातिरेक को अधिक महत्त्व दिया है। 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने बार-बार यह बताने का प्रयास किया है कि "कविता प्रबल मनोवेगों का सहज उत्प्रवाह है।" मनोवेगों का यह उत्प्रवाह सहज है लेकिन अमर्यादित नहीं है, क्योंकि ये मनोवेग शान्त अवस्था की संस्मृतियाँ हैं। कवि की संवेदनशीलता और कल्पनाशक्ति उसके भावों और विचारों में सन्तुलन बनाती है जिससे 'आत्म' की अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य मुख्यतः भावप्रधान चिन्तन का काव्य है, जिसके सरोकार मानवीय अनुभव और समस्याएँ हैं। यही कारण है कि इस काव्य में भावुकता के साथ निराशा और उदासी के भाव (भावजन्य विषाद) भी आए हैं।

3.1.06.4. कल्पना

अनुकरणात्मक-तर्कवादी सौन्दर्यशास्त्र में अतिवादी आग्रहों के कारण कविता को एक ऐसी कलाकारी माना जाने लगा था, जिसे कुछ नियमों के आधार पर कोई भी सीख सकता है। वहाँ रचनात्मक कल्पना का कोई स्थान नहीं था। कॉलरिज कहता है कि कल्पना द्वारा ही काव्य हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और सजीव बनता है, इसलिए कल्पना की क्षमता और महत्त्व अक्षुण्ण है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार कल्पना परम शक्ति है। वह मन का विस्तार और भाव-विभोर बुद्धि है जो हमें चेतना के आतंक से मुक्त करती है तथा हमें यह बोध कराती है कि मन ही बाह्य चेतना का अधिपति है।

3.1.06.5. विद्रोह

यूरोप में सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों में बुद्धि और तर्क की अधिकता और प्रभाव के कारण साहित्य में भावों का स्थान गौण हो गया था। धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति के विरुद्ध वैयक्तिक भावोन्मेष मुखर होने लगा और स्वच्छन्दतावाद के रूप में एक नये काव्य-आन्दोलन का जन्म हुआ। इसलिए स्वच्छन्दतावाद को 'तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह' कहा जाता है। स्वतन्त्रता की कामना इस विद्रोह की मुख्य प्रेरणा थी जिसका स्रोत फ्रांसीसी क्रान्ति का जन-विद्रोह था। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने प्राचीन काव्य-परम्पराओं को नकारते हुए लोगों की संवेदन-शक्ति को स्वतन्त्र कर दिया। इनका भाव-संसार प्रकृति-प्रेम से लेकर स्वतन्त्रता के प्रेम तक विस्तृत और समृद्ध था। इन विद्रोही कवियों के हाथों गहराई से अनुभूत भावों को अभिव्यक्त करने के व्यक्ति के अधिकार की पुनर्स्थापना हुई।

अभिजनोन्मुखी संस्कारों के स्थान पर सामान्य जन की भावना और बौद्धिक क्षमताओं को आधार मानकर कविताएँ लिखी गईं। शहरी सभ्यता के स्थान पर ग्रामीण जीवन को चित्रित किया गया। कृत्रिमता और भद्रता की जगह सहजता और मौलिकता को महत्त्व दिया गया। विद्रोह के इस ज्वार में न केवल साहित्य की विषयवस्तु में परिवर्तन हुआ, बल्कि भाषा और शिल्प के स्तर पर भी अभिनव प्रयोग किए गए, जिनकी चर्चा आगे की जाएगी।

3.1.06.6. भाषा-शैली और काव्यरूप

सौन्दर्यशास्त्र का कलाओं की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। साहित्य के इतिहास में रूप और अन्तर्वस्तु की जैसी विविधता और नवीनता स्वच्छन्दतावाद में दिखाई देती है वैसी किसी अन्य काल में देखने को नहीं मिलती। परम्परागत काव्य-मूल्यों को पूरी तरह निरस्त करना सम्भव नहीं था, परन्तु नये प्रतीकों और मिथकों का विषयानुरूप प्रयोग करते हुए इन कवियों ने अनेक अभिनव प्रयोग किए। छन्दबद्ध तुकान्त कविता का स्थान छन्दमुक्त अतुकान्त कविता और गीतिकाव्य ने ले लिया। अर्थगुम्फ़ित प्रतीकों को प्रकृति की सांकेतिक भाषा और मानवीय सौन्दर्यबोध का सहसम्बन्धी माना गया। वस्तुत: भाषा में अनकहे को कहने की महत्त्वाकांक्षा ही मिथकों और प्रतीकों को कविता के आँगन में ले आई। अपने अन्तर्मन को प्रकाशित

करने के लिए कवि स्वयं कविता का नायक और वाचक बना। आमजन की अपरिष्कृत भाषा और साधारण बोलचाल की शब्दावली को कविता में लाकर भावसमृद्ध बनाया और देशज काव्य-रूपों, जैसे लोकगीतों और लोकवार्ताओं, को काव्यात्मक गरिमा के साथ अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

स्वच्छन्दतावाद में आत्मपरकता, भावावेग और कल्पना पर बल दिये जाने के कारण कला के नये-नये रूपों का आविष्कार हुआ। कला के इन सभी रूपों का निर्धारण उनमें अन्तर्भूत सौन्दर्यात्मक पहलुओं के आधार पर होने लगा। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने अपने-अपने ढंग से नये काव्य-मूल्यों का अन्वेषण किया जिससे साहित्यिक विधाओं और उनके श्रेष्ठता-क्रम में भारी परिवर्तन हुआ। गीत अब एक सर्व-स्वीकृत काव्य-रूप था, क्योंकि यह आत्माभिव्यक्ति के स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के अनुरूप था। स्वच्छन्दतावादी साहित्य में गीत को अभूतपूर्व महत्त्व प्राप्त हुआ।

3.1.06.7. सौन्दर्य की चाह

स्वच्छन्दतावादियों ने आभिजात्यवादी सौम्यता और भद्रता के स्थान पर निश्छल सौन्दर्य को अधिक महत्त्व दिया है। बाल्यावस्था और प्रकृति के मध्य सम्बन्ध और सादृश्य की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का यह अनुपम रूप देखने को मिलता है। कीट्स ने सौन्दर्य को ही सत्य माना है और कहा है कि सत्य और सुन्दर अभिन्न हैं। वॉल्टर पेटर लिखता है कि सौन्दर्य की चाह प्रत्येक कलात्मक रचना का स्थायी भाव है, इसलिए यह सौन्दर्य की चाह में जिज्ञासा का मेल है जो स्वच्छन्द प्रकृति का निर्माण करता है।

3.1.07. स्वच्छन्दतावाद की अन्य प्रवृत्तियाँ

स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन में अनेक ऐसी विशेषताएँ थीं कि उनकी कोई अन्तिम सूची नहीं बनाई जा सकती। आइये, कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की चर्चा करें जिन पर प्रायः कम ध्यान दिया जाता है।

3.1.07.1. जैविकता

स्वच्छन्दतावादी लेखक कलाकृति को प्रेरणा का परिणाम मानते हैं। उन्होंने कलाकृति के रूपाकार को जीव-जगत् और वनस्पति-जगत् की उपमाओं और रूपकों के माध्यम से स्पष्ट किया है। कॉलरिज कविता को विकसित होते हुए पौधे की तरह देखता है। कीट्स कहता है कि "यदि कविता पेड़ की पत्तियों की तरह स्वाभाविक रूप से न आए, तो अच्छा है कि वह न ही आए।" शेली कविता की रचना-प्रक्रिया को माँ के गर्भ में पल रहे शिशु के विकास की तरह मानता है।

3.1.07.2. विलक्षणता और चित्रात्मकता

प्रेत कथाओं तथा अप्राकृतिक और डरावने दृश्यों के प्रति मोह स्वच्छन्दतावादी रचनाओं में प्रायः प्रकट हुआ है। सामान्य कुतूहल और विस्मय के भावों के साथ-साथ अतिमानवीय घटनाओं और अनुभवों का चित्रण

इस दौर में कई तरह से हुआ है। इस विलक्षणता और चित्रात्मकता के सूत्र मध्यकाल में हैं। मध्यकाल का धार्मिक, सामाजिक और सैनिक जीवन तथा सभी कलाएँ अद्भुत ही थीं। आभिजात्यवाद ने मध्ययुग की उपेक्षा की थी, स्वच्छन्दतावादियों ने इस युग के परिचित जीवन-सन्दर्भों और वस्तुओं को पुनरुज्जीवित कर अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बना दिया।

3.1.07.3. विडम्बना

'विडम्बना' का प्रयोग स्वच्छन्दतावादी साहित्य में उसके परम्परागत अर्थ से अलग अर्थों में हुआ है। जर्मन विचारक फ्रेड्रिक शिलर विडम्बना को तार्किक सौन्दर्य का एक रूप मानते हुए उसे असीम और सार्वभौम की अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है। स्वच्छन्दतावादियों ने अर्थगर्भित विडम्बना के माध्यम से बुर्जुआ विचारों में निहित यान्त्रिकता, उपयोगितावाद और संकीर्ण व्यापारिक दृष्टि का विरोध किया है।

3.1.07.4. राष्ट्रवाद

स्वच्छन्दतावाद की एक महत्त्वपूर्ण देन 'राष्ट्रवाद' के विचार का विकास है। आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में राष्ट्रीय भाषाओं और लोक वार्ताओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए रूसो और हर्डर ने स्वच्छन्दतावादियों के लिए राष्ट्रवाद की विषय-वस्तु का आधार तैयार कर दिया था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद राष्ट्रवाद के स्वरूप में बहुत परिवर्तन आया जिसे स्वच्छन्दतावादियों ने अपनी रचनाओं में पर्याप्त स्थान दिया। जर्मनी में फ़िख़्टे ने भाषा और राष्ट्र की एकता पर बल दिया था।

3.1.08. स्वच्छन्दतावाद का अवसान

स्वच्छन्दतावाद के परिणामों और इस प्रवृत्ति के ह्रास के बारे में कोई निश्चित कारण नहीं बताया जा सकता। परस्पर विरोधी और अनुपूरक मतों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक ओर गेटे के परवर्ती मत का समर्थन करने वाले लोग हैं कि "स्वच्छन्दतावाद आत्मा की रुग्णता और सापेक्षतावाद का अव्यवस्थित विस्फ़ोट था।" तो दूसरी ओर वे लोग हैं जो इसे एक प्रकार का पुनर्जागरण, पुनरान्वेषण और क्रान्तिकारी उभार मानते हैं जिसने पुरातन प्रतिमानों और विश्वासों को नकार कर मन और आत्मा की नयी रचनात्मक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आन्दोलन ने अनेक मूल्यवान् कृतियाँ साहित्य और कला जगत् को दी हैं। परन्तु अनेक रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें आत्मपरक भावातिरेक और यथार्थ जीवन से विमुखता इतनी अधिक है कि वे कवि के आत्मकेन्द्रित प्रलाप से अधिक कुछ भी नहीं हैं। परिणामस्वरूप स्वच्छन्दतावाद अपनी प्रासंगिकता खोता चला गया और अन्ततः उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक में उभरे नये रुझानों ने इसे साहित्य के मुख्य मार्ग से अपदस्त कर दिया।

3.1.09. पाठ-सारांश

स्वच्छन्दतावाद आभिजात्यवाद और नव्य-आभिजात्यवाद से भिन्न और अधिकांश में उसका विरोधी कला-आन्दोलन था । अलग-अलग देशों में समय के कुछ अन्तराल पर उभरे इस आन्दोलन में स्थानीय परिस्थितियों और संस्कारों के सहयोग से एक सर्वथा नवीन सांस्कृतिक समझ का उद्भव हुआ। फ्रांसीसी क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवाद के विकास ने यूरोपीय समाज के मूल्यों और मान्यताओं को निर्णायक रूप से प्रभावित किया। धार्मिक रूढ़ियों और प्रचलित सांस्कृतिक चिन्तन के प्रति विद्रोह हुआ। जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस के बाद अन्य यूरोपीय देशों में भी इसका प्रसार हुआ। इसमें कला के नये प्रतिमानों का निर्माण, नये मिथकों और प्रतीकों का प्रयोग, काव्यशैली की नूतनता और बिम्ब-विधान, प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्धों का पुनरुद्घाटन, कल्पना की केन्द्रीयता आदि ऐसे तत्त्व हैं जो इस आन्दोलन के साहित्य को पूर्वकालीन साहित्य से अलग और विशिष्ट बनाते हैं।

3.1.10. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

3.1.10.1. हिन्दी पुस्तकें

1. जैन, निर्मला (2013). पाश्चात्य साहित्य चिन्तन. नयी दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. ISBN : 978-81-8361-607-2
2. तिवारी, डॉ॰ रामचन्द्र. (2016). भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिन्दी-आलोचना, वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978-81-7124-764-6.
3. शर्मा, देवेन्द्रनाथ. (1984). पाश्चात्य काव्यशास्त्र. नयी दिल्ली. नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

3.1.10.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Abrams, M.H. and Harpham, Geoffrey Galt, (2015). Delhi. A Glossary of Literary Terms,11e. Cengage Learning. ISBN-13:978-81-315-2635-4
2. Brown, Marshall (ed.). (2007).The Cambridge History of Literary Criticism, Vol 5. New York. Cambridge University Press.ISBN-13 978-0-521-31721-4
3. Day, Aidan. (1996).Romanticism. New York. Rutledge. ISBN- 0–415–08378–8
4. Habib, M. A. R. (2005) . A History of Literary Criticism: From Plato to the Present. Malden, USA. Blackwell Publishing. ISBN-13: 978-0-631-23200-1
5. Wellek, Rene.((2005).Concepts of Literature. London. Yale University Press. ISBN-13 978-0300094633
6. Widdowson, Peter. (2004).The Palgrave Guide to English Literature and its Contexts,1500–2000. New York. Palgrave Macmillan. ISBN 0–333–79218–1

3.1.10.3. इंटरनेट स्रोत

1. www.britannica.com/art/Romanticism
2. https://plato.stanford.rdu/archieves/fall2016/entries/aesthetics-19th-romantic/

3.1.11. अभ्यास प्रश्न

01. स्वच्छन्दतावाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
02. "कविता व्यक्ति के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति है।" समझाइए।
03. " 'लिरिकल बैलेड्स' अंग्रेज़ी स्वच्छन्दतावाद का घोषणा-पत्र है।" क्यों ?
04. 'रोमेंटिक कविता' शब्द का प्रथम प्रयोग किसने किया ?
05. 'स्वच्छन्द विडम्बना' की अवधारणा किसने प्रस्तुत की ?
06. वर्ड्सवर्थ के अनुसार "कविता प्रबल मनोवेगों का सहज उत्प्रवाह है।" कैसे ?
07. "स्वच्छन्दतावाद तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह है।" समझाइए।
08. स्वच्छन्दतावादों के बहुवाद का आशय स्पष्ट कीजिए।
09. स्वच्छन्दतावादी कवियों के प्रकृति-चित्रण की विशेषताएँ बताइए।
10. फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और स्वच्छन्दतावाद का क्या सम्बन्ध है ?
11. स्वच्छन्दतावाद के इतिहास पर प्रकाश डालिए।
12. स्वच्छन्दतावाद के दार्शनिक आधारों की व्याख्या कीजिए।
13. स्वच्छन्दतावाद के मुख्य प्रेरक तत्त्वों का परीक्षण कीजिए।
14. स्वच्छन्दतावाद के विकास में औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवाद की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
15. स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियों पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 3 : सिद्धान्त और वाद

इकाई – 2 : मार्क्सवाद

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. मार्क्सवाद क्या है ?
3.2.3. मार्क्सवाद की मुख्य स्थापनाएँ
  3.2.3.1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
  3.2.3.2. ऐतिहासिक भौतिकवाद अर्थात् इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
  3.2.3.3. वर्ग और वर्ग-संघर्ष
  3.2.3.4. अलगाव और वस्तुकरण
3.2.4. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र
3.2.5. मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन
  3.2.5.1. मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का प्रस्थान-बिन्दु
  3.2.5.2. 'आधार' और 'अधिरचना' के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या
  3.2.5.3. साहित्य और विचारधारा
  3.2.5.4. अन्तर्वस्तु और रूप
3.2.6. पाठ-सारांश
3.2.7. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ
  3.2.7.1. हिन्दी पुस्तकें
  3.2.7.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
  3.2.7.3. इंटरनेट स्रोत
3.2.8. अभ्यास प्रश्न

3.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई मार्क्सवाद और मार्क्सवादी साहित्य एवं कला-दृष्टि पर केन्द्रित है । इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. मार्क्सवाद की मूल स्थापनाओं को समझ पाएँगे ।
ii. मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन की मुख्य विशेषताओं के बारे में जान पाएँगे ।
iii. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।
iv. मार्क्सवाद की विभिन्न धाराओं का अनुशीलन कर सकेंगे ।

3.2.1. प्रस्तावना

मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष को केन्द्र में रखते हुए साहित्य के माध्यम से वर्ग-भेद को उजागर करने पर बल देता है। मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक आधारों से निष्पन्न साहित्यिक सिद्धान्तों ने आर्थिक उत्पादन और साहित्य के मध्य सम्बन्धों को समझने की दिशा में बहुविध प्रयास किए हैं। इतिहास और समाज की मार्क्सवादी व्याख्या और समझ का साहित्य-सृजन और आलोचना पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। 'आलोचनात्मक सैद्धान्तिकी' (क्रिटिकल थियरी), 'नव-इतिहासवाद', 'सांकृतिक भौतिकवाद', 'उत्तर-संरचनावाद', 'उत्तर-आधुनिकतावाद', 'स्त्रीवादी आलोचना' और 'संस्कृति अध्ययन' सहित अन्य कई साहित्यिक सिद्धान्त अपने मौलिक चिन्तन के लिए मार्क्सवाद के ऋणी हैं। मार्क्सवादी आलोचना अपने इस विश्वास के कारण अन्य आलोचना पद्धतियों से अलग है कि साहित्य एक सामाजिक और भौतिक कार्य है जो अन्य सामाजिक कार्यों और गतिविधियों से जुड़ा हुआ है। कला और साहित्य की कृतियों को इन्हीं सन्दर्भों में सही-सही समझा जा सकता है, व्याख्यायित किया जा सकता है।

3.2.2. मार्क्सवाद क्या है ?

जर्मनी के कार्ल मार्क्स (1818-1883) और फ्रेडरिक एंगल्स (1820-1895) मार्क्सवाद के संयुक्त संस्थापक थे। मार्क्स एक वकील के पुत्र थे। उन्हें अपने लेखन के क्रान्तिकारी तेवरों के कारण जर्मनी से निष्काषित कर दिया गया था। उन्हें फ्रांस और बेल्जियम में शरण मिली लेकिन कुछ समय के बाद वहाँ से भी उन्हें देश निकाला दे दिया गया। 1949 से अपनी मृत्यु (1883) तक मार्क्स ने लंदन में रहकर ही प्रवासी जीवन बिताया। फ्रेडरिक एंगल्स को वस्त्र मिल में काम करने के लिए 1842 में जर्मनी छोड़ कर मैंचेस्टर में रहना पड़ा। बाद में फ्रांस में 1844 में इनकी मुलाक़ात मार्क्स से हुई और इन्होंने मिलकर लिखना शुरू किया। इंग्लैंड में रहते हुए दोनों ने मार्क्सवाद के आधारभूत ग्रन्थ लिखे। इनका मुख्य ध्यान उद्योगों और यातायात के साधनों आदि को निजी अधिकार के स्थान पर राज्य के अधिकार में संचालित करने पर केन्द्रित था। स्वयं इन दोनों ने अपने आर्थिक विचारों को कम्युनिज़्म कहा है, जिसकी घोषणा उन्होंने कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो में 1848 में की थी। इनके सिद्धान्तों को 'मार्क्सवाद' के रूप में बाद के चिन्तकों ने प्रस्तुत किया। मार्क्सवाद का उद्देश्य उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर सामूहिक अधिकार के आधार पर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना था। मार्क्सवाद एक भौतिकवादी दर्शन है। जहाँ अन्य दर्शन केवल समाज और जीवन की व्याख्या ही करते हैं, मार्क्सवाद उसे बदलने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। आरम्भिक मार्क्सवादी चिन्तन पर हीगल आदि अट्ठारहवीं सदी के जर्मन दार्शनिकों का प्रभाव रहा है। मार्क्स ने कहा है कि उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को, जो सिर के बल खड़ा था, सीधा खड़ा किया है।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स मार्क्सवाद के मुख्य प्रणेता थे। मार्क्सवाद का उद्देश्य उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों के सामूहिक स्वामित्व के आधार पर वर्गरहित समाज का निर्माण करना है। मार्क्सवाद एक भौतिकवादी चिन्तन है जो जीवन और जगत् की व्याख्या प्रकृति में मौजूद पदार्थ अर्थात् भूत द्रव्य के आधार

पर करता है। उसके अनुसार संसार में पदार्थ के अलावा प्रकृति से बाहर किसी दूसरी सत्ता का अस्तित्व नहीं है। मार्क्सवाद इस आधार पर न केवल दुनिया को समझने का दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है बल्कि उसे बदलने का सिद्धान्त भी देता है। मार्क्सवाद के अनुसार समाज का विकास और उसमें परिवर्तन समाज के अलग-अलग वर्गों – शोषक (पूँजीपति) और शोषित (सर्वहारा या मज़दूर) – के बीच संघर्ष के कारण होता है। इस संघर्ष में अन्ततः शोषित अर्थात् सर्वहारा वर्ग की जीत होती है और एक वर्गरहित समाज का आविर्भाव होता है।

3.2.3. मार्क्सवाद की मुख्य स्थापनाएँ

मार्क्सवाद दार्शनिक, आर्थिक और राजनैतिक-सामाजिक विचारों की एक पद्धति है, जो इतिहास की द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक व्याख्या करके मानव-समाज के विकास को समझने तथा मनुष्य-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने हेतु एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। वैचारिक जगत् में जिस सिद्धान्त को मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है उसकी पहली उद्घोषणा कार्ल मार्क्स की रचना 'जर्मन विचारधारा' में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की संकल्पना के साथ हुई थी। मार्क्स ने आगे चलकर फ्रेडरिक एंगल्स के साथ मिलकर 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो' में वर्ग-संघर्ष की अवधारणा प्रस्तुत की। 'कैपिटल' के तीन भागों में मार्क्स ने तर्क प्रस्तुत किया कि इतिहास की दिशा और गति आर्थिक कारणों से तय होती है। मार्क्स और एंगल्स ने अपनी संयुक्त और अलग-अलग रचनाओं में एक वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि का निर्माण किया और समाज के क्रान्तिकारी बदलाव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके विशाल लेखन से उपलब्ध सिद्धान्त को ही मार्क्सवाद कहा जाता है। इसके सुसंगत प्रस्तुतीकरण और मुख्य मान्यताओं के विकास में बीसवीं सदी के अनेक चिन्तकों का योगदान है। आइये, अब हम मार्क्सवाद की मुख्य स्थापनाओं पर विस्तार से विचार करें।

3.2.3.1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववाद बाह्य जगत् और मानवीय विचारों की गति के सामान्य नियमों का विज्ञान है। इसकी मान्यता है कि प्रकृति का विकास या परिवर्तन एक अचूक नियम है। वह किसी अलौकिक शक्ति से नहीं, बल्कि अपने ही नियमों के अन्तर्गत उच्चतर अवस्था की ओर विकसित होती है। विकास या परिवर्तन भौतिक पदार्थ में अन्तर्निहित विरोध की एक स्वाभाविक प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है जिसमें 'वाद', 'प्रतिवाद" और 'संवाद', ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। विकास के एक बिन्दु तक पहुँचकर परिवर्तन एकदम तीव्रता से घटित होते हैं। सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में यही क्रान्ति की स्थिति होती है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मुख्य स्थापना यह है कि यह जगत् भौतिक है, उसमें भूतद्रव्य (भौतिक तत्त्व या पदार्थ) और उसकी गति तथा परिवर्तन के नियमों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह प्रत्ययों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति एक सुसम्बद्ध और पूर्ण समग्रता है, जिसमें विभिन्न वस्तुएँ और घटनाएँ परस्पर जुड़ी हुई होती हैं तथा एक-दूसरे पर निर्भर और एक-दूसरे से निर्धारित होती हैं। संसार

की सभी घटनाओं में एक अद्भुत अन्तस्सम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता होती है, इसलिए इतिहास और सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन भी इसी परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधारभूत पहलू इस प्रकार हैं –

(i) पदार्थ सदैव गतिशील है। यहाँ गति का अर्थ पदार्थ की प्रत्येक प्रकार की क्रिया से है। समस्त ऊर्जा गतिमय पदार्थ के कारण है। विचार और भाव भी गति अर्थात् मस्तिष्क की क्रिया के परिणाम हैं।

(ii) विश्व को वस्तुओं के एक समूह के रूप में नहीं बल्कि प्रक्रियाओं के एक समूह के रूप में देखा जाना चाहिए।

(iii) सब वस्तुओं और प्रक्रियाओं में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। प्राकृतिक प्रक्रियाएँ और सामाजिक, ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ सभी में परिवर्तन हो रहा है।

(iv) सभी वस्तुएँ और प्रक्रियाएँ अन्तस्सम्बद्ध और परस्पर निर्भर हैं। सभी वस्तुएँ और प्रक्रियाएँ विपरीत और अन्तर्विरोधी हैं, लेकिन उनमें विपरीतों की एकता होती है। विकास सदैव इन विपरीतों के पारस्परिक संघर्षों के कारण ही होता है।

(v) विकास की प्रक्रिया निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर होती है। विकास की प्रक्रिया में पहले मात्रात्मक परिवर्तन होता है, बाद में एक अवस्था ऐसी आती है जब यह मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन में बदल जाता है।

3.2.3.2. ऐतिहासिक भौतिकवाद अर्थात् इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव-इतिहास और समाज के विकास को समझने का व्यावहारिक सिद्धान्त है, जो इस प्रश्न का उत्तर देता है कि कौनसा भौतिक प्रभाव है जो इतिहास की घटनाओं का संचालन और नियमन करता है। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का सिद्धान्त 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है, बल्कि एक के बिना दूसरा अधूरा है। एंगल्स ने मार्क्स को इस सिद्धान्त का उद्भवकर्ता होने का श्रेय दिया है, तो मार्क्स ने लिखा है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की अवधारणा एंगल्स ने विकसित थी।

मार्क्स और एंगल्स ने अपनी विख्यात कृति 'जर्मन विचारधारा'(1846) में पहली बार यह विचार प्रस्तुत किया था कि सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं में परिवर्तन वस्तुगत नियमों के अन्तर्गत होता है। वस्तुगत नियमों के अनुसार ही एक सामाजिक और आर्थिक संरचना का स्थान दूसरी सामाजिक और आर्थिक संरचना लेती है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है –

मार्क्सवाद के अनुसार मानव इतिहास का निर्माता है। वह इतिहास का निर्माण तभी कर सकता है जब उसका जीवन और अस्तित्व बना रहे। मनुष्य का अस्तित्व दो बुनियादी बातों पर निर्भर करता है– एक, जीवित

रहने के साधनों, अर्थात् 'भौतिक मूल्यों', जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि का उत्पादन, तथा दूसरा, संतानोत्पत्ति, ताकि समाज की निरन्तरता बनी रह सके। 'भौतिक मूल्यों' को जुटाने के लिए मानव को उत्पादन करना होता है।

उत्पादन के लिए मनुष्य किसी न किसी उत्पादन-प्रणाली को अपनाता है। उत्पादन-प्रणाली के दो पक्ष होते हैं – एक, उत्पादन के उपकरण या प्रौद्योगिकी – जिसमें वे वस्तुएँ या औज़ार जिनसे मनुष्य काम करता है तथा मनुष्य का ज्ञान, श्रम और कौशल शामिल हैं, और दूसरा, उत्पादन के सम्बन्ध, जो उत्पादन के कार्य में लगे लोगों के बीच में पैदा होते हैं। एक उत्पादन-प्रणाली एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों को जन्म देती है जो दूसरे प्रकार की उत्पादन-प्रणाली से भिन्न होते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन से उत्पादन-सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। उत्पादन-सम्बन्धों के योग से ही समाज की आर्थिक संरचना का निर्माण होता है और आर्थिक संरचना ही वह नींव या 'आधार' है जिस पर समाज की 'अधिरचना' अर्थात् सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक संरचनाएँ तथा विश्वास, कलाएँ, प्रथाएँ, विज्ञान एवं दर्शन टिके हुए हैं। आर्थिक संरचना अर्थात् 'आधार' में परिवर्तन होने से 'अधिरचना' में परिवर्तन होता है, इसी को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। इस परिवर्तन में वर्ग-संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

3.2.3.3. वर्ग और वर्ग-संघर्ष

ऊपर हमने देखा कि मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार 'आधार' में परिवर्तन होने पर ही 'अधिरचना' में परिवर्तन होता है, क्योंकि 'अधिरचना' आधार पर निर्भर होती है। अर्थात् 'अधिरचना' समाज के आर्थिक 'आधार' द्वारा निर्धारित होती है। हम यह भी जानते हैं कि मार्क्सवाद समाज की व्याख्या से अधिक उसे बदलने का सिद्धान्त है। यह परिवर्तन वर्ग-संघर्ष की चरम परिणति पर वर्गविहीन समाज की स्थापना के रूप में अभिकल्पित किया गया है।

मार्क्सवाद के अनुसार साधारणत: व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है किन्तु अधिक स्पष्ट रूप में वह एक 'वर्ग प्राणी' है। वर्ग ऐसे लोगों के समूह को कहेंगे जो अपनी जीविका एक ही ढंग से अर्जित करते हैं। वर्गों का जन्म उत्पादन के साधनों पर निर्भर है। जैसे-जैसे उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे नये वर्गों का जन्म भी होता जाता है। आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर समाज में परस्पर विरोधी वर्ग रहे हैं – एक, शोषक और दूसरा, शोषित। ये दोनों वर्ग परस्पर संघर्षरत रहे हैं।

मार्क्स और एंगल्स ने 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो' में लिखा है कि "अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है। स्वतन्त्र व्यक्ति और दास, कुलीन वर्ग और साधारण जनता, सामन्त और अर्द्धदास किसान, श्रेणिपति और दस्तकार, एक शब्द में शोषक और शोषित; सदा एक-दूसरे के विरोधी होकर कभी प्रत्यक्ष तो कभी अप्रत्यक्ष किन्तु अनवरत संघर्ष करते रहे हैं। इस संघर्ष का अन्त हर बार या तो समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण में हुआ है या संघर्षरत वर्गों के सर्वनाश में।" इस कथन से स्पष्ट है कि मार्क्स सभी समाजों में वर्ग और वर्ग-संघर्ष को एक ऐतिहासिक सत्य मानते हैं। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं –

(i) विभिन्न वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास के किसी ऐतिहासिक क्रम विशेष से जुड़ा हुआ होता है।

(ii) वर्ग-संघर्ष का चरमोत्कर्ष आवश्यक रूप से सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व होता है।

(iii) अधिनायकत्व की यह अवस्था अपने आप में सभी वर्गों के उन्मूलन और वर्गहीन समाज की ओर संक्रमण करने की अवस्था होती है।

इस प्रकार विरोधी वर्गों के मध्य अन्तर्विरोधों का इस स्तर तक तीव्र हो जाना कि परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है अर्थात् क्रान्ति घटित हो जाती है, ऐतिहासिक परिवर्तन को समझने का मुख्य बिन्दु है। उत्पीड़क या शोषक वर्ग के विचारों के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष वर्ग-संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वर्गों के उन्मूलन के लिए क्रान्ति केवल आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं होती है, क्योंकि किसी भी क्रान्ति में निर्णायक प्रश्न राज्य-सत्ता का प्रश्न है। वास्तविक संघर्ष राजनैतिक क्षेत्र में है। जब पुराने उत्पादन सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करने वाले शासक वर्ग की हार होती है और उदीयमान उत्पादन प्रणाली का प्रतिनिधित्व करने वाले नये वर्ग सत्ता पर अधिकार कर लेते हैं तब क्रान्ति पूर्ण रूप से तभी सफल होती है।

3.2.3.4. अलगाव और वस्तुकरण

मार्क्स के अनुसार मानव इतिहास के दो प्रमुख पक्ष हैं – एक, 'यह मनुष्य द्वारा प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण का इतिहास है' और दूसरा, 'यह मनुष्य के अधिकाधिक अलगाव का इतिहास है।' मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष के आधार पर सर्वहारा के अधिनायकवाद अर्थात् उत्पादन के साधनों पर उनके अधिकार का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद में पूँजीपति वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण किया जाता है। मज़दूर को उसके श्रम के उत्पादन का बहुत छोटा हिस्सा मजदूरी के रूप में मिलता है। पूँजीपति उसके श्रम से मुनाफ़ा अर्जित करता है। इस प्रक्रिया में मज़दूर जीवन की निम्नतर दशाओं में जीवन-यापन को मजबूर हो जाता है। वह इस तरह के कार्य निरन्तर करता है जो उसकी इच्छा से अलग और विपरीत होते हैं। उत्पादन के साधन, कारखाने और मशीनें पूँजीपति के होते हैं। उत्पादन के लिए ज़रूरी कच्चे माल, पूँजी, उत्पादन-प्रक्रिया और उत्पादित वस्तुओं पर पूँजीपति का ही स्वामित्व होता है। इससे उसके मन में अपने ही कार्य के प्रति अरुचि की भावना पैदा हो जाती है जिसे 'अलगाव' की अवस्था कहा गया है। स्वयं व्यक्ति के प्रति अलगाव की यह भावना धीरे-धीरे उसमें अन्य सामाजिक क्रिया-कलापों और सम्बन्धों के प्रति भी अलगाव पैदा कर देती है और वह उत्पादित वस्तुओं, उत्पादन की प्रक्रिया और अपने साथियों और समाज के प्रति भी अलगाव महसूस करने लगता है। अतः अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसके अपने कार्य दूसरों की शक्ति बन जाते हैं, जो उसके विरुद्ध हैं। यह एक निश्चित ऐतिहासिक अवस्था में मानवीय शोषण के कारण उत्पन्न दुःख, गरीबी, अन्याय और अज्ञान का प्रतिफल है। यह पूँजीवाद में मनुष्य के निर्वैयक्तिकीकरण की प्रक्रिया है। इसी से सम्बद्ध अन्य अवधारणा है 'पण्यीकरण' (एक पण्येतर यानी गैर-पण्य वस्तु का पण्य में रुपान्तरण अर्थात् ऐसी वस्तु जिसे बाजार में खरीदा और बेचा नहीं जाता) या 'वस्तुकरण'। यह अलगाव की पराकाष्ठा है, जिसमें वस्तुओं का वैयक्तिकीकरण कर दिया जाता है, जो वस्तुपूजा के रूप में प्रकट होता है। इसके अनुसार पूँजीवाद में पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा ही सर्वोपरि हो जाता है।

मज़दूर को मानवीय स्थितियों से वंचित कर दिया जाता है, बल्कि उसे मात्र 'काम करने वाले हाथ' और श्रम-शक्ति में सीमित कर दिया जाता है। व्यक्ति को 'वस्तु' मान लिया जाता है, पण्य या माल में तब्दील कर दिया जाता है।

3.2.4. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र

मार्क्सवाद के संस्थापकों ने साहित्य और कला के स्वरूप और सामाजिक भूमिका सम्बन्धी अनेक प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया में सौन्दर्यशास्त्र का विकास किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की भाववादी सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं को पूर्ण रूप से नये ढंग से सुलझाया। उन्होंने द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर कला की विषयवस्तु, रूप और सामाजिक भूमिका की व्याख्या की है। उनके अनुसार कला सामाजिक चेतना का एक रूप है इसलिए इसके परिवर्तन के कारण मनुष्य के अस्तित्व के रूपों में ही निहित हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य अन्य जीवों से श्रेष्ठ जीव है क्योंकि अन्य जीव अपनी आवश्यकताओं और भावों के अनुरूप ही उत्पादन करते हैं जबकि मनुष्य अन्य जीवों के भावों और आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन करने की क्षमता और इच्छा रखता है। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ उसके ज्ञान की संवाहक होती हैं और इस ज्ञान के समेकित आधारों पर हमारी चेतना का निर्माण होता है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य की सारभूत शक्तियों के रूप में मानव को तृप्त करने में सक्षम पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित मानसिक और व्यावहारिक सभी ज्ञानेन्द्रियाँ या तो विकसित की जाती हैं अथवा उत्पन्न की जाती हैं।

मनुष्य के कलात्मक-सृजन की योग्यता मनुष्य समाज के दीर्घकालीन विकास के फलस्वरूप उपलब्ध हुई है और मनुष्य के परिश्रम की उपज है। एंगल्स ने अपनी रचना 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता' में विचार प्रकट किया है कि "मनुष्य के हाथ ने वह उच्च कौशल हासिल कर लिया है, जिसके कारण राफ़ायल जैसी चित्रकारी, थोर्वाल्द्सेन जैसी मूर्तिकारी और पागानीनी जैसा संगीत पैदा हो सके।" इस प्रकार मार्क्स और एंगल्स ने मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति को मनुष्य का सामाजिक रूप से अर्जित गुण माना है, जन्मजात गुण नहीं।

मार्क्सवाद में सौन्दर्यत्मक क्रिया-कलाप और परिघटनाओं को समाजैतिहासिक प्रक्रियाओं के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। यह ऐसी व्यापक सभ्यतामूलक गतिविधि है जिसके द्वारा 'मनुष्य' (होमो सैपीयन्स) अपने विकास के साथ-साथ अपनी अन्तर्जात क्षमताओं को पहचानता है। कला-कृतियाँ मनुष्य की अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ अन्तर्निर्भरता के आधार पर घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई होती हैं। यह अन्तर्निर्भरता एक ओर समाज की वर्तमान संरचना पर तथा दूसरी ओर वर्तमान और भविष्य पर पड़ने वाले भूतकालीन सौन्दर्य-रूपों के प्रभाव पर आधारित होती है। कलाओं के सौन्दर्यात्मक पहलुओं में परिवर्तन विचारधारा में परिवर्तन के कारण होता है। विचारधाराओं का निर्धारण ऐतिहासिक रूप से वर्ग-विभक्त समाजों के विकास और अन्तर्विरोधों के स्वरूप के आधार पर होता है। अतः मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को मानव इतिहास के विकास के अन्तर्गत ही समझा जा सकता है।

कला और यथार्थ के सम्बन्ध में मार्क्सवाद की मुख्य मान्यता यह है कि कला के वास्तविक स्वरूप और उसकी भूमिका को समग्र सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही पूरी तरह से विश्लेषित किया जा सकता है। कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में मनुष्य के श्रम की ऐतिहासिक भूमिका है। मनुष्य की सृजन -क्षमता और विश्व के सौन्दर्य को देखने-परखने की उसकी योग्यता मानव-समाज के सुदीर्घ विकास का फल और मानव-श्रम की अनुपम उपलब्धि है।

3.2.5. मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स को विश्व साहित्य और कला-जगत् की बहुत अच्छी समझ थी। दोनों ने अपनी जवानी में कविताएँ लिखी थीं और एंगल्स तो कवि बनना भी चाहते थे। उनके विविध आयामी लेखन से पता चलता है कि उनमें साहित्य, संगीत और चित्रकला के प्रति रुचि और प्रेम था। उन्होंने अपने इस प्रेम और ज्ञान के आधार पर अपने वैचारिक लेखन को सुरुचिपूर्ण बनाने के साथ-साथ अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी उनसे सहायता ली है।

मार्क्स और एंगल्स ने विश्व साहित्य के उपयोग से अपनी लेखन शैली को कलात्मक बनाया है तथा अपने विचारों को अधिक प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने प्राचीन मध्यकालीन और समकालीन लेखकों जैसे वर्जिल, प्लाउटस, पर्सियस, गोट्टफ्रीड फोन स्ट्रासबर्ग, वोल्फ्राम वोन एशेनबाख, बाल्ज़ाक, डिकेन्स, शिलर, हाइने, गेटे, शेक्सपीयर आदि की कृतियों का बहुत कुशलतापूर्वक उपयोग किया है। उन्हें बायरन और शेली जैसे क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी कवि बहुत प्रिय थे।

मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंगल्स के सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित है। साहित्य या कला के सम्बन्ध में इनके लेखन में कोई व्यवस्थित सिद्धान्त नहीं मिलता है। अपने सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण के दौरान ही इन्होंने विश्व साहित्य का अवगाहन किया, उनके गुण-दोषों को पहचाना और उनकी समाजसापेक्ष विवेचना की। वस्तुत: मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि का विकास मार्क्स-एंगल्स के सामाजिक-आर्थिक विचारों के आधार पर इन विचारों को मानने वाले आलोचकों और लेखकों ने किया है। यद्यपि इनकी व्याख्याएँ समकालीन वैचारिक चिन्तन से प्रभावित हैं और इनमें मार्क्स-एंगल्स के मूल विचारों के विकास के साथ-साथ उनकी उपेक्षा भी दृष्टिगोचर होती है। मार्क्स-एंगल्स के कला और साहित्य सम्बन्धी विचारों का प्रथम संकलन सन् 1933 में 'मार्क्स एंड एंगल्स : ऑन आर्ट एंड लिट्रेचर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, जिसके सम्पादक मिख़ाईल लिफ़्शित्ज़ थे। मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त के विकास के प्रारम्भिक प्रयासों में मेहरिंग, लुनाचार्स्की, प्लेखानोव, त्रोत्स्की और लेनिन के नाम उल्लेखनीय हैं।

3.2.5.1. मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का प्रस्थान-बिन्दु

मार्क्सवाद के प्रणेताओं मार्क्स और एंगल्स ने कला और साहित्य पर विशेष रूप से नहीं लिखा है। लेकिन उन्होंने मानव-जीवन के लिए अनिवार्य प्रश्नों के उत्तर खोजने के क्रम में जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें

वह पर्याप्त सामग्री है जो एक सुगठित कला एवं साहित्य-चिन्तन का आधार प्रस्तुत करती है। परवर्ती विचारकों ने इसी आधार पर मार्क्सवादी कला एवं साहित्य-दृष्टि का विकास किया है। आइये देखें कि मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का विकास कैसे हुआ और उसकी मुख्य विशेषताएँ क्या हैं।

कला का विकास भौतिक जगत् के विकास और समाज के इतिहास से जुड़ा हुआ है।

कला के रूप और गुण भौतिक जगत् के विकास और समाज के इतिहास के साथ विकसित और परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक काल अपने अन्तर्निहित आदर्शों के अनुरूप कला-कृतियों का जैसा सृजन करता है, वैसा ही सृजन अन्य ऐतिहासिक अवस्थाओं में नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी विशेष कलात्मक रूप या साहित्यिक विधा के विकास और प्रचलन को मनुष्य के विकास का स्तर और सामाजिक ढाँचा ही तय करते हैं। मार्क्स ने लिखा है कि "क्या प्रकृति और सामाजिक सम्बन्धों के बारे में वह दृष्टिकोण, जो यूनानी कल्पना और इस कारण यूनानी कला के आधार में अन्तर्निहित है, ऐसे समय में सम्भव है जब स्वचालित तकुवे, रेलवे लाइनें, रेल इंजन और बिजली तार प्रणाली विद्यमान हों?"

मनुष्य-जीवन की क्रान्तिकारी समझ का बीजारोपण मार्क्स और एंगल्स ने 'जर्मन विचारधारा' (1845-46) में कर दिया था –

"विचारों, सम्प्रत्ययों और चेतना की रचना आरम्भ में मनुष्य के भौतिक कार्यकलाप, भौतिक संसर्ग एवं वास्तविक जीवन की भाषा से सीधे-सीधे गूँथी हुई होती है। मनुष्य की परिकल्पना, चिन्तन तथा मानसिक संसर्ग इस स्तर पर भौतिक व्यवहार के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में प्रकट होते हैं। ... वास्तविक मनुष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य जो कहते हैं, कल्पना करते हैं, अनुमान लगाते हैं, हम उसे आधार बनाकर आगे नहीं बढ़ते हैं, न ही हम जिस रूप में उसका वर्णन किया जाता है, उसके बारे में सोचा जाता है, उसकी कल्पना की जाती है या अनुमान लगाया जाता है उस आधार पर आगे बढ़ते हैं; बल्कि हम तो वास्तविक सक्रिय मनुष्य को अपनाकर आगे बढ़ते हैं ... जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होती है।"

इसी विचार को अधिक स्पष्टता के साथ मार्क्स ने 1859 में प्रस्तुत किया। मार्क्स के ग्रन्थ ' ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकोनॉमी' (1859) की भूमिका में प्रस्तुत ऐतिहासिक भौतिकवाद की आधारभूत स्थापना मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन का स्पष्ट सूत्र है –

"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बँधते हैं, जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंज़िल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण योग ही समाज का आर्थिक ढाँचा है – वह असली बुनियाद है, जिस पर क़ानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन-प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उनका

सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है। ... आर्थिक बुनियाद के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढाँचा भी कमोबेश तेज़ी से बदल जाता है। ऐसे रूपान्तरणों पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। एक ओर तो, उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक रूपान्तरण है, जिसे प्रकृति विज्ञान की अचूकता के साथ निर्धारित किया जा सकता है। दूसरी ओर वे कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक, सौन्दर्यबोधात्मक या दार्शनिक, संक्षेप में, विचारधारात्मक रूप हैं, जिनके दायरे में मनुष्य इस टक्कर के प्रति सचेत होते हैं और उससे निपटते हैं।"

यहाँ सामाजिक विकास के सन्दर्भ में 'आधार' और 'अधिरचना' के पारस्परिक सम्बन्धों का उद्घाटन ही मार्क्स का अभीष्ट है; कला और साहित्य सम्बन्धी विशिष्ट नियमों का विधान उनका लक्ष्य नहीं है। लेकिन अर्थ व्याप्ति की दृष्टि से कला एवं साहित्य सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर भी भौतिक उत्पादन तथा सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक प्रक्रिया के पारस्परिक सम्बन्धों में निहित हैं। इसलिए मार्क्स के ये विचार कला एवं साहित्य सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टि के आधारभूत सन्दर्भ-संकेत हैं। मार्क्स-एंगल्स ने अपने कई पत्रों में विशेष रचनाओं और लेखकों पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं। उन्होंने दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र के अपने अध्ययनों को स्पष्ट करने के क्रम में विश्व-साहित्य-भण्डार का भरपूर उपयोग किया है। मार्क्स-एंगल्स के इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत उनके कला एवं साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।

3.2.5.2. 'आधार' और 'अधिरचना' के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या

कला और साहित्य के सम्बन्ध में 'आधार' और 'अधिरचना' के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से बात करते समय प्रायः यह मान लिया जाता है कि 'आधार' या आर्थिक परिस्थिति के बदलते ही उसके अनुरूप 'अधिरचना' के अंग कला और साहित्य भी तुरंत बदल जाते हैं। मार्क्सवाद की सही समझ इस भ्रम का निवारण करती है।

मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' में लिखा है कि "भौतिक उत्पादन के विशिष्ट रूप से सबसे पहले समाज का खास ढाँचा, दूसरे, प्रकृति के साथ लोगों का खास सम्बन्ध जन्म लेते हैं। उनकी राज्य-संरचना तथा उनका आत्मिक दृष्टिकोण दोनों से निर्धारित होते हैं। इसलिए इससे उनके आत्मिक सृजन का प्रकार भी निर्धारित होता है।"

21-22 सितंबर, 1890 को जो. ब्लोख़ को एक पत्र में एंगल्स ने लिखा है कि "इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार इतिहास का अन्तिम विश्लेषण में निर्णायक तत्त्व वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः यदि कोई इसे तोड़-मरोड़कर यों कहे कि आर्थिक तत्त्व ही एकमात्र निर्णायक तत्त्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त और खोखली शब्दावली मात्र बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर ऊपरी ढाँचे के विविध तत्त्व ... ऐतिहासिक संघर्ष के प्रक्रम पर अपना प्रभाव डालते हैं और बहुत जगह तो संघर्ष के रूप के निर्धारण में इनका ही पलड़ा भारी रहता है।" स्पष्ट है कि

मार्क्सवाद के अनुसार किसी भी युग को समझने के लिए आर्थिक सम्बन्धों को समझना आवश्यक है, लेकिन कला या साहित्य को उसका प्रतिबिम्ब मान लेना ग़लत है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ संश्लिष्ट रूप में कलाओं में अभिव्यक्त होती हैं, साहित्य और कलाएँ उनकी छायामात्र नहीं हैं, वे सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र हैं। मार्क्सवाद कला को आर्थिक आधार की निष्क्रिय उपज नहीं मानता है। उसके अनुसार कलात्मक सृजन सहित सामाजिक चेतना के सभी रूप उस सामाजिक यथार्थ पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं जिससे उनका आविर्भाव होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार कलात्मक सृजन का आर्थिक विकास से गहरा सम्बन्ध होता है और सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव कलात्मक सृजन पर पड़ता है; लेकिन यह सब सीधे-सीधे यान्त्रिक रूप से नहीं होता है। ध्यान देने की बात है कि मार्क्सवाद में कलाकृतियों को भौतिक और आर्थिक कारकों का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं माना गया है। मार्क्सवाद के संस्थापकों ने मानव-चेतना के कलात्मक तत्त्वों को सामाजिक विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण माना है तथा सामाजिक परिवर्तन की दिशा का निर्धारण करने में उनकी भूमिका को स्वीकार किया है।

मार्क्स के अनुसार यह ज़रूरी नहीं है कि महान् कलात्मक उपलब्धियाँ उत्पादन शक्तियों के उच्चतम विकास पर निर्भर हो। यूनान के उदाहरण से स्पष्ट है कि आर्थिक रूप से अविकसित समाज में बड़ा कलात्मक-सृजन हुआ। मार्क्स का प्रश्न है कि यूनानी कला और महाकाव्य हमें आज भी सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान करते हैं और कुछ मामलों में तो उन्हें मानक और अलभ्य प्रारूप माना जाता है; ऐसा क्यों ? मार्क्स कहता है कि वह मानव जाति का ऐतिहासिक बाल्यकाल था, जहाँ उसने अपना सबसे सुन्दर रूप पाया, वह अवस्था फिर लौट कर नहीं आ सकती, हमारे आनन्द का स्रोत यह अनुभूति ही है। उनकी कला के प्रति हमारे आकर्षण और उस समाज की अपरिपक्व अवस्था जिसमें उसका जन्म हुआ, इन दोनों बातों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। हमारे आकर्षण का कारण उस समाज की वह अवस्था है जिसके अन्तर्गत इस कला ने जन्म लिया और केवल उसके अन्तर्गत ही वह जन्म ले सकती थी; और इसकी फिर कभी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। उसका तर्क है कि यूनानी लोग महान् कला का सृजन अपने अविकसित समाज के बावजूद नहीं, बल्कि उस समाज के कारण ही कर पाए।

तो क्या यूनानी कलाओं के प्रति हमारा आकर्षण मासूम बचपन की मीठी यादभर है ? इस पर मार्क्स की व्याख्या है कि कला-कृतियों को विशेष सामाजिक अवस्थाओं तथा सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब मानते समय उन विशेषताओं पर ध्यान देना ज़रूरी है जो इन कृतियों के शाश्वत मूल्य हैं। इन मूल्यों के कारण ही ऐतिहासिक रूप से भिन्न सामाजिक अवस्था की उपज होकर भी ये कला-कृतियाँ सदैव अपना महत्त्व बरकरार रखती हैं।

इस प्रकार, मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य को समझने का अर्थ उस सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया को समझना है जिसका वह हिस्सा है। साहित्यिक रचनाओं का आधार कोई रहस्यमयी प्रेरणा नहीं होती है और न ही उन्हें लेखक के मनोजगत् की उपज मान कर ही समझा जा सकता है। वस्तुत: साहित्य और कलाएँ दुनिया को देखने के विशेष दृष्टिकोण होती हैं और उनका अपने युग के प्रभुत्वशाली वर्ग के दृष्टिकोण अर्थात् 'विचारधारा' के

साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह विचारधारा उस युग के वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों की उपज होती है जिसमें मनुष्य रहता है।

3.2.5.3. साहित्य और विचारधारा

मार्क्सवाद की एक मुख्य स्थापना यह है कि समाज के आर्थिक 'आधार' पर उसकी 'अधिरचना' खड़ी होती है। 'अधिरचना' में क़ानून, राजनीति अर्थात् एक राज्य का शासन होता है, जिसका कार्य आर्थिक उत्पादन के साधनों का स्वामित्व रखने वाले सामाजिक वर्ग की शक्तियों को मान्यता प्रदान करना है। लेकिन 'अधिरचना' में कई और तत्त्व भी शामिल होते हैं। इनमें सामाजिक चेतना के ख़ास रूप, जैसे राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, सौन्दर्यशास्त्रीय आदि, भी शामिल होते हैं। इन्हें मार्क्सवाद में 'विचारधारा' कहा जाता है। 'विचारधारा' का कार्य भी समाज में शासक वर्ग के हितों की रक्षा करना होता है। समाज के प्रमुख विचार उसके शासक वर्ग के विचार ही होते हैं। 'विचारधारा' ऊपरी संरचना का वह भाग है जो यह सुनिश्चित करता है कि जिस सामाजिक परिस्थिति में एक वर्ग समाज के दूसरे वर्ग पर अधिकार करता है अर्थात् उसका शोषण करता है, उसे समाज के अधिकांश लोगों द्वारा या तो स्वाभाविक माना जाए या उस ओर बिल्कुल ध्यान न दिया जाए। कला और साहित्य समाज के ऊपरी ढाँचे अर्थात् 'अधिरचना' के अन्तर्गत 'विचारधारा' का भाग है।

मार्क्सवाद में कला को वर्गों के बीच विचारधारात्मक संघर्ष का प्रमुख अस्त्र माना जाता है। कला यदि शोषकों के हाथों वर्ग-उत्पीड़न का साधन बन सकती है तो वह जनसाधारण में उस उत्पीड़न के प्रति संघर्ष की चेतना का विकास करने में भी सहायक हो सकती है। एंगल्स ने 'लुडविग फायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त' (1888) में यह लक्षित किया है कि कला राजनैतिक और आर्थिक सिद्धान्त से कहीं अधिक मूल्यवान् और गूढ़ है क्योंकि यह पूर्णरूप से विचारधारात्मक कम ही होती है। इसका आशय यह है कि विचारधारा के साथ कला का सम्बन्ध क़ानून और राजनैतिक सिद्धान्त से अधिक जटिल होता है जो कि अधिक स्पष्ट रूप से शासक वर्ग के हितों को अभिव्यक्त करते हैं। आइए, कला और विचारधारा के इस जटिल सम्बन्ध पर कुछ विस्तार से विचार करें।

प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया के दो पहलू होते हैं – एक तो वह जो मौजूदा हालात बनाए रखने और समाज की गतिविधियों को पारम्परिक ढंग से चलते रहने में सहायता करता है, और दूसरा वह जो परिस्थितियों को बदलने की सम्भावनाओं से भरा होता है। ये दोनों पहलू उत्पादन की पद्धति में अन्तर्निहित होते हैं। अपने वर्ग-हितों की रक्षा के लिए उस वर्ग को यथास्थिति बनाए रखने के लिए विद्यमान व्यवस्था को मानना होता है। व्यक्तिगत विचारों या अभिमतों को महत्त्व दिये जाने से वर्गीय एकता ख़तरे में पड़ जाती है। विचारधारा वर्ग-हितों को सुरक्षित रखने लिए उस वर्ग के सदस्यों को एकजुट रखने का माध्यम बनती है। यथास्थितिवादी और परिवर्तन के लिए संघर्षरत वर्गों में विचारधारात्मक संघर्ष तब तक चलता रहता है जब तक उत्पीड़ित वर्ग अपने पक्ष में इतिहास की गति को मोड़ने में समर्थ नहीं हो जाता।

मार्क्सवाद के अनुसार अब तक के सभी समाज शोषक और शोषित वर्गों में बँटे हुए समाज हैं। शोषक वर्ग अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आधिपत्य को सही साबित करने के लिए अनेक कारण और तर्क प्रस्तुत करता है। इन तर्कों और कारणों की व्यवस्था से, जिसमें इस वर्ग के विश्वास, मूल्य और आदर्श शामिल होते हैं, शासक (शोषक) वर्ग की विचारधारा का निर्माण होता है। मार्क्स-एंगल्स ने 'जर्मन विचारधारा' में लिखा है कि "सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं; अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। ... सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किए जाने वाले प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं होते; ... अमुक वर्ग का शासन कतिपय विचारों का शासन मात्र है, इस सारे भ्रम का निस्सन्देह उस समय स्वाभाविक अन्त हो जाता है, जब वर्ग-शासन आम तौर पर समाज के संगठन के रूप में ख़त्म हो जाता है, अर्थात् ज्यों ही किसी विशेष हित को सामान्य हित के अथवा 'सामान्य हित' को सत्ताधारी हित के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं रह जाता।"

वर्ग-विहीन समाज के निर्माण में विचारधारा की इस क्रान्तिकारी भूमिका में यह तथ्य अन्तर्निहित है कि विचारधारा समाज के अन्तर्विरोधी अनिवार्य सम्बन्धों को छुपा देती है क्योंकि यह वास्तविकता के उस पक्ष पर आधारित है जो अनिवार्य सम्बन्धों का विलोम प्रकट करती है।

वर्ग-संघर्ष तीव्र होने की दशा में शासक-वर्ग की विचारधारा की खुली आलोचना शुरू हो जाती है और शासित वर्ग अपने राजनैतिक विचार दृढ़ता के साथ सामने लाता है। इन विचारों के पीछे दृढ़ सैद्धान्तिक आधार होता है और ये विचार इस वर्ग की वर्ग-विचारधारा बन जाते हैं। अब दोनों वर्गों के बीच विचारधारात्मक संघर्ष शुरू हो जाता है।

वर्ग-संघर्ष की तीव्रता के दौर में समाज के सभी वर्ग राजनैतिक विचारों के रूप में अपनी-अपनी विचारधारा को आगे बढ़ाते हैं। यह बात उत्पादन-प्रणाली के अन्तर्विरोधों को छुपाने वाली सामाजिक विचारधारा के अस्तित्व के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक वर्ग-चेतना के निर्माण और इसकी विचारधारा के बीच निकट सम्बन्ध होता है। वर्ग-चेतना को समाज की सत्ताधारी विचारधारा की विरोधी विचारधारा के रूप में देखा जा सकता है।

ग्योर्गी लूकाच सर्वहारा वर्ग की वर्ग-चेतना और बुर्जुआ वर्ग, जिसके बीच उन्हें रहना है, के मध्य अन्तर का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। लूकाच के लिए 'विचारधारा' समाज में 'मिथ्या चेतना' का एक रूप है। यह तब पैदा होती है जब एक वर्ग (शासक वर्ग) की विचारधारा को पूरे समाज की वास्तविक विचारधारा मान लिया जाता है। यह केवल अच्छे या ख़राब निर्णय का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह ऐतिहासिक भौतिकवाद की आधारभूत द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की अनदेखी करना है। वर्ग विभाजित समाज में सर्वहारा वर्ग के सदस्य का जीवन बुर्जुआ विचारधारा से बहुत प्रभावित होता है। कठिनाई यह है कि समाज में वर्ग-संघर्ष तो वैचारिक रूप ले लेता है लेकिन 'मिथ्या चेतना' के प्रभाव में आए सर्वहारा वर्ग के लिए इस वैचारिक संघर्ष को जीत पाना मुश्किल हो जाता है।

लूकाच के अनुसार इसका कारण समाज में इस 'मिथ्या चेतना' की व्यापकता है कि बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा समाज में सब जगह व्याप्त है और प्रभावशाली है। अपने वर्ग की वर्ग-चेतना ही वह तरीक़ा है जिससे सर्वहारा वर्ग शासक वर्ग के विरुद्ध अपनी वैचारिक लड़ाई जीत सकता है।

अंतोनियो ग्राम्शी ने समाज के विचारधारात्मक संघर्ष को 'वर्चस्व' की अवधारणा के माध्यम से समझने की कोशिश की है। वह इस अवधारणा को समाज के 'वैचारिक वर्चस्व' के तौर पर प्रस्तुत करता है। 'वर्चस्व' का निर्माण समाज की 'अधिरचना' के अन्तर्गत होता है। इसमें शासक वर्ग द्वारा समाज के अन्य वर्गों के साथ इस तरह से सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं जिससे विचारधारात्मक रूप से प्रभुत्वशाली यह वर्ग सहमति का निर्माण कर सके और उसके आधार पर शासन कर सके। एक स्तर पर 'वर्चस्व' सहमति और सर्वसम्मति के सांस्थानिक रूपों, जैसे – विश्वविद्यालय, राज्य नौकरशाही, व्यापारिक निगम, राजनैतिक दल आदि के माध्यम से कार्य करता है। इस कार्य में प्रभुत्वशाली वर्ग से सम्बद्ध बुद्धिजीवियों और पेशेवर लोगों का सहयोग भी रहता है। दूसरे स्तर पर राज्य का बल होता है जो जनता में 'वर्चस्व' कायम करता है। ग्राम्शी का सुझाव है कि वर्चस्व के इस सर्वव्यापी तन्त्र का मुक़ाबला करने के लिए प्रति-वर्चस्व का तन्त्र उसी पैमाने पर श्रमिक वर्ग के कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा खड़ा किया जाना चाहिए। यहाँ वह बौद्धिक क्रियाशीलता का मूलभूत परिवर्तनकारी विचार प्रस्तुत करता है। सर्वहारा वर्ग को अपना 'वर्चस्व' क़ायम करने के लिए 'पद-प्रतिष्ठा' की लड़ाई में जुटना पड़ता है, जहाँ श्रमिक वर्ग के बुद्धिजीवी एक नयी विचारधारा पेश करते हैं और इसके लिए समाज के अन्य वर्गों तथा सामाजिक शक्तियों का समर्थन प्राप्त करते हैं।

लुईस अल्थुसे विचारधारा को व्यक्ति और समाज के आपसी रिश्तों के एक भाग की तरह व्याख्यायित करता है। उसके अनुसार विचारधारा प्रातिनिधिकों की एक व्यवस्था है जिसका सुनिश्चित इतिहास है तथा उसकी समाज में एक भूमिका है। इसका तात्पर्य यह है कि लोग विचारधारा के माध्यम से सचेत रूप में सामाजिक व्यवहार करते हैं, जबकि विचारधारा स्वयं अचेतन है। अल्थुसे वर्गरहित समाज में भी विचारधारा की आवश्यकता मानता है क्योंकि उसके अनुसार तब भी लोगों को समाज से सम्बन्ध स्थापित करने की ज़रूरत होगी, यद्यपि इस तरह के सम्बन्ध में अन्तर्विरोध नहीं होगा। अल्थुसे ने हमारा ध्यान उन तरीकों की तरफ़ दिलाया है जिनके अन्तर्गत विचारधारा समाज में कार्य करती है, विशेष रूप से राज्य के संरक्षण और उन क्षेत्रों में जिन्हें सुरक्षित एवं तटस्थ माना जाता है। ये विचारधाराएँ लौकिक आचरण के तौर पर दिखाई देती हैं और समाज में अस्तित्व की सर्वाधिक स्वाभाविक दशाओं की तरह स्वीकार की जाती हैं। समाज में गहराई से स्थापित सामाजिक संरचनाएँ विचारधारा के दमनकारी रूप को प्रचलित और लोकप्रिय परम्पराओं के आवरण में छुपा देती हैं। अल्थुसे का विशेष ध्यान राज्य के विचारधारात्मक उपकरणों की तरफ़ है। इन उपकरणों का ज्ञान और उनका वर्ग-सम्बन्ध हमें उनके स्थान पर विचारधारात्मक बन्धन और ग़ुलामी से मुक्ति प्रदान करने वाले नये उपकरण स्थापित करने की शक्ति और योग्यता प्रदान करता है। शासक वर्ग की विचारधारा अनेक स्तरों पर अनेक रूपों में कार्य करती है। हमें इसके वास्तविक कार्यों को सावधानी से देखने-समझने की ज़रूरत है।

संक्षेप में, विचारधारा का अर्थ समाज के विभिन्न वर्गों के सामान्य दृष्टिकोण या जीवन और जगत् की उनकी समझ से है। मार्क्स के अनुसार जो वर्ग अधिकार के लिए संघर्ष कर रहा है उसे अपने हितों को सभी के सामान्य हित के तौर पर प्रस्तुत करने के लिए राजनैतिक सत्ता प्राप्त करनी होती है। मार्क्सवाद में विचारधारा की अवधारणा का यह मूल बीज है। सत्ताधारी वर्ग अपने विचारों को सम्पूर्ण समाज के विचारों के तौर पर पेश करता है। आधुनिक राज्य बुर्जुआ वर्ग के आम कार्यों और गतिविधियों की व्यवस्थापक समिति से अधिक कुछ भी नहीं है। अतः विचारधारा किन्हीं परिभाषित नियमों का कोई समूह नहीं है। यह वर्ग-विभाजित समाज में मनुष्य के जीने के तरीकों से सम्बन्धित एक धारणा है। इसमें वर्ग विशेष के सदस्यों के विचार, मूल्य और जीवन-व्यापार शामिल हैं जो उन्हें अपने वर्ग के सामाजिक प्रकार्यों से जोड़े रखते हैं और इस तरह समग्र समाज के वास्तविक ज्ञान से उन्हें दूर रखते हैं। विचारधारा वह शक्ति है जो समाज को उसके विद्यमान रूप में बने रहने का आधार प्रदान करती है, जबकि समाज के वास्तविक स्वरूप में कई अन्तर्विरोध होते हैं। मनुष्य अलग-अलग वैयक्तिकताओं के साथ अपनी अलग-अलग पहचान रखते हैं, लेकिन उत्पादन और वितरण के ढंग के आधार पर वे एक सामूहिक पहचान बनाते हैं जिसे 'वर्ग' कहा जाता है। व्यक्तियों की सोच से हटकर एक वर्ग के सदस्य के रूप में उनकी सामान्य सोच एक जैसी होती है। यह उनकी 'विचारधारा' है।

3.2.5.4. अन्तर्वस्तु और रूप

साहित्य और विचारधारा के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय हमने देखा कि मार्क्सवाद में विचारधारा को समाज के विभिन्न वर्गों के सामान्य दृष्टिकोण या जीवन और जगत् की उनकी समझ माना गया है। यह वर्ग-विभाजित समाज में मनुष्य के जीवनयापन के तौर-तरीकों से सम्बन्धित एक धारणा है। विचारधारा को हम अपने समय के वस्तु-सत्य को जानने, समझने और ग्रहण करने के ढंग के रूप में भी समझ सकते हैं। समाज का बाह्य रूप उसके असली रूप से अलग है, यह विचार ही 'विचारधारा' की प्राथमिक समझ है। मार्क्स ने लिखा है कि "यदि वस्तु का बाह्य रूप और अन्तर्वस्तु प्रत्यक्ष रूप से एक जैसे हो जाए तो सभी विज्ञान निरर्थक हो जाएँगे।" रूप और अन्तर्वस्तु प्रत्येक वस्तु में निहित हैं, इसलिए इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। वास्तव में तो अन्तर्वस्तु जैसी कोई चीज़ ही नहीं है, जो भी है वह आकृति अर्थात् रूप युक्त अन्तर्वस्तु है। अन्तर्वस्तु की एक निश्चित आकृति या रूप होता है। अतः अन्तर्वस्तु से अलग रूप का कोई अस्तित्व नहीं होता है।

अन्तर्वस्तु और रूप के सम्बन्ध में मूल स्थापना यह है कि ये दोनों किसी भी कलाकृति का अभिन्न अंग हैं और अन्योन्याश्रित हैं। दोनों तत्त्वों का सापेक्षिक महत्त्व है। यद्यपि अन्तर्वस्तु की प्राथमिकता असंदिग्ध है, तथापि रूप निष्क्रिय तत्त्व नहीं है। मार्क्सवादी चिन्तन में आर्थिक वास्तविकता को स्थापित करने की प्राथमिकता के कारण रूप के महत्त्व पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका। इस सन्दर्भ में एंगल्स ने फ्रांज़ मेहरिंग को एक पत्र में लिखा है कि "उस बात पर मार्क्स ने और मैंने कभी अपनी रचनाओं में पर्याप्त बल नहीं दिया और उसके सम्बन्ध में हम सभी समान रूप से दोषी हैं। अर्थात् हमने प्रथमतः मुख्य ज़ोर इस बात पर दिया – और हमारा यह ज़ोर देना लाज़िमी था – कि राजनैतिक, विधिशास्त्रीय एवं अन्य विचारधारात्मक धारणाओं के माध्यम से उत्पन्न होने वाली

क्रियाएँ मूलभूत आर्थिक वास्तविकता से उद्भूत होती हैं। किन्तु ऐसा करते हुए हमने रूप-पक्ष की – उन मार्गों और विधियों की, जिनके ज़रिये ये धारणाएँ आदि आविर्भूत होती हैं – विषय-वस्तु की ख़ातिर उपेक्षा की। इसने हमारे विरोधियों को ग़लतफ़हमी पैदा करने और तोड़ने-मरोड़ने का बढ़िया सुयोग दिया।"

मार्क्स के अनुसार रूप जब तक अपनी अन्तर्वस्तु का रूप नहीं है तब तक उसका कोई महत्त्व नहीं है। एक कलाकृति का रूप वे सभी कलात्मक साधन हैं जो सामंजस्यपूर्ण ढंग से मिलकर उसका निर्माण करते हैं। कलाकृति का महत्त्व रूप और अन्तर्वस्तु के सामंजस्य और संगति पर निर्भर करता है। रूप कलाकार की संपत्ति है, उसका व्यक्तित्व है और शैली कलाकृति पर कलाकार के व्यक्तित्त्व का प्रभाव परिलक्षित करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से रूप जिस तरह की अन्तर्वस्तु को धारण करता है, रूप का निर्धारण उसी आधार पर होता है। जिस तरह अन्तर्वस्तु में परिवर्तन होता है, अन्तर्वस्तु के रूप में भी उसी अनुरूप परिवर्तन होता है। इस प्रकार, अन्तर्वस्तु का अस्तित्व रूप से पहले है। जिस तरह समाज की भौतिक अन्तर्वस्तु – उत्पादन प्रणाली – उसकी अधिरचना का निर्धारण करती है, उसी तरह कलात्मक अन्तर्वस्तु कला-कृति के रूप का निर्धारण करती है।

रूप और अन्तर्वस्तु द्वन्द्वात्मक अन्तःक्रिया में परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध रहते हैं। अर्न्स्ट फिशर के शब्दों में "कला में किसी चीज़ को रूप ही दिया जाता है और रूप ही किसी चीज़ को कलाकृति बनाता है।" राल्फ़ फॉक्स ने 'उपन्यास और लोक-जीवन' (1937) में लिखा है कि "रूप की रचना अन्तर्वस्तु द्वारा की जाती है, वह उसके समान और उससे एकाकार होती है, यद्यपि प्राथमिकता अन्तर्वस्तु को दी जाती है, लेकिन रूप अन्तर्वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया करता है, वह कभी निष्क्रिय नहीं रहता।" लेयोन त्रोत्स्की का कथन है कि "अन्तर्वस्तु और रूप के पारस्परिक सम्बन्ध इस तथ्य से निर्धारित होते हैं कि नये रूप की खोज, घोषणा और उद्भव एक आन्तरिक ज़रूरत, और एक सामूहिक मनोवैज्ञानिक माँग के दबाव में होता है तथा अन्य चीजों की तरह इसकी जड़ें भी समाज में हैं।" त्रोत्स्की की मान्यता है कि रूप अपने आन्तरिक दबावों से उभरता है और उसमें पर्याप्त स्वायत्तता का गुण भी होता है। वह वैचारिक दबावों की दिशा में आसानी से नहीं मुड़ता है। गियोर्गी प्लेखानोव के अनुसार लोगों की सौन्दर्य की धारणा ऐतिहासिक विकास के साथ बदलती रहती है। कला का कोई निरपेक्ष मानदण्ड नहीं होता, लेकिन कला का वस्तुगत मानदण्ड होता है और वह रूप और अन्तर्वस्तु के सामंजस्य में निहित होता है। किसी भी कलाकृति की सफलता उसमें अभिव्यक्त रूप और विचार की संगति पर निर्भर होती है। कला का रूप उसकी अन्तर्वस्तु से मेल खाना चाहिए, यह नियम सभी तरह की कलाओं पर लागू होता है।

3.2.6. पाठ-सारांश

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स को मार्क्सवाद के संस्थापक माना जाता है। इन दोनों ने अपने आर्थिक विचारों को कम्युनिज़्म कहा है। इनके सिद्धान्तों को 'मार्क्सवाद' के रूप में बाद के चिन्तकों ने प्रस्तुत किया। मार्क्सवाद दार्शनिक, आर्थिक और राजनैतिक-सामाजिक विचारों की एक पद्धति है, जो इतिहास की द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक व्याख्या करके मानव-समाज के विकास को समझने हेतु एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। मार्क्सवाद का केन्द्रीय चिन्तन सामूहिक सामाजिक कार्यवाही द्वारा विश्व को बदलना है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मुख्य स्थापना यह है कि यह जगत् भौतिक है, उसमें भूतद्रव्य या पदार्थ और उसकी गति तथा परिवर्तन के नियमों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह प्रत्ययों की सत्ता को अस्वीकार करता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार समाज की संरचना 'आधार' और 'अधिरचना' से मिलकर हुई है। 'आधार' में परिवर्तन होने पर ही 'अधिरचना' में परिवर्तन होता है, क्योंकि 'अधिरचना' आधार पर निर्भर होती है।

मार्क्सवाद में विचारधारा को समाज के विभिन्न वर्गों के सामान्य दृष्टिकोण के रूप में देखा गया है अर्थात् यह समाज में मनुष्य के जीने के तरीकों से सम्बन्धित एक धारणा है। मार्क्सवाद में कला को वर्गों के बीच विचारधारात्मक संघर्ष का प्रमुख अस्त्र और सौन्दर्यत्मक परिघटनाओं को समाज के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। कलात्मक सौन्दर्य का सृजन मनुष्य के श्रम की ऐतिहासिक उपज है। मार्क्सवादी आलोचना में 'रूप' और 'अन्तर्वस्तु' के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध माना जाता है। रूप और अन्तर्वस्तु परस्पर द्वन्द्वात्मक अन्तःक्रिया में परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध रहते हैं। लेकिन अन्ततोगत्वा 'अन्तर्वस्तु' ही 'रूप' का निर्धारण करती है। मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य को समझने का अर्थ उस सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया और सामाजिक गठन को समझना है जिसका वह हिस्सा है।

3.2.7. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

3.2.7.1. हिन्दी पुस्तकें

1. क्रिलोव, ब. (1981). मार्क्स एंगल्स : साहित्य तथा कला. मास्को. प्रगति प्रकाशन.
2. जैन, निर्मला. (2013). पाश्चात्य साहित्य चिन्तन. नयी दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. ISBN : 978-81-8361-607-2
3. फिशर, अंर्स्ट अनुवाद – उपाध्याय, रमेश. (1990). कला की जरूरत. नयी दिल्ली. राजकमल प्रकाशन. ISBN : 81-7178-093-8
4. मिश्र, शिवकुमार. (2010). मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धान्त. नयी दिल्ली. वाणी प्रकाशन. ISBN : 978-93-5000-464-7

3.2.7.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Abrams, M.H. and Harpham, Geoffrey Galt. (2015). A Glossary of Literary Terms,11e. Delhi. Cengage Learning. ISBN-13: 978-81-315-2635-4
2. Baxandall, Lee & Morawski, Stefan. (1973). Marx & Engles on Literature & Art, A selection of Writings. Missouri, USA. Telos Press. ISBN : 0-914386-02—06
3. Bottomore, Tom. (1991). A Dictionary of Marxist Thought,2e. Oxford, UK. ISBN-13: 978-0-631-18082-1

4. Eagleton, Terry. (1976). Marxism and Literary Criticism. Berkley, California. University of California Press. Blackwell Publishing. ISBN : 978-0-520=03243-9
5. Eagleton, Terry and Milne, Drew.(1996). Marxist Literary Theory. California. Blackwell Publishers. ISBN : 978-0-520=03243-9
6. Habib, M. A. R. (2005) . A History of Literary Criticism: From Plato to the Present. Malden, USA. Blackwell Publishing. ISBN-13: 978-0-631-23200-1
7. Williams, Raymond. (1977). Marxism and Literature. Oxford. Oxford University Press. ISBN : 13-978-0-19-958682-0

3.2.7.3. इंटरनेट स्रोत

1. http://www.britannica.com/topic/Marxism
2. http://www.marxists.org/subject/art/lit_crit/

3.2.8. अभ्यास प्रश्न

01. “अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है।” उक्त कथन की व्याख्या कीजिए।
02. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को समझाइए।
03. ऐतिहासिक भौतिकवाद की मुख्य स्थापनाओं पर टिप्पणी कीजिए।
04. आधार और अधिरचना के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
05. ‘मिथ्या चेतना’ से क्या अभिप्राय है ?
06. ‘अलगाव’ की स्थिति का श्रमिक वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
07. साहित्य-सृजन में विचारधारा के महत्त्व और भूमिका को समझाइए।
08. साहित्य में ‘अन्तर्वस्तु’ और ‘रूप’ के सम्बन्धों की पड़ताल कीजिए।
09. ग्राम्शी की ‘वर्चस्व’ की अवधारणा क्या है ?
10. ‘विचारधारा’ के स्वरूप और भूमिका के सम्बन्ध में अल्थुसे के विचारों की समीक्षा कीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 3 : सिद्धान्त और वाद

इकाई – 3 : मनोविश्लेषण तथा अस्तित्ववाद

इकाई की रूपरेखा

3.3.00. उद्देश्य
3.3.01. प्रस्तावना
3.3.02. मनोविश्लेषणवाद का उद्भव
3.3.03. फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त
3.3.03.1. चेतना के स्तर
3.3.03.2. व्यक्तित्व की संरचना
3.3.03.3. अहम् रक्षा युक्तियाँ
3.3.03.4. व्यक्तित्व-विकास की अवस्थाएँ
3.3.03.5. स्वप्न-विश्लेषण
3.3.04. नव-मनोविश्लेषणवाद
3.3.04.1. अल्फ्रेड एडलर
3.3.04.2. कैरेन हार्नी
3.3.04.3. कार्ल गुस्ताफ़ युंग
3.3.04.4. ज़्यॉक़ लकाँ
3.3.05. मनोविश्लेषणवाद और साहित्य
3.3.06. अस्तित्ववाद का अर्थ और विषयक्षेत्र
3.3.07. अस्तित्ववाद का उद्भव और विकास
3.3.08. अस्तित्ववाद की मुख्य विशेषताएँ
3.3.08.1. सार से पहले अस्तित्व
3.3.08.2. तथ्यता
3.3.08.3. लोकोत्तरता (परात्मकता)
3.3.08.4. प्रामाणिकता
3.3.08.5. स्वतन्त्रता, मूल्य और दायित्व-बोध
3.3.08.6. शून्यता या अभाव
3.3.08.7. प्रतिवाद
3.3.08.8. चिन्ता, वेदना और निराशा
3.3.08.9. असंगतता
3.3.09. अस्तित्ववाद का साहित्य पर प्रभाव
3.3.10. पाठ-सारांश
3.3.11. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ
3.3.11.1. हिन्दी पुस्तकें
3.3.11.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
3.3.11.3. इंटरनेट स्रोत
3.3.12. अभ्यास प्रश्न

3.3.00. उद्देश्य

पाश्चात्य सिद्धान्तों के अन्तर्गत अब तक आप स्वच्छन्दतावाद और मार्क्सवाद के बारे में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई पाश्चात्य देशों में उद्भूत दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों मनोविश्लेषण तथा अस्तित्ववाद पर केन्द्रित है। इस पाठ में पहले मनोविश्लेषणवाद और बाद में अस्तित्ववाद की मूल स्थापनाओं और प्रमुख सिद्धान्तकारों के बारे में चर्चा की जाएगी। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. मनोविश्लेषणवादी आलोचना के मुख्य आधारों को समझ सकेंगे।
ii. मनोविश्लेषण के विभिन्न सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे।
iii. साहित्य और आलोचना पर मनोविश्लेषण के प्रभाव का विश्लेषण कर पाएँगे।
iv. अस्तित्ववाद के स्वरूप को जान सकेंगे।
v. प्रमुख अस्तित्ववादी चिन्तकों के विचारों से अवगत हो पाएँगे।
vi. साहित्य पर अस्तित्ववाद के प्रभाव को समझ सकेंगे।

3.3.01. प्रस्तावना

मनोविश्लेषण मानव मन को समझने का सिद्धान्त है। यह मनोविज्ञान की एक शाखा है। मनोविज्ञान व्यापक रूप से मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। इसकी मान्यता है कि मनुष्य के मन और शरीर में निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। इसलिए मनुष्य के व्यवहार का सम्पूर्ण अध्ययन और रोगों का निदान मनो-दैहिक उपागम से ही किया जा सकता है। मूलतः एक मनोचिकित्सकीय सिद्धान्त होते हुए भी मनोविश्लेषण कला और साहित्य सहित अन्य अनुशासनों के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सिद्ध हुआ है। मनोविश्लेषण के विकास और विवेचन में फ्रायड के साथ-साथ अल्फ्रेड एडलर, कैरेन हार्नी, कार्ल गुस्ताफ़ युंग और ज़्यॉक़ लकॉं आदि अन्य मनोवैज्ञानिकों और चिन्तकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अस्तित्ववाद एक व्यक्ति-केन्द्रित दर्शन है। विज्ञान का विरोधी न होकर भी मुख्य रूप से इसका लक्ष्य समाज के स्तरहीन, हल्के और रूढ़िवादी सामाजिक और आर्थिक दबावों के बीच मानव व्यक्ति की पहचान और अर्थवत्ता की खोज है। अस्तित्ववाद स्वतन्त्रता का दर्शन है। इसका आधार यह तथ्य है कि हम अपने जीवन से दूरी बनाकर अपने कार्यों का अवलोकन कर सकते हैं। इस अर्थ में हम सदैव अपने आप से अधिक या ऊपर होते हैं। लेकिन हम जितने स्वतन्त्र हैं उतनी ज़िम्मेदारी भी हमारे ऊपर है।

3.3.02. मनोविश्लेषणवाद का उद्भव

मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के जनक ऑस्ट्रिया के चिकित्सक सिग्मंड फ्रायड (1856-1939) थे। फ्रायड एक चिकित्सक थे और उन्होंने अपना सिद्धान्त अपने पेशे के दौरान विकसित किया था। प्रारम्भ में उन्होंने अपने मरीजों की शारीरिक और संवेगात्मक समस्याओं का उपचार सम्मोहन विधि के माध्यम से किया। इस दौरान

उन्होंने पाया कि उनके अधिकांश रोगी चाहते थे कि उनकी समस्याओं के सम्बन्ध में अधिक बात की जाय। जब उनसे बात कर ली जाती तो वे अच्छा महसूस करते थे। फ्रायड ने मन के आन्तरिक प्रकार्यों को समझने के लिए 'मुक्त साहचर्य', 'स्वप्न विश्लेषण' और 'त्रुटियों के विश्लेषण' की विधियों का उपयोग किया।

1922 में विश्वकोश के एक लेख में फ्रायड ने अपनी इस खोज के सम्बन्ध में लिखा है कि मनोविश्लेषण उन मानसिक प्रक्रियाओं का पता लगाने की क्रियाविधि का नाम है जिनका पता अन्यथा किसी भी तरह से नहीं लगाया जा सकता। यह मनोरोगों के उपचार की एक विधि है, जो धीरे-धीरे एक वैज्ञानिक अनुशासन का रूप ग्रहण कर रही है। मनोविश्लेषण-चिकित्सा का आधारभूत लक्ष्य दमित अचेतन सामग्रियों को चेतना के स्तर पर ले आना है ताकि लोग अपेक्षाकृत अधिक आत्म-सजक और सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर सके।

फ्रायड ने मनोविश्लेषण विधि के वैज्ञानिक स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया है कि इसका उपयोग भाषाशास्त्र, जीवविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षा और सौन्दर्यशास्त्र जैसे ग़ैर-नैदानिक अनुशासनों में भी सम्भव है। फ्रायड अपने इस सिद्धान्त के उपयोग के सम्बन्ध में बहुत आशावादी थे और उसको जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू करने का विचार रखते थे। उन्होंने यह दिखाया है कि कला और साहित्य की रचनाओं का मनोविश्लेषण विधि से सृजन और मूल्यांकन किया जाना चाहिए। स्वयं फ्रायड कालेखन अनेक साहित्यिक उदाहरणों और सन्दर्भों से भरा हुआ है। विशेष रूप से उन्होंने गेटे और शिलर जैसे क्लासिकीय जर्मन लेखकों की रचनाओं का बहुत उपयोग किया है।

3.3.03. फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त

मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के विकास में अनेक सिद्धान्तकारों ने अपना योगदान दिया है, लेकिन इस क्षेत्र में सिग्मंड फ्रायड के सिद्धान्त आधारभूत और युगान्तकारी हैं। मनोविश्लेषण के अन्य सभी सिद्धान्त अपनी मौलिक अवधारणाओं के लिए फ्रायड के ऋणी हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण की मुख्य विशेषता मानव-मन के अचेतन पक्षों के उद्घाटन के आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व और व्यवहार का अध्ययन करना है। मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्धारण में माता और पुत्र का जन्मजात सम्बन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

फ्रायड के अनुसार जीवन और जगत् के साथ विविध सम्बन्धों में जुड़ने के लिए बाल्यावस्था में पुत्र और माँ के बीच विकसित काल्पनिक सम्बन्ध-सूत्र को तोड़ना ज़रूरी है और यह कार्य पिता करता है। पिता के हस्तक्षेप के कारण पुत्र को माँ के प्रति अपनी यौन-कामना त्यागनी पड़ती है। वह देखता है कि पिता के पास शिश्न है जो माँ के पास नहीं है। उसे डर लगता है कि अगर उसने पिता के प्राधिकार का उल्लंघन किया तो उसे भी माँ की तरह ही शिश्नविहीन होना पड़ सकता है। बधियाकरण के भय से बालक के मन में मातृ-मनोग्रन्थि का जन्म होता है। मातृ-मनोग्रन्थि का विकास पुत्र को माता का मोह छोड़ने के लिए बाध्य करता है। माता के प्रति अपनी अप्रकट यौन भावना के इस नकार को फ्रायड ने आदिम आत्म-दमन की संज्ञा दी है। आत्म-दमन के कारण ही व्यक्ति के

अवचेतन की सृष्टि होती है। अवचेतन की मानसिक प्रक्रियाएँ व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार की निर्धारक होती हैं। आइए, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त के मुख्य पहलुओं की जानकारी प्राप्त करें।

3.3.03.1. चेतना के स्तर

फ्रायड के सिद्धान्त में संवेगात्मक द्वन्द्वों के स्रोतों और परिणामों के साथ-साथ उनके प्रति लोगों द्वारा की जाने वाली प्रतिक्रिया पर भी विचार किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-मन के तीन स्तर होते हैं। प्रथम स्तर 'चेतन' है, जिसके अन्तर्गत वे अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ और मानसिक क्रियाएँ आती हैं जो वर्तमान से सम्बन्धित होती हैं और जिनके प्रति लोग जागरूक होते हैं। दूसरा स्तर 'पूर्व-चेतन' है जिसके अन्तर्गत ऐसे भाव, विचार और इच्छाएँ आदि मानसिक क्रियाएँ आती हैं जो वर्तमान चेतन में नहीं होतीं, लेकिन प्रयास करने या सावधानी से उन पर ध्यान केन्द्रित करने पर लोग उनके प्रति जागरूक हो जाते हैं, वे उनके चेतन में आ जाती हैं। चेतना का तीसरा स्तर 'अवचेतन' है जिसके अन्तर्गत ऐसी मानसिक प्रक्रियाएँ आती हैं जिनके प्रति लोग जागरूक नहीं होते हैं।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य का अवचेतन उसकी मूल प्रवृत्तियों और पाशविक आवेगों काभण्डार होता है। इसके अन्तर्गत वे सभी विचार और इच्छाएँ होती हैं जिनकी पूर्ति व्यक्ति नहीं कर पाता है। ये विचार और भावनाएँ चेतन रूप से जागरूक स्थिति से छिपे हुए और अवचेतन में दबे हुए होते हैं। ये दबे-छिपे संवेग मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व पैदा करते हैं। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध व्यक्ति की कामेच्छाओं से होता है जिन्हें अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता इसलिए उनका दमन कर दिया जाता है। मनुष्य की चेतना का 'अवचेतन' स्तर आवेगों की अभिव्यक्ति के समाज-स्वीकृत तरीके ढूँढता है अथवा उन आवेगों को अभिव्यक्त होने से रोकने के लिए संघर्ष करता है। इस संघर्ष में असफल होने पर व्यक्ति असामान्य व्यवहार करता है।

3.3.03.2. व्यक्तित्व की संरचना

मनोविश्लेषण सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तित्व के तीन भाग होते हैं – इदम् (इड), अहम् (ईगो) और पराहम् (सुपर ईगो)। ये व्यक्तित्व की वास्तविक भौतिक संरचनाएँ न होकर केवल सम्प्रत्यय हैं। ये तीनों तत्त्व अवचेतन में ऊर्जा के रूप में होते हैं और लोगों के व्यवहार के तरीकों से इनके बारे में अनुमान लगाया जाता है।

(1) इदम् (इड) – यह व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति का स्रोत होता है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति की आदिम आवश्यकताओं, कामेच्छाओं और आक्रामक आवेगों की तात्कालिक तुष्टि से होता है। यह आनन्द के सिद्धान्त पर कार्य करता है। इदम् को नैतिक मूल्यों, समय-स्थान और उचित-अनुचित की कोई परवाह नहीं होती है।

(2) अहम् (ईगो) – इसका विकास इदम् (इड) से होता है और यह व्यक्ति की मूल-प्रवृत्ति की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि व्यावहारिक आधार पर करता है। यह इदम् (इड) को व्यवहार के उपयुक्त तरीके बताता है अर्थात् उचित-अनुचित का ध्यान रखते हुए सामाजिक नियमों और परिस्थितियों को

ध्यान में रखकर कोई कार्य करने का निर्देश देता है। इदम् (इड) जहाँ अवास्तविक माँग और आनन्द-सिद्धान्त से संचालित होता है वहाँ अहम् (ईगो) तर्क और धैर्य के साथ वास्तविकता के सिद्धान्त से संचालित होता है।

(3) पराहम् (सुपर ईगो) – यह आदर्शवादी या नैतिकता के सिद्धान्त से संचालित होता है। यह व्यक्ति के मानसिक प्रकार्यों की नैतिक शाखा है। पराहम् (सुपर ईगो) व्यक्ति को बताता है कि किसी अवसर विशेष पर उसकी खास इच्छा की सन्तुष्टि नैतिक है या नहीं। यह इड की मूलप्रवृत्तिक इच्छा पर रोक लगाने के साथ-साथ अहम् को वास्तविक लक्ष्यों से उच्चतर नैतिक लक्ष्यों की ओर निर्देशित करता है।

इस प्रकार फ्रायड के अनुसार मनुष्य का अवचेतन तीन प्रतिस्पर्धी शक्तियों से बना हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति में इन शक्तियों का अस्तित्व अलग-अलग अनुपात और परिमाण में होता है। इदम्, अहम् और पराहम् की सापेक्ष और सन्तुलित शक्ति व्यक्तित्व की स्थिरता को सुनिश्चित करती है। फ्रायड के अनुसार इदम् व्यक्ति की मूलप्रवृत्तिक ऊर्जा का स्रोत होता है। इदम् को 'जीवन मूल-प्रवृत्ति' (इरोस) और 'मृत्यु मूल-प्रवृत्ति' (थेनेटोस) के नाम से जानी जाने वाली दो शक्तियों से ऊर्जा प्राप्त होती है। फ्रायड ने यौन प्रवृत्ति को जीवन मूल-प्रवृत्ति से अलग महत्त्व देते हुए इसकी ऊर्जा को 'लिबिडो' या कामशक्ति कहा है।

3.3.03.3. अहम् रक्षा युक्तियाँ

फ्रायड के अनुसार मनुष्य का अधिकांश व्यवहार दुश्चिन्ता के प्रति उपयुक्त समायोजन अथवा पलायन को प्रतिबिम्बित करता है। अतः लोगों का व्यवहार व्यापक रूप से इस बात से निर्धारित होता है कि उनका अहम् दुश्चिन्ताजनक स्थिति का मुक़ाबला किस प्रकार से करता है। फ्रायड के अनुसार लोग रक्षा युक्तियों के माध्यम से दुश्चिन्ता का परिहार करते हैं। ये रक्षा युक्तियाँ वास्तविकता का रूप बदल देती हैं जिससे व्यक्तित्व का विचलन टल जाता है। लेकिन यदि इन युक्तियों का उपयोग इस हद तक किया जाए कि वास्तविकता सच में विकृत हो जाए तो व्यक्ति कुसमायोजित व्यवहार करने लगता है। फ्रायड ने अपने सिद्धान्त में कई प्रकार की रक्षा युक्तियों का उल्लेख किया है। कुछ मुख्य रक्षा युक्तियाँ इस प्रकार हैं –

(i) **दमन –** यह सबसे महत्त्वपूर्ण युक्ति है। इसमें दुश्चिन्ता पैदा करने वाले विचारों और व्यवहारों को एकदम दबा दिया जाता है। इसे चयनात्मक विस्मरण भी कहा जाता है।

(ii) **प्रक्षेपण –** इस युक्ति में अन्यव्यक्तियों या परिस्थितियों के प्रति अपनी मनोवृत्तियों और व्यवहारों को अचेतन रूप से आरोपित कर अहम् को उबार लिया जाता है।

(iii) **युक्तिकरण –** इस युक्ति में व्यक्ति अपने तर्कहीन विचारों और व्यवहारों को तर्कसंगत और स्वीकार्य बनाने का प्रयास करता है।

(iv) **अस्वीकरण –** इस युक्ति के अन्तर्गत व्यक्ति वास्तविकता को पूरी तरह अस्वीकार कर देता है।

(v) **प्रतिक्रिया निर्माण –** इस युक्ति का उपयोग करके व्यक्ति अपनी वास्तविक भावनाओं और इच्छाओं के एकदम विपरीत व्यवहार करते हुए अपनी दुश्चिन्ता का निवारण करता है।

अहम् रक्षा युक्तियों का उपयोग करने वाले लोग इनके प्रति अनभिज्ञ होते हैं और वे इनका उपयोग अपने अवचेतन में करते हैं। ये युक्तियाँ वस्तुत: दुश्चिन्ता से उत्पन्न असुविधाजनक भावनाओं से अहम् को बचाने के अवचेतन तरीके हैं।

3.3.03.4. व्यक्तित्व-विकास की अवस्थाएँ

फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व की आन्तरिक बनावट जन्म के समय से ही निश्चित हो जाती है। आन्तरिक पक्ष में कोई भी परिवर्तन अत्यन्त कठिनाई से होता है। फ्रायड ने व्यक्तित्व-विकास का एक पंच अवस्था सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसे मनोलैंगिक सिद्धान्त भी कहते हैं। संक्षेप में ये पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं –

(1) मौखिक अवस्था – यह मनोलैंगिक विकास की प्रथम अवस्था है जो बच्चे के जन्म से लेकर एक वर्ष की उम्र तक रहती है। इस अवस्था में शिशु की सुखप्राप्ति का केन्द्र उसका मुख होता है। बच्चा मुख द्वारा की जाने वाली क्रियाओं जैसे दुधपान, चूसना और चुभलाना आदि द्वारा सुख प्राप्त करता है।

(2) गुदा अवस्था – यह अवस्था एक वर्ष से तीन वर्ष तक रहती है। शरीर का गुदीय क्षेत्र इस अवस्था में सुखदायक भावनाओं का केन्द्र होता है। बच्चा मूत्रत्याग एवं मलत्याग जैसी क्रियाओं से आनन्द का अनुभव करता है।

(3) लैंगिक अवस्था – इस अवस्था में सुख का केन्द्र जननांगों में होता है। चार-पाँच वर्ष की आयु में बच्चे स्त्री और पुरुष में भेद कारण सीखते हैं। इस अवस्था में लड़कों में 'इडीपस' मनोग्रन्थि और लड़कियों में 'इलेक्ट्रा' मनोग्रन्थि विकसित होती है। लड़का अपनी माता के प्रति आकर्षण और पिता के प्रति ईर्ष्या और घृणा का अनुभव करता है, जबकि लड़कियाँ अपने पिता की तरफ लैंगिक रूप से आकर्षित होती हैं और माता से घृणा करती हैं। अन्ततः इस अवस्था में दोनों मनोग्रन्थियों का समाधान भी बच्चे प्राप्त कर लेते हैं। लड़का-लड़की दोनों अपने माता-पिता के प्रति लैंगिक या काम भावनाओं का परित्याग करके उन्हें भूमिका-प्रतिरूप मानने लगते हैं, उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

(4) कामप्रसुप्ति अवस्था – इस अवस्था को अव्यक्तावस्था भी कहा जाता है। यह अवस्था छह-सात वर्ष की आयु से शुरू होकर यौवनारम्भ तक होती है। इस अवस्था में बच्चों की अधिकांश ऊर्जा खेल-कूद और अन्य रचनात्मक गतिविधियों में लगती है।

(5) जननेन्द्रिय अवस्था – यह मनोलैंगिक विकास की अन्तिम अवस्था होती है। यह अवस्था यौवनारम्भ से आरम्भ होकर निरन्तर चलती रहती है। इसमें व्यक्ति विपरीत लिंग के व्यक्तियों के साथ समाज स्वीकृत व्यवहार करना सीखता है।

फ्रायड के पंच अवस्था सिद्धान्त के अनुसार बच्चा जब विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की तरफ़ अग्रसर होता है तो वह अपने आप को समाज के साथ समायोजित करता है। इस दौरान किसी एक अवस्था में असफल हो जाने पर वह 'स्थिरण' की अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ बच्चे का विकास एक आरम्भिक अवस्था तक सिमट जाता है। इसी तरह जब विकास की किसी अवस्था में व्यक्ति द्वारा किया गया समस्याओं का

समाधान सन्तोषजनक नहीं होता है तब व्यक्ति पूर्व की किसी कमतर अवस्था का व्यवहार करता है। यह अवस्था का 'प्रतिगमन' कहलाती है।

3.3.03.5. स्वप्न-विश्लेषण

फ्रायड के सिद्धान्त में अवचेतन का स्थान सर्वोपरि है। अवचेतन यथार्थ के प्रति पूरी तरह बेपरवाह होता है। उसे तर्क, कारण या अन्तर्विरोध से कोई सरोकार नहीं होता है। यह पूर्ण रूप से मनोवृत्तियों की सन्तुष्टि और आनन्द की आकांक्षा का क्षेत्र है। स्वप्न इस क्षेत्र तक पहुँचने का 'राजपथ' है। फ्रायड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द इंटरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स' (1900) में सपनों की व्याख्या के आधार पर अवचेतन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

फ्रायड के अनुसार सपने हमारी इच्छा-पूर्ति के विविध रूप हैं। मनुष्य के अवचेतन द्वारा उसके किसी द्वन्द्व के समाधान स्वरूप सपनों की संरचना होती है। यह संरचना बहुत जटिल और बहुस्तरीय होती है। स्वप्न के दौरान व्यक्ति का 'पूर्व-चेतन' जाग्रत अवस्था की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक लापरवाह, फिर भी सचेत होता है। इसलिए अवचेतन अपनी सूचनाओं के अर्थ को कुछ तोड़-मरोड़ कर अलग रंग में प्रस्तुत करता है ताकि पूर्व-चेतन उसकी वास्तविकता को पहचान न सके और उन्हें अभिव्यक्त होने से रोके नहीं। फ्रायड सपनों की व्याख्या के लिए ' सघनन की परिघटना' का विचार प्रस्तुत करता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के स्वप्न में आने वाले किसी भी चित्र या संकेत के अनेक अभिप्राय होते हैं। चूँकि व्यक्ति का अवचेतन उसकी अतृप्त और दमित इच्छाओं को सांकेतिक रूप में सपनों के माध्यम से प्रकट करता है इसलिए सतर्क 'अहम्' स्वप्नावस्था में भी आने वाले चित्रों का निरीक्षण-परीक्षण करता है तथा संदेशों को अबोधगम्य बनाने का पूरा प्रयास करता है। 'पूर्व-चेतन' और 'अहम्' की पहरेदारी 'प्रच्छन्नता का एक आवरण' बना देती है। फ्रायड के अनुसार सपने एक प्रकार का समझौता है जिससे दमित इच्छाओं की प्रच्छन्न रूप से पूर्ति होती है। सपनों के विश्लेषण से व्यक्ति की मानसिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

3.3.04. नव-मनोविश्लेषणवाद

फ्रायड के सिद्धान्तों के विकास की दिशा में फ्रायड के समकालीन और परवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने अपने नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। इन सिद्धान्तकारों ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की कई मान्यताओं से असहमति प्रकट करते हुए नये अन्वेषण किए हैं। इन सिद्धान्तकारों को नव-मनोविश्लेषणवादी या पश्च-फ्रायडवादी कहा जाता है। इनमें इड और अहम् को अधिक महत्त्व न देकर व्यक्ति-मन की सृजनात्मक क्षमताओं और समस्याओं के समाधान को प्रमुखता दी गई है। इनमें से कुछ सिद्धान्तकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ उपयोगी होगा।

3.3.04.1. अल्फ्रेड एडलर

अल्फ्रेड एडलर (1870-1937) फ्रायड के सहयोगी थे लेकिन फ्रायड से सैद्धान्तिक मतभेद होने पर उन्होंने अपने नये सिद्धान्त प्रस्तावित किए। उनके सिद्धान्त को 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' के रूप में जाना जाता है।

उसकी आधारभूत मान्यता यह है कि व्यक्ति का व्यवहार उद्देश्यपूर्ण और लक्ष्योन्मुख होता है। प्रत्येक व्यक्ति में चयन और सृजन की क्षमता होती है। हमारे व्यक्तिगत लक्ष्य ही हमारे व्यवहार की मुख्य अभिप्रेरणा होते हैं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति अपने अहम् को आगे बढ़ाना होता है। अहम् को आगे बढ़ाने की प्रबल इच्छा और जीवन के कठोर यथार्थ के बीच का संघर्ष ही व्यक्ति के मानसिक विकास की मुख्य समस्या है। एडलर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपर्याप्तता और अपराध की भावनाओं से ग्रसित होता है। इससे उसमें 'हीनता मनोग्रन्थि' उत्पन्न होती है। यह हीनता ग्रन्थि उसके मन में बाल्यावस्था से ही पैदा हो जाती है। व्यक्तित्व के उचित विकास के लिए इस मनोग्रन्थि पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है। यह विजय अहम् की स्थापना है। प्रकारान्तर से यही आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति है जो व्यक्तित्व-विकास में मुख्य है, कामेच्छा या लिबिडो नहीं।

3.3.04.2. कैरेन हार्नी

कैरेन हार्नी (1885-1952) भी फ्रायड की अनुयायी थीं। उन्होंने फ्रायड के इस विचार को चुनौती दी कि महिलाएँ कमज़ोर होती हैं। उनके अनुसार प्रत्येक लिंग के व्यक्ति में विभिन्न योग्यताएँ और गुण होते हैं। अतः किसी भी लिंग के व्यक्ति को श्रेष्ठ या हीन नहीं माना जा सकता है। महिलाएँ जैविक कारकों की अपेक्षा सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों से अधिक प्रभावित होती हैं। उन्होंने व्यक्ति के मनोविकारों का कारण बाल्यावस्था में विक्षुब्ध अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं। माता-पिता के अनुचित व्यवहार से बच्चे के मन में 'मूल दुश्चिन्ता' की भावना पैदा हो जाती है। यह 'मूल दुश्चिन्ता' बच्चे में आक्रामकता और विरोधी व्यवहार का कारण होती है। हार्नी ने आत्मसिद्धि पर बल देते हुए आशावादी दृष्टि से यह प्रस्ताव किया कि अपने व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन और आत्म-विकास द्वारा मनुष्य उच्चतर व्यक्तित्व प्राप्त कर सकता है।

3.3.04.3. कार्ल गुस्ताफ़ युंग

कार्ल गुस्ताफ़ युंग (1875-1961) भी फ्रायड के सहयोगी रहे, लेकिन सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण ये फ्रायड से अलग हो गए और अपने नये सिद्धान्त प्रस्तुत किए। इन्होंने लिबिडो का व्यापक अर्थ लिया और फ्रायड द्वारा कामवृत्ति पर ज़रूरत से ज़्यादा बल देने की आलोचना की। युंग ने पाया कि मनुष्य का जीवन और व्यवहार काम-भावना एवं आक्रामकता की अपेक्षा आकांक्षाओं और उद्देश्यपरकता से संचालित होता है। उन्होंने व्यक्तित्व का एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' कहा जाता है। इस सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि व्यक्तित्व में प्रतिस्पर्द्धी भावनाएँ और शक्तियाँ सन्तुलन के नियम के तहत समन्वयात्मक रूप में कार्य करती हैं। व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं में कोई अनिवार्य द्वन्द्व नहीं होता है। व्यक्तित्व के विभिन्न घटकों के ऊर्जा आवेगों के बीच एक सन्तुलन पाया जाता है, जिससे व्यक्ति के कार्यों में सार्थकता होती है।

युंग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण खोज 'सामूहिक अचेतन' की अवधारणा है, जिसके अनुसार सामूहिक अचेतन में आदिकालीन प्रतिमाएँ अथवा 'आद्य प्ररूप' होते हैं। 'आद्य प्ररूप' सामूहिक अचेतन की अन्तर्वस्तु होते हैं, जो व्यक्तिगत स्तर पर अर्जित नहीं किए जाते, बल्कि वंशानुगत रूप से प्राप्त होते हैं। व्यक्ति को अपने

व्यवहार की सुसंगतता के लिए निरन्तर अपने व्यक्तिगत और सामूहिक अचेतन में उपलब्ध ज्ञान के प्रति जागरूक रहना चाहिए। युंग ने अपने प्ररूप विज्ञान में 'अन्तर्मुखी' और 'बहिर्मुखी' दो प्रकार के व्यक्तित्वों का उल्लेख किया है। अन्तर्मुखी व्यक्ति भावुक, एकांतप्रिय, शर्मीले और व्यावहारिक जीवन में अकुशल होते हैं, जबकि बहिर्मुखी व्यक्ति व्यवहार-कुशल, सक्रिय और लोकप्रिय होते हैं।

3.3.04.4. ज़्यॉक़ लकाँ

फ्रांसीसी मनोचिकित्सक ज़्यॉक़ लकाँ (1901-1981) ने भाषावैज्ञानिक दृष्टि से फ्रायड के सिद्धान्तों के पुनर्पाठ का प्रस्ताव किया। उसने फ्रायड के आदिम आत्म-दमन सिद्धान्त के अनुशीलन के क्रम में दिखाया कि मातृ-मनोग्रन्थि का शिकार होते समय बालक बोलने की उम्र में आ जाता है। इसी समय बच्चे में भाषा के माध्यम से कामना का विकास होता है और वह उस कामना के दमन की प्रक्रिया भी विकसित कर लेता है। व्यावहारिक जीवन में अपनी अतृप्त कामना की पूर्ति के लिए वह जीवन भर माँ के रूप में अपनी खोयी हुई वस्तु की कमी महसूस करता रहता है। मातृ-मनोग्रन्थि से मुक्ति के लिए लकाँ ने 'दर्पण-प्रतिबिम्ब' (मिरर- इमेज) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उसने तर्क दिया कि एक निश्चित अवस्था तक आकार बालक अपने आप को पूर्ण मानने लगता है। दर्पण में स्वयं को देखने पर अर्थात् अपने ही प्रतिबिम्ब से साक्षात्कार होने पर उसे अपनी माँ और स्वयं के बीच के भेद का ज्ञान हो जाता है। बच्चा दर्पण में अपनी जिस छवि को देखता है, वह वास्तविक न होकर उसका प्रतिरूप है। चूँकि दर्पण में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब अवास्तविक और आभासी होता है, इसलिए उससे आत्म-मोह का एक काल्पनिक संसार निर्मित हो जाता है। इसलिए लकाँ कहता है कि व्यक्ति के जीवन में 'दर्पण-प्रतिबिम्ब' का चरण उसके अहम् के विकास में सहायक तो होता है, लेकिन यह विकास अयथार्थ आधार पर होता है। इस प्रक्रिया में अन्ततः बालक इस प्रतिबिम्बात्मक संसार से ऊपर उठकर भाषा के प्रतीकात्मक संसार में प्रवेश कर लेता है।

लकाँ के अनुसार हमारे अवचेतन की संरचना भाषा की तरह होती है। अर्थात् अवचेतन भाषाई माध्यमों से अभिव्यक्त होता है तथा भाषा की ही तरह यह एक जटिल और व्यवस्थित संरचना है। व्यक्ति के आत्म की पहचान भाषा में अनुस्यूत है। बालक में 'माँग' के स्थान पर 'कामना' की वृद्धि हो जाती है, जो उसकी अतृप्ति का मुख्य कारण बनती है अर्थात् उसके भीतर 'कमी' की भावना घर कर जाती है। लकाँ के अनुसार यह 'कमी' तथा इस कमी को पूरा करने की संरचनाएँ ही व्यक्ति के अहम् या आत्मपरकता का निर्धारण करती हैं।

3.3.05. मनोविश्लेषणवाद और साहित्य

साहित्य सिद्धान्त के रूप में मनोविश्लेषणवाद के अन्तर्गत साहित्यकार के अन्तर्मन के द्वन्द्व का अध्ययन किया जाता है। मनोविश्लेषण में समस्त कलाओं के मूल में दमित और अतृप्त कामनाएँ मानी जाती हैं। अवचेतन में स्थित ये अतृप्त कामनाएँ कला या साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। इसलिए किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन और विश्लेषण कलाकार के अन्तर्मन की दशाओं के सन्दर्भ में ही उचित है। कला मनुष्य के अवचेतन में

स्थित कामनाओं की मुक्त अभिव्यक्ति का माध्यम प्रदान करती है, जबकि सामाजिक निषेध और नैतिक व्यवस्थाएँ उन्हें दबाती हैं। चेतन और अवचेतन मन में निरन्तर चलने वाले इस द्वन्द्व के अन्तर्गत अवचेतन की कामनाओं का चेतन मन द्वारा उदात्तीकरण होता है। उदात्तीकरण से कुण्ठाएँ दूर हो जाती हैं और व्यक्ति निर्द्वन्द्व भाव से रचनात्मक व्यवहार में अनुरत हो जाता है। उदात्तीकरण की इस प्रक्रिया में मानव जाति के सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन होता है। अतः कला और साहित्य उदात्तीकृत मानवीय क्रियाकलाप हैं।

मनोविश्लेषण के अनुसार अवचेतन मन की दमित इच्छाएँ फ़ैंटेसी या रम्यकल्पना के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। कलाएँ कल्पना के आधार पर मनुष्य को यथार्थ जीवन के संकटों और कठिनाइयों से निजात दिलाने का उपक्रम हैं। फ्रायड ने मात्र कामशक्ति को ही नहीं, बल्कि 'लिबिडो' (कामशक्ति) सहित इदम् में निहित 'इरोस' और 'थेनेटोस' मूल-प्रवृत्तियों को जीवन के हर क्षेत्र की नियामक शक्तियाँ माना है। ये प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के रचनात्मक क्रियाकलापों तथा कला और साहित्य-सृजन का आधार होती हैं। फ्रायड ने कवियों और दार्शनिकों को अचेतन के अनुसंधाता माना है।

मनोविश्लेषणवाद के अनुसार साहित्यिक रचनाएँ मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं को परिलक्षित करती हैं। फ्रायड के अनुसार साहित्यिक रचना स्वप्न की तरह अवचेतन मन की ऊर्जा का प्रतिफलन होती है। साहित्यिक रचना रचनाकार के अन्तर्मन को अभिव्यक्त करती है। साहित्यिक कृति में वर्णित जटिल अन्तर्वस्तु और गूढ़ार्थ को विश्लेषित करने तथा प्रतीकों और मिथकों को समझने में मनोविश्लेषणवादी दृष्टि सहायक हुई है। इससे रचनाकार के व्यक्तित्व में छिपे हुए मनोवैज्ञानिक निहितार्थों को पहचानना और रचना के मनोवैज्ञानिक यथार्थ का मूल्यांकन कर पाना सम्भव हुआ।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना में एक रचना को लेखक के व्यक्तित्व, उसकी मानसिक दशा, भावनाओं और इच्छाओं की अभिव्यक्ति मान कर उसका मूल्यांकन किया जाता है। मुख्य आधार यह है कि एक साहित्यिक रचना उसके लेखक की मानसिक विशेषताओं से सम्बद्ध होती है। रचना की व्याख्या और विश्लेषण में लेखक के व्यक्तित्व को दृष्टगत रखकर निर्णय दिया जाता है। इस पद्धति में यह माना जाता है कि रचना के अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से लेखक और पात्रों के मनोविज्ञान का अध्ययन ज़रूरी है।

3.3.06. अस्तित्ववाद का अर्थ और विषयक्षेत्र

मनोविश्लेषणवाद जहाँ मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं के अन्वेषण के आधार पर जीवन और जगत् को समझने और मानवीय समस्याओं के समाधान का प्रयास करता है, वहीं मनुष्य को ही केन्द्र में रखकर अस्तित्ववाद मनुष्य के उद्‌भव और अस्तित्व को समझने की दृष्टि देता है। अस्तित्ववाद मनुष्य के अस्तित्व अर्थात् सत्ता का दर्शन है। यह पारम्परिक भौतिकवादी और प्रत्ययवादी सिद्धान्तों का विरोध करता है। यह किसी विशेष विचार या प्रत्यय के स्थान पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता, चयन और अस्तित्व को प्रमुखता प्रदान करता है। अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य की सत्ता विलक्षण है, उसका किसी भी मानवेतर सत्ता के साथ कोई मेल नहीं हो सकता।

अस्तित्ववाद अनिश्चितता के विरुद्ध उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यवाही पर बल देता है। इसका दावा है कि मानव अस्तित्व के बारे में चिन्तन ऐसी नयी श्रेणियों की माँग करता है जो मानवीय चिन्तन के इतिहास में पहले नहीं थीं। मनुष्य को न तो निश्चित गुणयुक्त तत्त्व के रूप में समझा जा सकता है और न ही एक ऐसे कर्त्ता के रूप में जो वस्तुजगत् के साथ अन्तःक्रिया करता है। सही मायनों में मानव-अस्तित्व को प्रामाणिकता के मानक से संचालित श्रेणियों के समूह से ही समझा जा सकता है। अस्तित्ववाद के अनुसार समस्त सिद्धान्तों और विचारों का जन्म मानव के चिन्तन से उसके बाद हुआ है। चूँकि मनुष्य का अस्तित्व चिन्तन और विचार से पहले है इसलिए वही प्रमुख और महत्त्वपूर्ण है, विचार और चिन्तन नहीं।

अस्तित्ववादी मानते हैं कि मानवीय परिवेश हमें अपने निर्णय लेने हेतु बिना किसी मार्गदर्शन के पूर्ण स्वतन्त्रता देता है और इसलिए उन निर्णयों की पूरी ज़िम्मेदारी भी मनुष्य की ही है। अपने कार्यों, विश्वासों और निर्णयों की स्वयं की एकान्तिक ज़िम्मेदारी मनुष्य के अत्यधिक दुःख और चिन्ता का कारण भी बनती है। मनुष्य को इस दुःख और चिन्ता का सामना करना चाहिए, उनसे दूर नहीं भागना चाहिए। यदि वह इनसे पलायन करने का प्रयास करता है तो फिर आत्म-छल से भरा जीवन ही उसका भविष्य है। अस्तित्ववाद के अनुसार लोग मानव-अस्तित्व के सर्वाधिक उग्र रूपों की परख से ही अपने बारे में अच्छी तरह सीखते हैं। मृत्यु का भय, संत्रास, ऊब, अर्थपूर्ण सम्बन्धों के निर्वाह की कठिनाई, जीवन की विसंगतियाँ और अलगाव मनुष्य-जीवन के अनिवार्य पक्ष हैं।

अस्तित्ववादी चिन्तन की दो धाराओं हैं। पहली के अन्तर्गत वे चिन्तक आते हैं जो अनीश्वरवादी हैं। इन विचारकों ने मनुष्य को अकेला और असहाय माना है। नीत्शे ने कहा था कि ईश्वर मर चुका है। हेडेगर और सार्त्र इसी धारा के अस्तित्ववादी हैं। दूसरी धारा में किर्केगार्ड, कार्ल यास्पर्स और गैब्रियल मार्सल आदि के विचार आते हैं। इस धारा के अनुसार संसार में निरर्थक जीवन को सार्थकता प्रदान करने और उसे अर्थपूर्ण बनाने के लिए ईश्वर में आस्था अनिवार्य है।

3.3.07. अस्तित्ववाद का उद्भव और विकास

अस्तित्वादी चिन्तन के स्रोत प्लेटो और अरस्तू के विचारों में खोजे जा सकते हैं। मनुष्य को महत्त्व देने की इनकी दृष्टि अस्तित्ववाद की प्रेरणा रही है। रेने देकार्त ने 'अस्तित्व' शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। उनका कथन प्रसिद्ध है – "मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है।" देकार्त के लिए अस्तित्व सोचने के गुण से निर्धारित होता है। यह बात अस्तित्ववाद के आधारभूत विचार से अलग है। यद्यपि किर्केगार्द और नीत्शे के रूप में अस्तित्ववाद की जड़ें उन्नीसवीं सदी में मौजूद हैं, लेकिन इसका प्रभाव बीसवीं सदी में पूरी तरह से प्रकट हुआ है। जर्मन दार्शनिकों मार्टिन हेडेगर और कार्ल यास्पर्स ने 1920 और 1930 के दशकों में इस चिन्तन-धारा का आधार तैयार किया था। आगे चलकर फ्रांस के ज्याँ पाल सार्त्र के महत्त्वपूर्ण लेखन तथा सिमोन द बाउवार, अल्बर्ट कामू और मौरिस मर्लऔ पोंटी आदि अन्य अस्तित्ववादी चिन्तकों ने अपने लेखन में इसका विकास किया।

किर्केगार्द और नीत्शे दोनों ने अपने चिन्तन में आत्म-तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया है तथा व्यक्ति की इच्छा को निपट तार्किकता और संकल्पनात्मक वस्तुगतता से अधिक महत्त्व प्रदान किया है। हेडेगर का विचार 'विश्व में होना' और सार्त्र की 'सार से पहले अस्तित्व' की अवधारणा अस्तित्ववाद के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार रहे हैं। इन विचारों का प्रभाव दर्शनशास्त्र की सीमाओं से बाहर मनोविज्ञान और कलाओं के क्षेत्र में भी व्यापक रूप से पड़ा। किर्केगार्द, नीत्शे, यास्पर्स, मार्सल, हेडेगर और सार्त्र को अस्तित्ववाद के मुख्य चिन्तक माना जाता है। यद्यपि इन सभी के चिन्तन में पर्याप्त विविधता और कई मुद्दों पर अलग-अलग विचार मिलते हैं, लेकिन कुछ सामान्य लाक्षणिकताओं की पहचान के आधार पर अस्तित्ववाद को चिन्तन की एक अलग धारा के रूप में पहचाना जा सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कुछ दार्शनिकों और लेखकों को समाज के नियम और विचार अविश्वसनीय लगने लगे। उन्हें दुनिया एक ऐसा स्थान लगने लगा जिसमें कोई सार्वभौमिक नियम या व्यवस्था नहीं है। इसलिए उन्होंने व्यक्ति की सामाजिक अपेक्षाओं के स्थान पर व्यक्ति के स्वयं द्वारा रचित अर्थ को खोजना शुरू किया।

फ़्रेड्रिक नीत्शे (1844–1900) पश्चिमी दर्शन और संस्कृति, विशेष रूप से प्लेटो और ईसाईयत, का आलोचक था। नीत्शे ने महसूस किया कि मनुष्य का स्वरूप और पहचान उसके विश्वासों और सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करते हैं। उसने मानव की स्वयं के निर्माण और पुनर्निर्माण की क्षमताओं का बार-बार उल्लेख किया है। उसने देखा कि उन्नीसवीं सदी में 'उच्चतम मूल्य' स्वयं का अवमूल्यन करने लगे थे। सत्य-वचन का ईसाई आदर्श विज्ञान के रूप में संस्थाबद्ध होकर ईश्वर पर विश्वास को कमज़ोर कर रहा है। विज्ञान विश्व को ईश्वर से विमुख कर रहा है और इसके पूर्व-प्रदत्त नैतिक अर्थ को समाप्त कर रहा है। इस स्थिति में व्यक्ति को उसी के भरोसे छोड़ दिया गया है। ऐसे में यदि उसका आत्म कमज़ोर है तो वह नास्तिवाद (विश्व में कोई अन्तर्निहित अर्थ नहीं है) के कारण निराशा का शिकार हो जाएगा। वहीं एक मज़बूत या ऊर्जावान व्यक्ति के लिए नास्तिवाद मुक्तिकारक अवसर प्रदान करता है ताकि वह विश्व को एक अर्थ दे सके, अपने मूल्यों के मूल्यान्तरण द्वारा श्रेष्ठता पर आधारित एक व्यवस्था स्थापित कर सके। नीत्शे ने मनुष्य के अस्तित्व सम्बन्धी ऐसे पहलू का उद्घाटन किया है जिसे न तो तात्कालिक अभिप्रेरणों और रुझानों की तरह समझा जा सकता है और न ही व्यवहार के किसी सार्वभौमिक नियम की तरह। यह एक ऐसा पहलू है जिसे उसके होने के ढंग से ही समझा जा सकता है। किर्केगार्ड और नीत्शे दोनों ने इस अत्यन्त जटिल एवं अस्पष्ट विचार को व्यवस्थित तरीके से विकसित नहीं किया।

डेनमार्क के धर्मचिन्तक और दार्शनिक सोरेन किर्केगार्द (1813–55) अस्तित्ववाद के मुख्य प्रणेता हैं, वे अस्तित्ववाद की आस्तिक धारा के मुख्य प्रस्तोता हैं। मनुष्य के मनोविज्ञान और ईसाई नैतिकता में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने ईसाई धर्म की साम्प्रदायिक दृष्टि की आलोचना की और ईसाई धर्म की अस्तित्ववादी व्याख्या की। वे ईश्वर की खोज किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में नहीं करते, बल्कि व्यक्ति की आन्तरिकता या आत्मपरकता में करते हैं। "मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता जब तक वह मुझ में जीवन्त न हो जाय।" उनका मुख्य ज़ोर इस बात को समझने में था कि लोग संकटों का सामना कैसे करें और उन्हें अपने जीवन के तरीकों का चयन करने

की स्वतन्त्रता कैसे मिले। इन्होंने हीगल के विचारों का विरोध किया और कहा कि संसार में केवल व्यक्ति ही सत्य है, कोई भी विचार या सिद्धान्त व्यक्ति से ऊपर नहीं है। मनुष्य की स्वतन्त्रता से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

किर्केगार्द के अनुसार मनुष्य का मन परस्पर विरोधी विचारों से भरा हुआ होता है। विचारों के विरोधी स्वरूप के कारण उसके मन में सदैव दुविधा और द्वन्द्व बना रहता है। यह द्वन्द्व उसके दुःख का कारण बनता है। दुःख और सन्ताप मनुष्य के जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं। वह इन्हें सहन करता है और अपने बारे में कुछ निर्णय लेता है। किर्केगार्द के अनुसार दुःख और वेदनाएँ हमें अपने अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं, उन्हीं से हमें मृत्यु के बारे में पता चलता है। सत्य की वस्तुगतता को नकारते हुए वह कहता है कि केवल व्यक्ति सत्य है और हमें अपने अस्तित्व का बोध स्वयं से होता है, अतः सत्य की वस्तुगत सत्ता नहीं है, वह आत्मगत होता है। आत्मगतता का विचार मानव-अस्तित्व की असीमित व्यापकता का द्योतक है। इसे वस्तुगतता के ठीक विलोम के रूप में नहीं समझा जा सकता, बल्कि यह इससे परे है। ज्ञान सदैव सीमित होता है इसलिए यह पूरी तरह से नहीं बता सकता कि मनुष्य क्या है और कौन है। अतः मनुष्य होने का पूर्ण ज्ञान भोगे हुए अनुभव के रूप में अपने भीतर से ही हो सकता है, न कि अन्य किसी भी बाहरी सिद्धान्त या वस्तुनिष्ठ परिभाषा से।

मार्टिन हेडेगर (1889–1976) के अनुसार दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य मूल सत् अर्थात् होने का अन्वेषण करना है। इस मूल या तात्त्विक सत् की अनुभूति स्वयं मनुष्य में और उसके द्वारा ही हो सकती है। यह अस्तित्ववान मनुष्य ही तात्त्विक सत् अर्थात् होने का आधार है। मानव-अस्तित्व के दो रूप हैं। एक रूप में वह अन्य तत्त्वों जैसे एक पेड़, एक पर्वत आदि की तरह अस्तित्वमान है। लेकिन मानव-अस्तित्व इससे अधिक है। वह अस्तित्व की चेतना के साथ अस्तित्वमान है। यही मानव-अस्तित्व की विशिष्टता है। हेडेगर कहता है कि 'मैं' एक सत्ता हूँ जिसका सार केवल होना है, होने के अलावा कुछ नहीं।

ज्याँ पाल सार्त्र (1905-1980) के अनुसार ईश्वरविहीन संसार में मनुष्य उद्देश्य निश्चित करके मानवीयता अर्जित करता है। व्यक्ति की सत्ता का गठन प्रकृति या संस्कृति द्वारा नहीं होता है, बल्कि व्यक्ति के होने का अर्थ ही उसकी सत्ता का गठन है। 1960 में सार्त्र ने अपनी नयी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ डायलेक्टिकल रीज़न' के प्रथम खण्ड के प्रकाशन के बाद मार्क्सवाद के साथ अस्तित्ववाद के समन्वय का प्रयास किया। यहाँ आकर सार्त्र के विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन होता है। वह मानता है कि लेखक को सदैव स्वतन्त्रता का पक्ष लेना चाहिए। 'साहित्य क्या है?' (1948) में सार्त्र 'प्रतिबद्ध साहित्य' की अवधारणा प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार साहित्य-सृजन में लेखक सदैव या तो नस्लवाद और पूँजीवादी शोषण जैसी अस्वतन्त्र स्थितियों से मनुष्य की मुक्ति की राह खोजता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह स्वयं में अन्तर्विरोध उत्पन्न करता है क्योंकि लिखने के विचार में पाठक की स्वतन्त्रता का विचार निहित है। इस विचार में सार्त्र का राजनैतिक स्वतन्त्रता का मूल्य लक्षित होता है। प्रतिबद्धता के आग्रहों ने सार्त्र के इस विचार का निर्माण किया कि अस्तित्ववाद 'मार्क्सवाद' के रूप में उपलब्ध हमारे समय के मुख्य दार्शनिक चिन्तन के भीतर एक 'विचारधारात्मक' क्षण था।

3.3.08. अस्तित्ववाद की मुख्य विशेषताएँ

अस्तित्ववाद में कुछ ऐसे मुख्य विषय और अवधारणाएँ हैं जो सभी चिन्तकों के लिए किसी न किसी रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।

3.3.08.1. सार से पहले अस्तित्व

'सार' वह तत्त्व है जो किसी भी निर्माण या सृजन से पूर्व निर्माणकर्ता के मन में होता है। यदि सार-तत्त्व को अस्तित्व से पहले होना माना जाता है तो इसका अर्थ यह निकलता है कि व्यक्ति पहले अस्तित्व में आता है, उसके बाद वह स्वयं अपने सार अर्थात् अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। सार्त्र का कथन – "सार से पहले अस्तित्व" – अस्तित्ववाद के विशिष्ट अर्थ को समझने में सहायक है। मनुष्य के होने की कोई व्याख्या या अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि उसका अर्थ होने में और होने के द्वारा ही तय होता है। मनुष्य का आत्मगत ज्ञान ही मूल्य निर्धारण का एकमात्र तरीका और पैमाना है।

3.3.08.2. तथ्यता

हेडेगर के अनुसार मानव-अस्तित्व का एक प्रमुख लक्षण है कि अस्तित्व की अनुभूति में उसकी तथ्यता की अनुभूति है अर्थात् उसका अस्तित्व एक तथ्य है। यह तथ्यता वस्तुनिष्ठ, प्राकृतिक अथवा भौतिक तथ्य के समान नहीं है। इन अनुभूति का अर्थ है कि 'मैं हूँ और मुझे रहना है।' 'मैं कहाँ से आया', 'मैं कैसे आया' या 'मेरा क्या स्वरूप है' – ये बातें छिपी हुई हैं लेकिन यह स्पष्ट है कि 'मैं हूँ।' यह तथ्यता हमारे अस्तित्व में है इसलिए उसे अपने से अलग शुद्ध विषय नहीं बनाया जा सकता। मानव-अस्तित्व की तथ्यता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभूति है कि वह 'है' और उसे दुनिया में रहना है।

3.3.08.3. लोकोत्तरता (परात्मकता)

कार्ल यास्पर्स (1883–1969) के अनुसार स्वतन्त्र अस्तित्व की न तो कोई परिभाषा दी जा सकती है और न ही उसके बारे में निश्चयपूर्वक कुछ बताया जा सकता है। मनुष्य का अस्तित्व जगत् में है और अपने सचेतन चिन्तन में वह 'आत्म' एवं 'जगत्' के द्वैत में उलझकर भी इससे ऊपर उठने का सतत प्रयास करता है। यह ऊपर उठना, यह अनुभवातीत अवस्था या परात्मकता ही जीवन की परम् वास्तविकता है। आत्म और जगत् के सम्पर्क की चेतना में उससे ऊपर उठने की चेतना भी है। ऊपर उठने की इस चेतना के अनुरूप स्वतन्त्र-अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न होता है। यास्पर्स के अनुसार ऊपर उठाने की अनुभूति अर्थात् परात्मकता ही स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास का आधार है। अन्ततः यह स्वतन्त्र अस्तित्व ईश्वरीय अस्तित्व है जिसे मानने का आधार आस्था है, और इस आस्था को ऊपर उठने की अनुभूति से बल मिलता है। यह लोकोत्तरता जीवन का ऐसा आधार बन सकती है आधुनिक मानव अपनी मानवीयता, अपनी विशिष्टता को सार्थक ढंग से प्रतिष्ठित कर सकता है।

3.3.08.4. प्रामाणिकता

प्रामाणिकता आत्म-निर्माण की अवस्था को परिलक्षित करती है। सार्त्र के अस्तित्ववाद में ईश्वर का अवलम्ब नहीं है। वह मनुष्य के अस्तित्व को एकाकीपन की चेतना कहता है तथा उसके अनुसार इस चेतना को ही अपनी योजनाओं के निर्माण की स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता के साथ दायित्व-बोध भी चेतना की विशेषता है। इसी से मनुष्य के अन्तर में कुछ स्ववृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो उसके अस्तित्व से एकाकार होती हैं। मनुष्य की मानवीयता उसके दायित्व-बोध में है। अपनी गरिमा बनाए रखने पर ही उसके जीवन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रामाणिकता का आशय अपने दायित्वों को ध्यान में रखते हुए अपने निर्णयों को रूपाकार प्रदान करना तथा पुनः उसके परिणामों के अनुसार जीवन के निर्णय लेना है।

3.3.08.5. स्वतन्त्रता, मूल्य और दायित्व-बोध

अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य का आत्मगत ज्ञान ही मूल्य निर्धारण का एकमात्र तरीका और पैमाना है। मनुष्य जब अपना निर्णय लेता है, योजना बनाता है, तब उसमें मूल्य निहित होता है। उसके निर्णय आत्मगत होते हैं, साथ ही मूल्यगत होते हैं। मनुष्य अपनी सत्ता, व्यक्तित्व और मूल्य-व्यवस्था का स्वयं चयन करता है और इन सबके लिए वही उत्तरदायी है। अतः वह वास्तव में स्वतन्त्र है। सार्त्र के शब्दों में "मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है।" स्वतन्त्रता एक सतत् प्रवाह है जो मनुष्य के प्रत्येक निर्णय और कार्य में नये-नये रूप में अभिव्यक्त होता है। स्वतन्त्रता के अभाव में मानव-अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। स्वतन्त्रता में दायित्व-बोध अन्तर्निहित है। व्यक्ति आत्म-निर्णय से अस्तित्व में होता है। यह बहुत बड़ा दायित्व है। दायित्व की भावना व्यक्ति में जितनी 'स्वयं के प्रति' होती है, उतनी 'अन्य के प्रति' भी होती है। चिन्ता, सन्ताप, निराशा आदि मानसिक दशाओं का सम्बन्ध दायित्व-बोध है। गेब्रियल मार्सल (1889-1973) के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति में निहित अव्यक्त शक्तियों का व्यक्त हो जाना है। स्वतन्त्रता व्यक्ति में निहित है लेकिन प्राथमिक स्थिति में वह अव्यक्त रहती है। उसका अनुभव तब होता है जब वह व्यक्त हो जाती है। स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति में निहित अपने से परे जाने की शक्ति है। यह व्यक्ति के खुल जाने अर्थात् अभिव्यक्त होने की अवस्था है। इसी विशिष्टता के कारण मनुष्य अन्य जीवों से अलग और श्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता नयी दिशाओं की ओर बढ़ने की सतत् प्रेरणा है। स्वतन्त्रता के इस स्वरूप का अवबोध हमें अस्तित्व की वास्तविक अनुभूति में ही होता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति ईश्वर को भी आत्मसात् कर सकता है।

3.3.08.6. शून्यता या अभाव

सार्त्र के अनुसार मानव-चेतना का लक्ष्य आत्म को स्व-अस्तित्व की तरह अनुभूत करना है। यह लक्ष्य असम्भव है क्योंकि 'आत्म-अस्तित्व' की चेतना 'जो नहीं है' उसकी चेतना है अर्थात् सम्भावनाओं की चेतना है, जो अभी वास्तविक या प्रकट नहीं हुई हैं। इन सम्भावनाओं को व्यक्त करने, स्वीकार या अस्वीकार करने का निर्णय भी व्यक्ति में निहित है। यहीं पर मनुष्य की मौलिक स्वतन्त्रता में निखार आ जाता है। वस्तुतः मनुष्य जो

नहीं हो सकता वही होने की आकांक्षा रखता है। यही उसका स्वरूप है। इसलिए यह 'नहीं होना' अर्थात् 'शून्यता' या 'अभाव' मानव-अस्तित्व का स्वरूप है।

3.3.08.7. प्रतिवाद

अस्तित्ववाद अतिबौद्धिकता के विरुद्ध एक प्रतिवाद है। उसके अनुसार हीगल आदि की चिन्तन-प्रणाली मानवीय समस्याओं को समझने की दृष्टि से अनुपयुक्त है। उसके अनुसार तार्किकता और बौद्धिकता द्वारा मानवीय सत्यों को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इन सत्यों को अनुभूत करना होता है। यदि अतिवैज्ञानिकता अमानवीयकरण को बढ़ावा देने लगे तो अस्तित्ववाद इसके विरुद्ध प्रतिवाद करता है। अस्तित्ववाद व्यक्ति की उपेक्षा के विरुद्ध भी प्रतिवाद है।

3.3.08.8. चिन्ता, वेदना और निराशा

मनुष्य की यह अनुभूति कि उसका जीवन उसी के स्वतन्त्र निर्णय पर निर्भर करता है, उसमें चिन्ता उत्पन्न करती है। स्वतन्त्रता में अन्तर्निहित दायित्व-बोध चिन्ता का कारण है। स्वयं और अन्य के प्रति सतत् दायित्व और यह अनुभूति कि वही एकमात्र कर्त्ता है, चिन्ता पैदा करती है। यह चिन्ता किस विषय में है, यह पता नहीं है और यह अनभिज्ञता मनुष्य में वेदना और सन्ताप को जन्म देती है। सार्त्र के अनुसार मानवीय अस्तित्व की विडम्बना यह है कि उसके अपने स्वतन्त्र निर्णय जो योजनाएँ बनाते हैं वे केवल सम्भावनाएँ होती हैं, निश्चित नहीं, जबकि उनके प्रति पूर्ण उत्तरदायित्व उसका होता है। इन योजनाओं के सम्बन्ध में उसके निर्णय केवल 'सम्भावनापूर्ण' ही होते हैं, निश्चयात्मक नहीं। अनिश्चितता की यह अनुभूति उसमें निराशा उत्पन्न करती है। हम निर्णय ले रहे हैं, उन्हें कार्य-रूप दे रहे हैं लेकिन यह नहीं जानते कि हम इसमें सफल होंगे या असफल। यही असमंजस और अनिश्चितता निराशाजनक है। किर्केगार्द के अनुसार चिन्ता की उत्पत्ति शून्यता या अभावता के अनुभव से होती है। इस स्थिति में मनुष्य को लगता है कि उसे उसके कार्यों से विमुख कर दिया गया है। इस स्थिति में हम कोई भय महसूस नहीं करते बल्कि उस शून्यता से ही आतंकित होते हैं जिसमें हमें फेंक दिया गया है।

3.3.08.9. असंगतता

असंगतता का विचार अस्तित्ववाद का एक प्रमुख विचार है। मानव अस्तित्व एक असंगत और अतार्किक अस्तित्व है। प्रकृति में समग्र रूप से कोई योजना और कारण नहीं है। मनुष्य योजना और कारण के 'अभाव' के प्रति सचेत होता है। कामू के शब्दों में "मानव-अस्तित्व का मूल दृश्य प्रकृति की इस मूक अतार्किकता से संघर्ष है।" अस्तित्व के आत्मगत होने यानी 'स्वयं होना' के तर्क में भी असंगति है। मनुष्य अपने नियम स्वयं बनाता है, अपने निर्णय स्वतन्त्रता से लेता है लेकिन वह नहीं जानता कि उसके निर्णयों और योजनाओं का क्या होगा। असंगति इस विचार में भी अन्तर्निहित है कि उसका स्वतन्त्र कार्य अन्ततः दुनिया का कार्य हो जाता है, उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है।

अस्तित्ववाद मनुष्य के अस्तित्व और अवस्था, जगत् में उसके स्थान और प्रकार्य तथा ईश्वर के साथ उसके सम्बन्ध या असम्बन्ध की दार्शनिक दृष्टि है। किर्केगार्द ने इस विश्वास को प्रस्तुत किया और उसकी व्याख्या की कि ईश्वर में और ईश्वर द्वारा मनुष्य तनाव और असन्तोष से मुक्ति प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार मानसिक शान्ति एवं आध्यात्मिक परम सुख का अनुभव कर सकता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य अपने होने के ढंग का चयन करता है लेकिन उसका होना उससे परे है। मनुष्य ईश्वरविहीन संसार में उद्देश्य निश्चित करके मानवीयता अर्जित करता है। वह जीवन में स्वतन्त्र चयन द्वारा अपने अस्तित्व को प्रामाणिक बनाता है। सार्त्र का विचार है कि मनुष्य सामाजिक प्रक्रियाओं में सक्रियता से भाग लेकर अपने होने को सार्थक बना सकता है, आत्म-बोध प्राप्त कर सकता है।

3.3.09. अस्तित्ववाद का साहित्य पर प्रभाव

अस्तित्ववादी चिन्तन के स्वरूप और मान्यताओं पर विचार के बाद साहित्य पर इसके प्रभाव पर भी विचार करना आवश्यक है। विश्वभर में अनेक लेखक इस विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। इनमें से अधिकांश लेखकों ने इस विचारधारा में अपने योगदान से इसका विकास किया है। फ़्योदोर दोस्तोव्येस्की, टी. एस. इलियट, जेम्स जॉइस, अलबेर कामू, फ्रांज काफ़्का आदि इस चिन्तन से प्रभावित लेखक माने जाते हैं। इसके साहित्यिक प्रभाव के सन्दर्भ में सार्त्र के उपन्यासों, विशेष रूप से 'नौज़िअ'(1938) और नाटकों तथा उनके दार्शनिक लेखन में अभिव्यक्त विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सार्त्र निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रतिनिधि चिन्तक हैं। इनके साहित्य-चिन्तन का मुख्य आधार वैयक्तिक ज़िम्मेदारी और प्रामाणिकता में अन्तर्भुक्त मानवीय स्वतन्त्रता है।

सार्त्र ने साहित्य और कलाओं की सामाजिक सम्बद्धता को प्रमुखता दी है। सार्त्र का विचार है कि किसी भी रचना में कोई पूर्व निर्धारित अर्थ नहीं होता है। उसका अर्थ पाठक द्वारा पढ़े जाने पर पूर्णता प्राप्त करता है। रचना की अनिवार्य शर्त लेखक की स्वतन्त्रता है, पाठक को उस रचना से अपना अर्थ ग्रहण करने की स्वतन्त्रता है। अतः लेखक और पाठक दोनों की स्वतन्त्रता रचना को पूर्णता प्रदान करती है। लेखक अपनी रचना और रचना-प्रक्रिया का चयन करता है। अतः लिखने का अर्थ स्वतन्त्रता का चयन करना है। मनुष्य होने के नाते हमें कोई सार या स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है, लेकिन हमें अपने अस्तित्व के इस अर्थहीन और असंगत जगत् में अपने मूल्य और अर्थ भरने हैं। व्यक्ति अपने स्वतन्त्र निर्णयों के आधार पर सामाजिक और राजनैतिक रूप से प्रतिबद्ध होकर अपने अस्तित्व की असंगतता से छुटकारा पा सकता है।

अस्तित्ववाद से प्रभावित साहित्य में मुख्य रूप से मूल्यों के विघटन की समस्या तथा व्यक्ति की वेदना, निराशा और चिन्ता के भावों को अभिव्यक्ति मिली है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य, आत्म-निर्वासन और एकाकीपन को मुख्य विषय बनाकर अनेक रचनाएँ लिखी गईं। एक आन्दोलन के रूप में 'विसंगत नाटक' (द थियेटर ऑफ एब्सर्ड) अस्तित्ववाद से प्रेरित घटना थी। एब्सर्ड का अर्थ है – बेतुका या अर्थहीन। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपजी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों में व्यक्ति के अस्तित्व का अर्थ और उद्देश्य खो गए लगते थे। व्यक्ति इस दुनिया में अपने अस्तित्व का कोई अर्थ या प्रयोजन महसूस नहीं कर रहा था। ऐसे परिवेश में

नाटकों की इस शैली में 'एब्सर्ड' अर्थात् असंगत भाव को अर्थहीन व हास्यास्पद दुनिया और अदृश्य बाह्य शक्तियों द्वारा नियन्त्रित कठपुतलियों जैसे मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। एब्सर्ड के लेखक और प्रदर्शक मानते थे कि मनुष्य का जीवन और अन्य सभी क्रियाएँ बेतुकी और सारहीन हैं। इतना ही नहीं, मृत्यु और पारलौकिक जीवन भी उतना ही निस्सार है, इसलिए व्यक्ति जीवित रहे या नहीं उसके कार्य निरर्थक ही हैं। एब्सर्ड नाटकों में इसीलिए निराशा के आँसू नहीं दिखाए जाते, मुक्ति की हँसी दिखाई जाती है।

3.3.10. पाठ-सारांश

मनोविश्लेषणवाद सिग्मंड फ्रायड के आधारभूत सिद्धान्तों और परवर्ती मनोवैज्ञानिकों के महत्त्वपूर्ण योगदान से निर्मित एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की मानसिक संरचना और प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य का जीवन उसके अवचेतन मन से जितना संचालित होता है उतना चेतन मन से नहीं। मुख्य रूप से व्यक्ति की दमित कामनाएँ और यौन इच्छाएँ उसके सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार का निर्धारण करती हैं। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार मानव-जीवन के असली द्वन्द्व और संघर्ष उसके मानस-जगत् में घटित होते हैं। फ्रायड का विश्वास था कि हमारा अवचेतन हमारे बाल्यकाल की घटनाओं से प्रभावित और प्रेरित होता है।

एडलर, युंग, लकाँ आदि ने मनोविश्लेषणवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आलोचकों का विश्वास है कि मनोविश्लेषण की अवधारणाओं के आधार पर हम रचना के सम्बन्ध में अपनी समझ बढ़ा सकते हैं। लेखक और रचना के पात्रों के व्यवहार के आधार पर उनकी मानसिक संरचना को पहचाना जा सकता है।

अस्तित्ववाद भाववाद और बुद्धिवाद के प्रतिवाद में उभरा एक दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें मनुष्य चिन्तन का मुख्य केन्द्र है। मनुष्य का अस्तित्व उसके सार या भाव से पहले है। मनुष्य अपने आत्म को स्वयं निर्धारित करता है। वह अपने निर्णय के लिए स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता में दायित्व का बोध समाहित है क्योंकि उसने चयन किया है कि वह अपने लिए निर्णय ले। मनुष्य जीवन की प्रामाणिकता चयन की स्वतन्त्रता और दायित्व-बोध में निहित है। दायित्व-बोध से व्यक्ति में चिन्ता और निराशा उत्पन्न होती है क्योंकि उसके अपने निर्णयों और योजनाओं के सम्बन्ध में सदैव अनिश्चितता बनी रहती है।

अस्तित्ववाद का दार्शनिक चिन्तन और कलात्मक सृजन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सार्त्र स्वयं एक बड़े लेखक थे। सिमोन द बाऊवार, अलबेर कामू और फ्रांज काफ़्का प्रसिद्ध अस्तित्ववादी साहित्यकार थे।

3.3.11. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

3.3.11.1. हिन्दी पुस्तकें

1. तिवारी, डॉ० रामचन्द्र. (2016). भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिन्दी-आलोचना, वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978-81-7124-764-6.

2. मसीह, डॉ० या. (1999). मनोविश्लेषण और फ्रायडवाद की रूपरेखा. दिल्ली. मोतीलाल बनारसीदास.
3. लाल, बसंत कुमार (2005). समकालीन पाश्चात्य दर्शन की रूपरेखा. दिल्ली. मोतीलाल बनरसीदास.
4. शर्मा, रामविलास. (1997). नयी कविता और अस्तित्ववाद. नयी दिल्ली. राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.

3.3.11.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Abrams, M.H. and Harpham, Geoffrey Galt, (2015). A Glossary of Literary Terms,11e. Delhi. Cengage Learning. ISBN-13:978-81-315-2635-4
2. Eagleton, Terry. (2003). Literary Theory: An Introduction, 2e. Minnesota. Blackwell Publishers Ltd. ISBN – 0-9166-1251-X
3. Flynn, Thomas. (2006).Existentialism: A Very Short Introduction. Oxford, UK. Oxford University Press. ISBN-13: 978-0-19-280428-0
4. Habib, M. A. R. (2005) . A History of Literary Criticism: From Plato to the Present. Malden, USA. Blackwell Publishing. ISBN-13: 978-0-631-23200-1

3.3.11.3. इंटरनेट स्रोत

1. http://plato.stanford.edu/archives/spr2016/entries/existentialism/
2. www.iep.utm.edu/existent/

3.3.12. अभ्यास प्रश्न

01. फ्रायड के चेतना के स्तरों की व्याख्या कीजिए।
02. मनोविश्लेषण में अहम् रक्षा युक्तियों की क्या भूमिका है ?
03. फ्रायड के व्यक्तित्व-विकास के सिद्धान्त का क्या महत्त्व है ?
04. युंग की 'सामूहिक अचेतन' की अवधारणा पर टिप्पणी कीजिए।
05. 'दर्पण-प्रतिबिम्ब' (मिरर-इमेज) सिद्धान्त क्या है ?
06. 'हीनता मनोग्रन्थि' की व्याख्या कीजिए।
07. 'सार से पहले अस्तित्व' से क्या तात्पर्य है ?
08. अस्तित्ववाद के अनुसार स्वतन्त्रता और दायित्व-बोध का क्या सम्बन्ध है ?
09. मनुष्य की चिन्ता और निराशा की व्याख्या अस्तित्ववादी किस प्रकार करते हैं ?
10. 'एब्सर्ड थियेटर' पर एक टिप्पणी लिखिए।

❖❖❖

खण्ड – 3 : सिद्धान्त और वाद

इकाई – 4 : रूपवाद

इकाई की रूपरेखा

3.4.0. उद्देश्य
3.4.1. प्रस्तावना
3.4.2. रूप और रूपवाद
  3.4.2.1. रूप का अर्थ
  3.4.2.2. रूपवाद का अर्थ
3.4.3. रूपवाद का उद्भव और विकास
  3.4.3.1. रूसी रूपवाद
  3.4.3.2. प्राग सर्कल और संरचनावाद
  3.4.3.3. बाख़्तिन सर्कल
  3.4.3.4. नई समीक्षा
  3.4.3.5. शिकागो सम्प्रदाय
3.4.4. रूपवादी पद्धति
3.4.5. रूपवाद के मुख्य तत्त्व और संकल्पनाएँ
  3.4.5.1. रूपवाद : साहित्य का विज्ञान
  3.4.5.2. काव्य-ध्वनि की स्वतन्त्रता
  3.4.5.3. रूप की नयी परिभाषा
  3.4.5.4. कथानक और साहित्यिक विकास
  3.4.5.5. कविता का रूपवादी स्वरूप
  3.4.5.6. साहित्यिकता
  3.4.5.7. विपरिचयकरण
3.4.6. पाठ-सारांश
3.4.7. उपयोगी सन्दर्भ
  3.4.7.1. हिन्दी पुस्तकें
  3.4.7.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
  3.4.7.3. इन्टरनेट स्रोत
3.4.8. अभ्यास प्रश्न

3.4.0. उद्देश्य

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन के अन्तर्गत इस खण्ड की पिछली इकाइयों में आप स्वच्छन्दतावाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद और अस्तित्ववाद के बारे में पढ़ चुके हैं। इस इकाई में आप एक और महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य साहित्यिक सिद्धान्त 'रूपवाद' के बारे में पढ़ेंगे। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रूप और रूपवाद का अर्थ जान पाएँगे।
ii. रूपवाद के उद्भव और विकास के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाएँगे।
iii. रूपवाद की मुख्य अवधारणाओं से परिचित हो सकेंगे।
iv. रूपवाद की विभिन्न शाखाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

3.4.1. प्रस्तावना

बीसवीं सदी में पाश्चात्य जगत् में अनेक चिन्तन धाराओं का उद्भव हुआ, जिनका विश्व के कला और साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूपवाद का जन्म रूस में हुआ लेकिन यह इंग्लैंड और अमेरिका सहित पूरी दुनिया में कई नवीन सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों के प्रवर्तन में सहायक रहा है। स्वयं रूपवाद कोई संगठित कला-आन्दोलन नहीं था। इसके भीतर कई उपधाराएँ सक्रिय थीं। मार्क्सवाद या अस्तित्ववाद की तरह इसका कोई विशेष दार्शनिक आधार भी नहीं था। वस्तुत: रूपवाद का उदय ही साहित्येतर सिद्धान्तों के अस्वीकार के साथ हुआ था। इसने कृति की स्वायत्तता पर बल देते हुए साहित्य के अध्ययन और मूल्यांकन में साहित्यिक तत्त्वों को ही आधार बनाया। रूपवाद साहित्यिक कृति के दो आधारभूत तत्त्वों – वस्तु और रूप में से वस्तु की पूर्ण उपेक्षा करते हुए रूप-तत्त्व को ही महत्त्व प्रदान करता है। रचना की 'साहित्यिकता' की खोज आलोचना और अनुसंधान का मुख्य कार्य घोषित किया गया। रचना के गठन की प्रविधियाँ और भाषा सम्बन्धी उपकरणों को उसके विश्लेषण की कसौटी माना गया है। रूप पर अतिशय ज़ोर तथा वस्तु की उपेक्षा अन्ततः इस अद्भुत साहित्यिक उपागम के अन्त का माध्यम बने। लेकिन इसकी जड़ें साहित्य-समीक्षा में इतनी गहरी हैं कि आज भी साहित्य-सिद्धान्तकार 'रूप' की पूर्ण उपेक्षा करके कोई नया साहित्य-सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर सकते।

3.4.2. रूप और रूपवाद

जब हम किसी साहित्यिक कृति के 'रूप' की बात करते हैं तो हमारा आशय विषय-वस्तु को छोड़कर उसकी संरचना और उन प्रविधियों और शैली आदि से होता है जिनसे उसकी रचना हुई है। रूप का एक अर्थ उसकी विधा – कविता, कहानी, नाटक या उपन्यास आदि के रूप में भी लिया जाता है।

साहित्य का विद्यार्थी यह जानता है कि वस्तु और रूप के योग से कलाकृति का निर्माण होता है। रूप और वस्तु का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है। यद्यपि ये दोनों अलग-अलग हैं लेकिन कलाकृति के लिए दोनों की सम्बद्धता और एकता ज़रूरी होती है। साहित्य के इतिहास में अनेक प्रवृत्तियाँ प्रचलित रही हैं जिनमें रूप और वस्तु के अन्योन्याश्रित स्वरूप की उपेक्षा की गई है। आइए, इस पृष्ठभूमि में रूपवाद को समझने का प्रयास करें।

3.4.2.1 रूप का अर्थ

साहित्यिक रचना के दो पक्ष होते है – अन्तर्वस्तु या वस्तु और रूप। जो विचार, भाव और सन्देश लेखक अपनी रचना में अभिव्यक्त करता है उसे रचना की अन्तर्वस्तु कहा जाता है। जिस ढंग से लेखक अपने इन विचारों, भावों और संदेशों को व्यक्त करता है वह रचना का रूप है अर्थात् उसकी भाषा-शैली, शब्द-योजना और आन्तरिक गठन रचना के रूप का निर्माण करते हैं। रूप के अन्तर्गत वे सभी युक्तियाँ और उपकरण आते हैं जिनका प्रयोग कवि या लेखक अपने प्रस्तुत विचारों और भावों को खोजने, विकसित करने तथा उन्हें सार्थक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए करता है। रूप और वस्तु अभिन्न हैं, लेकिन उनका विश्लेषण अलग-अलग किया जा सकता है।

किसी भी रचना के पाठ में हम उसके शब्दों और उनके अर्थ पर ध्यान देते हैं। हम देखते हैं कि उस रचना की संरचना का गठन किस तरह हुआ है। उसमें वाक्यों और अभिव्यक्तियों का स्वरूप क्या है। उसके विभिन्न अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा है। रचना की अन्तर्वस्तु के साथ उसके मूड और टोन की संगति कैसी है। विषय-वस्तु के विकास में तारतम्य और भाषा का प्रवाह भी हमारे विचार का विषय होता है। हम देखते हैं कि किसी साहित्यिक कृति में कुछ शब्दों का विशेष अर्थों में प्रयोग होता है। ऐसे संकेतों और मिथकों का प्रयोग होता है जिनका अन्तर्निहित अर्थ गहरा होता है। इन सब पक्षों के सामंजस्य से रचना एक आकार प्राप्त करती है, एक रूप ग्रहण करती है। इसी से उसका अपना विशिष्ट और निराला अस्तित्व प्रकट होता है। अतः 'रूप' साहित्यिक रचना का आधारभूत ढाँचा है। रूप कृति की विधा के बारे में सूचित करता है और कृति के प्रारूप और अन्तर्वस्तु के मध्य संरचनात्मक अन्तःक्रिया में प्रकट होता है, जिससे अन्ततः उस रचना का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

3.4.2.2. रूपवाद का अर्थ

सामान्य अर्थ में, कभी-कभी तिरस्कारपूर्ण अर्थ में भी, रूपवाद का अभिधान किसी भी ऐसी कलाकृति के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें विषयवस्तु की तुलना में रचना की विधियों और साज-सज्जा पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। बाहरी रूपाकार पर अत्यधिक बल दिए जाने के कारण कलाकृति के मूल तत्त्व अर्थात् विषयवस्तु की उपेक्षा कर दी जाती है या उसे एक गौण तत्त्व मान लिया जाता है। साहित्यिक इतिहास के प्रत्येक काल-खण्ड में साहित्य-समीक्षकों और चिन्तकों ने कला और साहित्य के रूपात्मक पहलुओं पर बार-बार ध्यान दिया है। बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में साहित्य और समालोचना में रूप पर विशेष बल देने की नयी चेतना का प्रस्फुटन हुआ। कृति के रूप पक्ष पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण इस प्रवृत्ति को रूपवाद कहा जाता है।

रूसी रूपवाद एक ऐसा सुविधाजनक और अस्पष्ट नाम है जो आकस्मिक तौर पर मिले हुए आलोचकों के समूह के लिए रूढ़ हो गया है। इस समीक्षा-पद्धति का संगठन ऐतिहासिक और भौगोलिक रूप से बिखरे हुए आधारों पर हुआ है। अलग-अलग समूहों के रूप में विकसित इस पद्धति के आलोचकों में अनेक मुद्दों पर सहमति होते हुए भी पर्याप्त मतभेत पाए जाते हैं। मॉस्को समूह इस विचार का प्रस्ताव करता है कि कविता अपने सौन्दर्यगत

प्रकार्य में भाषा है। पीटर्सबर्ग समूह का दावा है कि काव्यात्मक अभिप्राय हमेशा भाषाई सामग्री को प्रकट नहीं करते हैं। मॉस्को समूह तो मानता है कि कलात्मक रूपों के विकास के आधार सामाजिक होते हैं, लेकिन पीटर्सबर्ग समूह के आलोचक रूपों की पूर्ण स्वायत्तता पर ज़ोर देते हैं। रूस की साम्यवादी क्रान्ति के बाद सोवियत संस्थाओं में रूसी रूपवादियों को समाहित कर लिए जाने के बाद रूसी रूपवाद की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ा और ऐसे अनेक वैचारिक केन्द्र उभरे जिन्होंने रूपवाद पर अपना-अपना दावा पेश किया।

रूसी रूपवादी आन्दोलन से आरम्भ होकर यह चेतना यूरोपीय आधुनिकतावाद, नई समीक्षा, शैलीविज्ञान, संरचनावाद और नव-अरस्तूवाद आदि समीक्षा-पद्धतियों में विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है। साहित्य की तकनीक और विधियों पर अतिशय बल देने की प्रवृत्ति के कारण प्रारम्भ में रूपवादी आन्दोलन के विरोधी 'रूपवाद' शब्द का प्रयोग एक अनादरसूचक अर्थ में करते थे। आगे चलकर इसने एक विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में अपनी पहचान स्थापित की।

3.4.3. रूपवाद का उद्भव और विकास

यूरोपीय महाद्वीप में रूपवाद का उद्भव प्राग और मॉस्को के बौद्धिक समूहों की गतिविधियों से हुआ। इन समूहों में सक्रिय लेखकों में रोमन याकॉब्सन, बोरिस आईकेनबॉम और विक्तोर श्क्लोव्स्की का योगदान महत्त्वपूर्ण है। रूपवाद का कोई एक सम्प्रदाय नहीं था। इसके अन्तर्गत कई अलग-अलग उपागमों को एक साथ मिलाया गया है। इनमें से कई उपागमों के विचार आपस में नहीं मिलते हैं। व्यापक अर्थों में रूपवाद अमेरिका और ब्रिटेन में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से लेकर 1970 के दशक तक साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उपागम रहा है। 'नई समीक्षा' के आलोचकों – आई.ए. रिचर्ड्स, जॉन क्रो रैंसम, सी.पी. स्नो और टी.एस. एलियट आदि के लेखन में रूपवादी आग्रह स्पष्टता से प्रकट हुए हैं।

यद्यपि 'नई समीक्षा' और 'रूसी रूपवाद' के सिद्धान्तों में बहुत समानता है, फिर भी दोनों धाराओं का विकास अलग-अलग हुआ है इसलिए उन्हें एक जैसा नहीं माना जाना चाहिए। सच तो यह है कि दोनों धाराओं के आलोचकों में अपनी-अपनी धारा के भीतर ही अनेक मतभेद दिखाई देते हैं।

ओपोयाज़ का पीटर्सबर्ग के 'द स्टेट इंस्टीट्यूट फॉर द हिस्ट्री ऑफ आर्ट्स' में विलय हो गया। मॉस्को सर्कल को मॉस्को में 'द स्टेट अकेडमी फॉर द स्टडी ऑफ द आर्ट्स' का भाग बना दिया गया। याकॉब्सन और बोगातीरेव पहले ही इसे छोड़कर प्राग में अपना नया समूह बना चुके थे। रूसी रूपवाद की आन्तरिक विविधता उसके भौगोलिक और राजनैतिक उतार-चढ़ावों से ही नहीं बल्कि इसके प्रयोक्ताओं की सैद्धान्तिक बहुलता से भी प्रकट होती है। अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख 'रूपात्मक विधि का प्रश्न' में विक्तोर ज़िरमुंस्की ने लिखा है कि सामान्य और अस्पष्ट नामधारी इस रूपवादी विधि के अन्तर्गत आमतौर पर बहुत अलग-अलग ढंग से काव्यात्मक भाषा और शैली का व्यापक और नये-नये ढंग से प्रयोग करने वाले इतने लोग हैं कि इसे बहुत उपयुक्त तौर पर नयी विधि के स्थान पर नये समय की बौद्धिकता के नये बौद्धिक कार्य कहा जाना चाहिए। इन सब से अलग बाख़्तिन समूह

को उसके एकदम अलग वैचारिक दृष्टिकोण के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। बाख़्तिन को अनेक आलोचक नव-रूपवादी विचारक मानते हैं। कुछ के अनुसार यह समूह वास्तविक रूपवाद का एक उपान्तिक भाग है। इसी तरह रूसी रूपवाद और प्राग स्कूल के रूपवाद में सैद्धान्तिक भिन्नता देखी जा सकती है।

रूसी रूपवाद का इतिहास इसके घटक समूहों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्तों से अलग वाद-विवाद की उस परम्परा में उपलब्ध है जिसमें परस्पर विरोधी विचारों के बीच एक कलात्मक समझ का विकास हुआ और एक साहित्यिक विज्ञान की आधारशिला रखी गई। यह ख़ज़ाना किसी एक आलोचक या समूह में नहीं मिलता। वस्तुत: रूसी रूपवाद का मर्म इसके विभिन्न चिन्तकों के परस्पर असहमत होने के समझौते में है।

1970 के दशक के आरम्भ में कई विद्वानों के लेखन में रूपवाद की आलोचना शुरू हो गई थी। कई नयी साहित्यिक दृष्टियाँ, जो साहित्यिक रचना के सामाजिक और राजनैतिक महत्त्व को प्राथमिकता दे रही थीं, बौद्धिक क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व जमाने लग गई थीं। आलोचक इस बात से असहमत थे कि साहित्यिक कृति को उसके सामाजिक उद्‌भव और परिवेश से अलग किया जा सकता है। इसके बाद से लम्बे समय तक 'रूपवाद' को नकारात्मक दृष्टि से देखा गया, जो साहित्य को किसी भी सामाजिक, राजनैतिक सन्दर्भ से असंपृक्त मानता है। 'रूपवाद' बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में एक बार फिर चर्चा में आया जब 'उत्तर-संरचनावाद' और 'उत्तर-आधुनिकतावाद' के रूप में उभरे नये रुझानों ने किसी न किसी रूप में रूपवादी विधियों का प्रयोग करते हुए उन्हें पुनः सक्रिय किया।

3.4.3.1. रूसी रूपवाद

रूपवाद के उद्‌भव से पहले बीसवीं सदी के आरम्भ में रूस में प्राचीन और अवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र तथा मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ आलोचना की मुख्य धारा में थीं। प्रतीकवादी आलोचना अपने परवान पर थी। इस धारा में सौन्दर्यशास्त्र के रूढ़ प्रतिमानों को पुनर्स्थापित करने और 'कला कला के लिए' जैसी अवधारणाओं को प्रचारित किया जा रहा था। साहित्य और आलोचना में प्रभाववादी और नितान्त व्यक्तिनिष्ठ रुझान पूरी तरह घर कर चुके थे। ऐसे संक्रान्तिकाल में रूस के आलोचना जगत् में रूपवाद का उदय हुआ। रूपवादियों ने प्रतीकवाद का विरोध किया और यह संकल्प लिया कि वे काव्यशास्त्र को व्यक्तिवादी और सौन्दर्यवादी सिद्धान्तों के चंगुल से मुक्त करवाकर तथ्यों के वैज्ञानिक अनुसंधान की दिशा मेंले जाएँगे।

रूसी रूपवाद ऐसे लेखकों का समूह था जो 1917 की रूसी क्रान्ति के दौरान भविष्यवाद और प्रतीकवाद के साथ-साथ रूस में सक्रिय हुए। भविष्यवादी और रूपवादी कला और विचारधारा के सम्बन्धों को लेकर एक अत्यन्त विचारोत्तेजक बहस में एक-दूसरे के आमने-सामने आए। इसी बहस के दौरान दोनों ने एक साझा मंच बनाया और अपने विचारों को 'कला का वाम मंच' (एल.इ.एफ.) नाम की पत्रिका में अभिव्यक्त करने लगे। भाषावैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित रूपवादी विचारों में कला के रूपों और शैलियों पर ज़ोर देने की प्रवृत्ति क्रान्ति-पूर्व वर्षों से चली आ रही थी। लेकिन अब उन्हें परम्परागत कला का अपना विरोध एक राजनैतिक रुख़

दिखाई देने लगा और उनमें से अधिकांश ने अपने को क्रान्ति की भावनाओं से जोड़ लिया। इसके बावजूद भी इन सभी को मुख्य रूसी विचारकों जैसे ट्रोट्स्की, बुख़ारिन, लुनाचारस्की और वोरोंस्की के वैचारिक हमलों का सामना करना पड़ा। इन्होंने रूपवादियों द्वारा परम्परा के पूर्ण तिरस्कार की तीव्र आलोचना की क्योंकि इसे वे कला के सामाजिक और ऐतिहासिक पहलुओं का तिरस्कार मानते थे। आगे चलकर बोलोसिनोव और बाख़्तिन के हस्तक्षेप से यह बहस समाप्त हुई और तय हुआ कि भाषा अपने आप में सर्वोच्च वैचारिक परिघटना है और यही वैचारिक संघर्ष का मंच है। रूपवादियों केनये समूह 'बाख़्तिन सर्कल' का गठन इसी प्रक्रिया का परिणाम था।

रूसी रूपवाद के दो सम्प्रदाय थे। पहला, रोमन याकॉब्सन के नेतृत्व में 1915 में मॉस्को में स्थापित 'मॉस्को लिंग्विस्टिक सर्कल' था, जिसके अन्य लेखकों में ओसिप ब्रिक और बोरिस तोमशेव्स्की के नाम प्रमुख हैं। दूसरा, सैंट पीटर्सबर्ग (पैट्रोग्राद) स्थित 'द सोसाइटी फॉर द स्टडी ऑफ पोयटिक लैंग्वेज़' (ओपोयाज़) था, जिसकी स्थापना 1916 में हुई थी और विक्तोर श्क्लोव्स्की, बोरिस आईकेनबॉम और यूरी तिन्यानोव इस समूह के अग्रणी चिन्तक थे। रूसी रूपवाद के अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों में लियो येकुबिन्स्की और लोकवार्ता के विशेषज्ञ व्लादिमीर प्रॉप के नाम उल्लेखनीय हैं। रूपवाद के आरम्भिक दौर में श्क्लोव्स्की के विचारों का पूरे परिदृश्य पर बहुत प्रभाव था।

3.4.3.2. प्राग सर्कल और संरचनावाद

रोमन याकॉब्सन द्वारा स्थापित 'मॉस्को लिंग्विस्टिक सर्कल' भाषाविज्ञान के क्षेत्र में बाद के विकास से सीधे जुड़ा हुआ है। 1920 में याकॉब्सन मॉस्को छोड़ कर प्राग आ गए थे और वहाँ 1926 में उन्होंने निकोलाई त्रुबेत्ज़्कॉय, रेने वेलेक और अन्य विद्वानों के साथ मिलकर 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' की स्थापना की। उन्होंने साहित्यिक सिद्धान्त के साथ भाषाविज्ञान को जोड़ते हुए अपने विचार प्रस्तुत किए। वे फर्दीनांद द सॉस्सुर से बहुत प्रभावित थे। प्राग सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने भाषा में प्रकट होने वाली ध्वनियों को सूचीबद्ध करने के स्थान पर यह पता लगाने का प्रयास किया कि वे परस्पर किस तरह से सम्बन्धित हैं। रोमन याकॉब्सन और रेने वेलेक द्वितीय विश्व युद्ध पहले अमेरिका आ गए जहाँ उन्होंने 'नई समीक्षा' से जुड़ कर अपने रूपवादी विचारों का विकास किया। 'नई समीक्षा' की अनेक अवधारणाएँ रूपवाद से ली गई हैं। प्राग स्कूल ने रूसी रूपवाद और सॉस्स्युर के भाषाविज्ञान को मिलाने की कोशिश की। याकॉब्सन का अधिकांश लेखन संरचनावाद के सिद्धान्तों को मान्यता देता है।

3.4.3.3. बाख़्तिन सर्कल

बाख़्तिन सर्कल बीसवीं सदी में रूसी विचारकों का एक समूह था जिसने मिख़ाइल मिख़ाइलोविक बाख़्तिन (1895-1975) के विचारों के आधार पर सामाजिक और कलात्मक समस्याओं के अध्ययन में अपना योगदान दिया। इस समूह ने भाषा के दर्शनशास्त्र, रूसी रूपवाद की समस्याओं और उपन्यास के इतिहास और सैद्धान्तिकी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस सर्कल में बाख़्तिन के अतिरिक्त मारिया वेनियमिनोव्ना इयुदिना,

मत्वेइ कैगन, पावेल मेद्वेदेव, वेलेंतिन वोलोशिनोव आदि विचारक शामिल थे। 1918 में स्थापित इस सर्कल की गतिविधियों का मुख्यालय 1924 से लेनिनग्राद बना।

बाख़्तिन सर्कल में साहित्य को सर्व-समावेशी विचारधारा की एक शाख़ा के रूप में लिया गया है। बाख़्तिन के अनुसार साहित्य हमेशा मानवीय चिन्तन की अन्य शाखाओं से अन्तर्क्रिया करता है, इसलिए साहित्य की स्वायत्तता की एक सीमा होती है। उनके विचार में प्रत्येक वैचारिक घटना एक संकेत है, एक ऐसी वास्तविकता जो एक दूसरी वास्तविकता के लिए उपस्थित है। समस्त वैचारिक जगत् परस्पर सम्बद्ध सूत्रों का ताना-बाना है। ये सूत्र साहित्यिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि कई प्रकार के होते हैं तथा प्रत्येक सूत्र की अपनी वास्तविकता होती है जिसे वे अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रकट करते हैं। बाख़्तिन सर्कल द्वारा साहित्य को संकेतवादी दृष्टि से व्याख्यायित करने की प्रतिध्वनि येकोब्सन में सुनी जा सकती है जो शाब्दिक कला को एक विशेष प्रकार के संकेत – अभिव्यंजना के रूप में लेता है। बाख़्तिन के यहाँ साहित्य अन्य वैचारिक अनुशासनों से अलग केवल संकेतार्थ की भिन्नता के कारण ही नहीं बल्कि संकेतन की विधि की भिन्नता के कारण भी है।

बाख़्तिनवादियों के इन संकेत-वैज्ञानिक आग्रहों के कारण उन्हें भाषा और साहित्य सम्बन्धी अपने रूपवादी सिद्धान्तों को संशोधित करना पड़ा। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से एक शाब्दिक संकेत जिस अन्य संकेत को प्रतिबिम्बित या परावर्तित करता है वह ठीक उसी तरह होता है जैसे एक कथन दूसरे कथन का प्रत्युत्तर हो। इससे एक संवाद निर्मित होता है। 'संवाद' की धारणा बाख़्तिनवादी साहित्यिक चिन्तन की केन्द्रीय अवधारणा है। भाषा की यह अर्थगर्भित अवधारणा रूपवाद की मौलिक मान्यताओं के लिए एक चुनौती है, क्योंकि रूपवादी भाषाविज्ञान मुख्य रूप से भाषा के उन पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जो उसे व्यवस्थित रखे, उसे एक रूपाकार प्रदान करे। एक संवाद के रूप में भाषा व्यवस्था न होकर एक प्रक्रिया हो जाती है – अलग-अलग दृष्टिकोणों और विचारधाराओं के साथ निरन्तर संघर्ष की प्रक्रिया। बाख़्तिनवादियों की जिज्ञासा का कारण विमर्श और वैचारिक संवाद की समरूपता नहीं बल्कि उसकी विषमता है।

3.4.3.4. नई समीक्षा

साहित्य के इतिहास में बीसवीं सदी का आरम्भ ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, रोमैंटिक और प्रभाववादी आलोचना के साथ हुआ था। ऐतिहासिक आलोचना-दृष्टि में प्रयुक्त सौन्दर्यशास्त्रीय आग्रहों ने रूपवाद और नई समीक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त किया। 'नई समीक्षा' शब्द का प्रयोग सबसे पहले जोल एलियास स्पिनगार्न ने 1910 के अपने एक व्याख्यान में किया था। स्पिनगार्न क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से बहुत प्रभावित था। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में स्पिनगार्न का सम्बन्ध 'नई समीक्षा' से नहीं था, लेकिन उसने एक ऐसे रचनात्मक और कल्पनाशील आलोचना-सिद्धान्त का प्रस्ताव किया जो साहित्य की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक मान्यताओं के स्थान पर सौन्दर्यात्मक विशेषताओं को प्राथमिकता दे। आगे चलकर जॉन क्रो रैंसम की पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' (1941) के प्रकाशन के साथ एक विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में 'नई समीक्षा' नाम प्रचलित हुआ। इस

प्रवृत्ति के लिए 'सौन्दर्यात्मक रूपवाद' तथा 'विश्लेषणात्मक आलोचना' जैसे नाम भी सामने आए लेकिन 'नई समीक्षा' नाम ही आलोचना जगत् में स्वीकृत हुआ।

'नई समीक्षा' की शुरुआत इंग्लैंड में 1920 के आस-पास टी. एस. एलियट, एज़रा पाउण्ड, विलियम एम्पसन और विशेष रूप से आई. ए. रिचर्ड्स की रचनाओं से हुई। 1924 में प्रकाशित रिचर्ड्स की आलोचना पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म' में नये साहित्यिक प्रतिमान, जैसे विडम्बना, तनाव और सन्तुलन आदि प्रस्तुत किए गए तथा भाषा के काव्यात्मक और साधारण प्रयोग में भेद किया गया। अमेरिका में 'फ़्यूजिटिव' और 'सदर्न अग्रेरियन' नाम से प्रसिद्ध आलोचकों ने नई समीक्षा को अपनाया। उन्होंने औद्योगिक उत्तरी अमेरिका के वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के अमानवीय चेहरे के विरुद्ध दक्षिणी अमेरिका के प्राचीन मूल्यों की पैरवी की। इनमें से जॉन क्रो रैंसम और एलन टेट ने एलियट और रिचर्ड्स के विचारों को आगे बढ़ाया। रैंसम ने 1922 से 1925 तक 'फ़्यूजिटिव' नाम की कविता की पत्रिका का सम्पादन किया जिसमें टेट के अलावा रॉबर्ट पेन वॉरन और डोनाल्ड डैविड्सन आदि पुस्तक समीक्षाएँ और साहित्यिक टिप्पणियाँ लिखते थे।

जॉन क्रो रैंसम की पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' (1941) को 'नई समीक्षा' का घोषणा-पत्र कहा जाता है। रैंसम ने आलोचना को ऐतिहासिक विवेचन को छोड़कर सौन्दर्यगत विश्लेषण और मूल्यांकन की दिशा में आगे बढ़ने का आह्वान किया। उसने रूढ़िवादी नव-मानवतावाद और सामाजिक परिवर्तन की वामपंथी आलोचना, दोनों के बारे में कहा कि ये सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों के स्थान पर नैतिक पक्षों को अधिक महत्त्व देते हैं, अतः दोनों ही विधियाँ साहित्य के लिए अनुपयुक्त हैं। ऐतिहासिक और जीवनीपरक आलोचना की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए रैंसम इस बात पर ज़ोर देता है कि ये विधियाँ भी अपने आप में साध्य नहीं हैं, लेकिन आलोचना के असली लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक हैं। आलोचना का वास्तविक लक्ष्य साहित्य के सौन्दर्यगत और चारित्रिक मूल्यों को परिभाषित करना और साहित्य का आनन्द उठाना है। रैंसम के अनुसार आलोचक को साहित्य ही पढ़ना चाहिए, साहित्य के बारे में नहीं। अतः आलोचना से निम्नलिखित बातों को बाहर रखना चाहिए –

(i) व्यक्तिगत प्रभाव, क्योंकि साहित्यिक समीक्षा को वस्तु के स्वरूप का उल्लेख करना चाहिए न कि व्यक्ति पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का।

(ii) सारांश और भावानुवाद, क्योंकि कथानक और कहानी वास्तविक कथावस्तु का संक्षिप्तीकरण है।

(iii) ऐतिहासिक अध्ययन, इसमें साहित्यिक पृष्ठभूमि, जीवनी, साहित्यिक स्रोत और सादृश्य होते हैं।

(iv) भाषावैज्ञानिक अध्ययन, इसमें संकेतों की पहचान और शब्दों के अर्थ खोजे जाते हैं।

(v) नैतिक बातें, क्योंकि यह कृति की सम्पूर्ण विषयवस्तु नहीं होती है।

(vi) कोई अन्य ऐसा अध्ययन जो किसी अमूर्त विषय से सम्बन्धित हो अथवा सन्दर्भ से अलग किया हुआ गद्य हो।

रैंसम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आलोचक का कार्य कविता की तकनीकी विशेषताओं जैसे छन्द-विधान, अलंकार और कल्पनाशीलता का अध्ययन करना है तथा उसे यह देखना चाहिए कि कविता में ये स्वायत्त रूप से अपने नियमों से संचालित हो।

'नई समीक्षा' में कृति के मूल्यांकन में न तो उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ध्यान देने की आवश्यकता समझी गई और न ही कृतिकार के जीवन और जीवन-सन्दर्भों पर कोई ध्यान दिया गया। कृति के ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भों पर ध्यान नहीं देने के कारण वे कृति को स्वयं-पूर्ण स्वायत्त इकाई मानने लगे थे। इससे पूरा ध्यान कृति के रूप और संरचना पर केन्द्रित हो गया और आलोचक उसकी रूपात्मक विशेषताओं के विश्लेषण में मशगूल हो गया। इससे नई समीक्षा में रूपवाद और कलावाद की विशेषताएँ विकसित होने लगीं और उस पर रूपवादी और कलावादी होने के आरोप भी लगे। यद्यपि उनकी पद्धति इसी तरह की है लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण होगा कि नई समीक्षा ने कृति के मूल्यांकन में कृति से बाहर के सभी तत्त्वों की पूर्णतः अनदेखी की है। 'नई समीक्षा' के अधिकांश आलोचक कवि, कहानीकार और उपन्यासकार भी थे। साहित्यिक भाषा की अस्पष्टता इस प्रवृत्ति की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। रिचर्ड्स के अनुसार भाषा में एक साथ अनेक अर्थ मौजूद होते हैं। अतः यह कहना कि कृति में केवल एक अर्थ होता है, अन्धविश्वास के अलावा और कुछ नहीं है।

नये समीक्षकों के अनुसार कृति में उपलब्ध सूचना के अतिरिक्त अन्य सूचना अनावश्यक है। कृति के विश्लेषण में मूल्यों और सामाजिक परिवेश के स्थान पर प्रविधि पर अत्यधिक बल दिया जाता था। कविता अथवा अन्य साहित्यिक रचना के मूल्यांकन में उनका ध्यान उसमें प्रयुक्त भाषा ,बिम्ब-विधान तथा अन्य आन्तरिक उपकरणों पर ही अधिक रहता था। इस पद्धति के आग्रहों ने इसे समाज से दूर कर दिया था। अन्ततः इन्हें यह अहसास हुआ और क्लीन्थ ब्रुक्स तक को लिखना पड़ा कि यदि कविता को सही ढंग से समझना है, उसके तनावों और विभिन्न उपकरणों के सामंजस्य को समझना है तो आलोचक को कविता से बाहर आकर अन्य कारकों को भी देखना पड़ेगा। यह 'नई समीक्षा' की सपाट शब्दावली, स्वीकृत लेखकों की विविधता में कमी, सूत्रबद्ध आलोचना-मानों का आग्रह तथा उनके दृष्टिकोण और उपागम की संकीर्णता आदि का परिणाम था कि 1960-70 के दौरान इस आलोचना प्रवृत्ति को नये साहित्यिक रुझानों ने नकार दिया।

3.4.3.5. शिकागो सम्प्रदाय

जिस समय नई समीक्षा के आलोचक अपने साहित्यिक विचारों की घोषणा कर रहे थे लगभग उसी समय आलोचकों का एक नया समूह अपने विचारों के साथ प्रकट हुआ। इस समूह को 'शिकागो स्कूल' या नव-अरस्तूवादी कहा जाता है। 1930 में शिकागो विश्वविद्यालय के मानविकी विभाग में कुछ सांस्थानिक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनकारी गतिविधियों से जुड़े हुए छह आलोचकों को बाद में 'शिकागो आलोचक' के रूप में प्रसिद्धि मिली; ये हैं – आर.एस. क्रेन, रिचर्ड मैकन, एलडर ऑलसन, डब्ल्यू.आर. कीस्ट, नॉर्मन मैक्लीन तथा बर्नार्ड वियेनबर्ग। आगे चलकर इन आलोचकों ने अपना घोषणा-पत्र भी प्रकाशित किया – 'आलोचक और आलोचना : प्राचीन और नवीन' (1952)। इसमें नई समीक्षा की कुछ मान्यताओं पर आक्रमण किया गया तथा

आलोचना के अपने वैकल्पिक रूपगत सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की। उनके विचारों पर अरस्तू के ग्रन्थ 'पोयटिक्स' का बहुत प्रभाव था।

क्रेन ने अपने एक लेख में रैंसम के सुर में सुर मिलाते हुए लिखा था कि आलोचना को अपना ध्यान ऐतिहासिक विधि से हटकर सौन्दर्यात्मक विधि की ओर केन्द्रित कर देना चाहिए। बाद में इन्होंने नई समीक्षा के अनेक समीक्षा-सिद्धान्तों से असहमत होकर उनकी आलोचना की और कहा कि साहित्यिक रचना के मूल्यांकन में एक ओर साहित्य के व्यवस्थित सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए, तो दूसरी ओर कृति के गहन पाठ पर आधारित मौलिक अध्ययन भी प्रस्तुत करना चाहिए। शिकागो स्कूल के आलोचकों ने अरस्तू के 'पोयटिक्स' से अनेक समीक्षा-सूत्र ग्रहण करते हुए अपने आलोचना-सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। जहाँ नई समीक्षा ने अपना ध्यान भाषा के काव्यात्मक प्रयोग की ओर लगाया तथा विडम्बना, रूपक, तनाव और सन्तुलन आदि को काव्य के मुख्य तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया, वहीं शिकागो स्कूल के आलोचकों ने अरस्तू के काव्य-मानकों, जैसे कथानक, चरित्र और विचार आदि को अपने काव्य-मान घोषित किया।

3.4.4. रूपवादी पद्धति

रूपवाद का विकास दो मुख्य विधियों के रूप में हुआ – भाषा का एक सिद्धान्त तथा रचना के पाठ की एक पद्धति।

रूपवाद कला और साहित्य को उसकी बनावट और क्रियाविधि के आधार पर समझने का समीक्षा सिद्धान्त है। एक कलाकृति केवल व्यक्तिगत अभिव्यक्ति या किसी नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक विचार या सन्देश की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है। किसी रचना का साहित्यिक और कलात्मक महत्त्व उसके विशिष्ट रूप में निहित है। कृति का मूल्यांकन उसके रूप-सौष्ठव और उसमें प्रयुक्त विभिन्न कला-कौशल विधियों के आधार पर किया जाना चाहिए।

विक्तोर श्क्लोव्स्की ने अपने एक लेख 'तकनीक के रूप में कला' (1917) में इस बात पर ज़ोर दिया कि 'यथार्थ का विरूपीकरण', 'विचित्र का निर्माण' या 'विपरिचयन' सभी कलाओं का केन्द्रीय तत्त्व रहे हैं। उसने दावा किया कि दिन-प्रतिदिन के अनुभव की सामान्य प्रकृति हमारे दृष्टिकोण को रूढ़िगत और स्वचालित बना देती है, लेकिन कला जीवन के स्पन्दन को लौटाने के लिए है; यह व्यक्ति को चीज़ों का एहसास कराने के लिए है, पत्थर को पथरीला बनाने के लिए है। कला का उद्देश्य चीज़ों को जैसे हम जानते हैं वैसे नहीं, बल्कि जैसे उनको देखा जाता है वह अनुभूति प्रदान करना है। अतः कला किसी वस्तु की कलात्मकता को अनुभव करने का तरीका है, इसमें स्वयं उस वस्तु का महत्त्व नहीं है।

बोरिस आईकेनबॉम ने अपने एक लेख 'रूपात्मक विधि का सिद्धान्त' (1926) में रूपवादी पद्धति के मुख्य विचार-बिन्दुओं का वर्णन किया है –

(i) रूपवाद का उद्देश्य साहित्य का एक स्वतन्त्र एवं तथ्यपरक विज्ञान का निर्माण करना है।

(ii) साहित्य का निर्माण भाषा से होता है इसलिए भाषाविज्ञान साहित्य के विज्ञान का आधारभूत तत्त्व है।

(iii) साहित्य बाह्य परिवेश से स्वायत्त होता है और इसीलिए साहित्यिक भाषा आम व्यवहार की भाषा से अलग होती है। लेकिन उससे कमतर नहीं होती, क्योंकि यह पूरी तरह सम्प्रेषणीय नहीं होती है।

(iv) साहित्य का अपना इतिहास है, रूपात्मक संरचना में नित नव्यता का इतिहास। यह इतिहास बाह्य भौतिक इतिहास द्वारा निर्धारित नहीं होता है।

(v) एक साहित्यिक कृति में क्या अभिव्यक्त हुआ है इस बात को इससे अलग नहीं किया जा सकता कि वह कैसे अभिव्यक्त हुआ है। और इसलिए कलाकृति का रूप और उसकी संरचना उसकी अन्तर्वस्तु का सजावटी आवरण नहीं, अन्तर्वस्तु का अभिन्न अंग है।

3.4.5. रूपवाद के मुख्य तत्त्व और संकल्पनाएँ

रूपवाद के उद्‌भव और उसके विकास को जान लेने के बाद इस प्रवृत्ति की वास्तविक समझ के लिए इसके मुख्य तत्त्वों और विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है। तभी हम इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे तथा कलात्मक इतिहास की इस सर्वाधिक व्यापक और विविधतापूर्ण घटना के वास्तविक योगदान को भी समझ सकेंगे।

3.4.5.1. रूपवाद : साहित्य का विज्ञान

बोरिस आईकेनबॉम ने रूपवाद के विषय-क्षेत्र का संकेत करते हुए लिखा है कि रूपवाद को केवल इस रूप में समझा जा सकता है कि वह साहित्य का एक ऐसा स्वतन्त्र विज्ञान बनाता है जो विशेष रूप से साहित्यिक सामग्री का अध्ययन करता है।

आईकेनबॉम के अनुसार रूपवाद का मुख्य लक्षण पूर्व-निर्मित सौन्दर्यशास्त्र और सामान्य सिद्धान्तों का अस्वीकार है। उसके विचार में रूपवादी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि इतिहास एक क्रान्तिकारी नज़रिये की माँग कर रहा था। रूपवादी आन्दोलन ने वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद के उभार की एक नयी दिशा चुनी, जिसमें दार्शनिक मान्यताओं तथा मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यशास्त्रीय व्याख्याओं को अस्वीकार कर दिया गया। इन सबसे अलग उसने विभिन्न कलात्मक और साहित्यिक विषयों पर अपनी मौलिक दृष्टि का प्रस्ताव किया। रूपवाद के प्रवर्तन की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्षवाद की विचारधारा थी। जिसे 'विज्ञान' कहा जाता है उन विधियों और तौर-तरीकों पर बल देना, सामान्य विधियों या सिद्धान्तों के स्थान पर तात्कालिक रूप से प्राप्त आनुभविक ज्ञान को केन्द्र में रखकर भिन्न-भिन्न तथ्यों को साथ में लाना और उन्हें समझने का प्रयास करना – ये सब कला को विचारधारात्मक और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति से मुक्त करने के प्रयास थे। इसीलिए रूपवाद साहित्य का विज्ञान है।

3.4.5.2. काव्य-ध्वनि की स्वतन्त्रता

रूसी रूपवादियों ने कविता के स्वनिमिक-पक्ष पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने विस्तृत विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् यह विचार प्रस्तावित किया कि साधारण भाषा में सम्प्रेषण के साधन होते हैं लेकिन कविता में सम्प्रेषण के साधनों का महत्त्व उनके अर्थ की अपेक्षा उनके ध्वनि-संयोजन के कारण अधिक होता है। दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान या इतिहास जैसे अनुशासनों को साहित्य के लिए गौण और आकस्मिक बताते हुए रूपवादियों ने इन सिद्धान्तों की आलोचना की तथा साहित्य को इनसे पृथक् करने के प्रयास किए। आईकेनबॉम के अनुसार यह पृथक्करण ही साहित्य के अध्ययन की विशेषता है। इसलिए रूपवादियों ने अन्य उपागमों के स्थान पर भाषाविज्ञान को प्राथमिकता दी, क्योंकि यही काव्यशास्त्र के क़रीब है और उसके साथ अपनी विषयवस्तु का आदान-प्रदान करता है। रूपवाद के इस आग्रह की मूल प्रेरणा कुछ हद तक भाषा-वैज्ञानिक लियो येकुबिन्स्की से मिली, जिसने काव्यशास्त्र के लिए आधारभूत सिद्धान्त दिया कि "व्यावहारिक आम भाषा और काव्यभाषा में विरोधाभास होता है।" अपने निबन्ध 'काव्यभाषा की ध्वनि पर' (1916) में येकुबिन्स्की ने विचार प्रस्तुत किया कि व्यावहारिक भाषा में ध्वनि की ऐसी भाषाई आकृतियाँ और रूपात्मक विशेषताएँ होती हैं जिनका कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं होता और वे मात्र संचार का माध्यम होती हैं। लेकिन कविता आदि साहित्यिक विधाओं में प्रयुक्त भाषाई संरचनाएँ 'स्वतन्त्र मूल्य' प्राप्त कर लेती हैं। श्क्लोव्स्की ने अपने लेख 'कविता और अर्थहीन भाषा पर' (1916) में तर्क दिया कि अर्थहीनता कविता की असाधारण विशेषता है। कविता का अधिकांश आनन्द और उल्लास उसके उच्चारण में, वाक्-तन्त्र के अंगों के स्वतन्त्र नृत्य में होता है। ओसिप ब्रिक ने इससे भी आगे बढ़कर कहा कि ध्वनियाँ केवल अर्थ की श्रुतिमधुर सहायिकाएँ ही नहीं होतीं, वे एक स्वतन्त्र काव्य-प्रयोजन का परिणाम भी होती हैं।

3.4.5.3. रूप की नयी परिभाषा

रूपवादियों ने अनुभव किया किया कि परम्परा से रूप को एक आवरण अथवा ऐसा पात्र माना जाता था जिसमें अन्तर्वस्तु रूपी तरल डाल दिया जाता था। रूप की नवीन रूपवादी धारणा में किसी सहसम्बन्धी अन्तर्वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं मानी गई। रूप को एक आवरण के स्थान पर 'एक स्वतःपूर्ण, ठोस, गतिशील और वास्तविक वस्तु के रूप में परिभाषित किया गया। श्लोव्स्की के अनुसार कलात्मक और काव्यात्मक अवबोध के अन्तर्गत हमें रूप का ही अवबोध होता है।

यह दृष्टिकोण प्रतीकवाद से भिन्न था जिसमें रूप को किसी न किसी तरह अन्तर्वस्तु के लिए सहायक माना जाता था। इसका भेद सौन्दर्यशास्त्र से इस अर्थ में था कि सौन्दर्यशास्त्र रूप और अन्तर्वस्तु की अलग-अलग व्याख्या करता था। रूपवादियों ने काव्यात्मक और साधारण भाषा के अलग-अलग प्रयोगों का परीक्षण किया तथा अन्तर्वस्तु से सम्बद्ध रूप की धारणा के स्थान पर तकनीक की धारणा को स्थापित किया। उन्होंने माना कि तकनीक उन आधारों में से एक मुख्य आधार है जिससे काव्यात्मक और व्यावहारिक भाषा का अन्तर स्पष्ट किया जाता है। रूपवादियों के अनुसार व्यावहारिक भाषा और उससे स्वतः प्रकट होने वाले प्रत्यक्षण में परिचय का गुण

होता है, जबकि साहित्यिक भाषा और तकनीकों से हमें अपरिचय का अवबोध होता है। 'विपरिचय' का उद्देश्य भाषा और तकनीक की नवीनता प्रकट करना है, विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति उसका लक्ष्य नहीं है। अतः रूप अर्थात् तकनीक या विधियाँ ही साहित्यिक रचना का अनिवार्य गुण होता है, बल्कि एक तरह से यही इसकी विषय-वस्तु होता है। इसीलिए श्क्लोव्स्की की घोषणा है कि "साहित्यिक कृति की अन्तर्वस्तु इसके (कृति के) रूपों का योगफल होती है।"

3.4.5.4. कथानक और साहित्यिक विकास

रूपवादियों ने कथानक के निर्माण की विशिष्ट युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। श्क्लोव्स्की ने 'कथानक' को रूपांकनों (अभिप्रायों) का सम्मिश्रण और 'कहानी' का पर्याय मानने की धारणा का खण्डन किया। उनके अनुसार कथानक एक संयोजक युक्ति या उपकरण है न कि एक विषय-वस्तु। कथानक की रचना के उपकरणों में उसकी रूपरेखा और रूपांकनों का ताना-बाना शामिल होता है, जबकि कहानी केवल कथानक के निर्माण का सामान होती है और उसमें भी रूपांकनों, पात्रों और विषय-वस्तु के चयन का विकल्प होता है।

श्क्लोव्स्की ने साहित्यिक रूपों के विकास के पारम्परिक विचार का भी खण्डन किया। रचना के सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश के अध्ययन को अनावश्यक बताते हुए उसने तर्क दिया कि नये रूप का प्रयोजन अपना सौन्दर्यात्मक महत्त्व खो चुके पुराने रूपों को बदलना है। श्क्लोव्स्की की तरह बोरिस तोमेशेव्स्की ने भी गद्य-आख्यान के तत्त्वों और उनके आपसी सम्बन्धों पर अपने निबन्ध 'थिमेटिक्स' (1925) में विस्तार से विचार किया है। उसके अनुसार साहित्य स्वयं साध्य नहीं होता है। वह अपने विषय से ही एकताबद्ध रहता है। रचना का विषय रचना को संगत बनाता है। तोमेशेव्स्की के अनुसार गद्य-आख्यान में मुख्य भेद 'कहानी' और 'कथानक' के रूप में होता है। उसका ध्यान मुख्य रूप से कथानक पर है, क्योंकि कृति की कलात्मकता वहीं निहित होती है; कहानी तो वह पृष्ठभूमि है जिसके आधार पर कथानक का अध्ययन किया जाता है। कहानी घटनाओं और अनुभवों की वास्तविक क्रम-व्यवस्था प्रदर्शित करती है, जबकि कथानक उन घटनाओं और अनुभवों का कलात्मक प्रस्तुतीकरण है जिसमें वास्तविकता को नया अनुक्रम दिया जाता है, कुछ घटनाओं को बार-बार दिखाया जाता है तो कुछ का समय अन्तराल बदल दिया जाता है। यह सब कलाकृति में उनके प्रभाव को बढ़ाने के लिए किया जाता है। 'विपरिचयकरण' की अवधारणा के अन्तर्गत कलाकृति में वास्तविकता और उसके प्रस्तुतीकरण में स्पष्ट अन्तर होता है। अतः रूपवाद दर्पण की तरह साहित्य में वास्तविकता के हू-ब-हू निरूपण को अस्वीकार करता है। रूपवादियों के अनुसार साहित्य का अपना इतिहास होता है, जो समाज के इतिहास से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होता है। साहित्यिक रचनाओं के पारस्परिक प्रभाव और अन्तर्क्रिया से निर्मित इतिहास ही रूपवादी विवेचन की उपयुक्त सामग्री है, न कि साहित्यिक संसार से बाहर का कोई नैतिक या सामाजिक इतिहास।

3.4.5.5. कविता का रूपवादी स्वरूप

प्रतीकवादी जहाँ काव्य और गद्य की सीमाओं को समाप्त करते हुए इनका भेद मिटाने के प्रयास कर रहे थे, वहीं रूपवादियों ने काव्य और गद्य के भेद पर बल दिया। ओसिप ब्रिक ने इस दिशा में पहल करते हुए लिखा कि कविता की 'लय' कोई ऊपरी अनुलग्नक नहीं है, बल्कि यह उसकी रचना का आधार है। लयात्मक आकृतियाँ कविता के वाक्य-विन्यास और व्याकरणिक आकृतियों से नाभि-नालबद्ध जुड़ी होती हैं। आईकेनबॉम के अनुसार कविता की शैलीगत विशेषताएँ मुख्यतः शाब्दिक होती हैं।

रूपवादियों की मौलिक उद्भावना यह है कि काव्य-रूप को उसकी अन्तर्वस्तु की बाह्य अभिव्यक्ति के तौर पर नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि रूप ही काव्यात्मक पाठ की वास्तविक अन्तर्वस्तु है। कविता में प्रयुक्त शब्द सामान्य भाषा से लिए जाते हैं लेकिन उनमें काव्य-पाठ की दृष्टि से नयी अर्थ-ध्वनियाँ भर दी जाती हैं। काव्योक्ति में शब्द हमेशा अर्थ-युक्त हो, यह आवश्यक नहीं है। शब्दों के सामान्य अर्थ को बाधित या परिष्कृत करना कविता के शब्दार्थ की अनन्य विशिष्टता है। काव्य-रूपों का विकास इसी तरह कवियों के मौलिक प्रयासों का समेकित परिणाम है। कविता की लय, अर्थच्छायाएँ और शब्द-संरचनाएँ इसी प्रक्रिया से विकसित होती हैं। अन्तर्वस्तु रूप के विरोध में या बाहर न होकर स्वयं रूपात्मक तत्त्व है।

3.4.5.6. साहित्यिकता

रूपवाद साहित्य को मुख्यतः भाषा के विशेषीकृत ढंग के तौर पर देखता है। वह भाषा के सामान्य व्यावहारिक प्रयोग और साहित्यिक प्रयोग को अलग-अलग और विरोधी मानता है। रूपवाद में माना गया है कि जहाँ सामान्य भाषा का कार्य भाषा से बाहर की दुनिया से सम्बन्धित संदेशों और सूचनाओं का सम्प्रेषण करना है, वहाँ साहित्यिक भाषा का कार्य बाह्य सन्दर्भों द्वारा सूचना या सन्देश देना नहीं है, बल्कि पाठक का ध्यान अपने 'रूपात्मक' स्वरूप अर्थात् भाषाई संकेतों की विशेषताओं और अन्तस्सम्बन्धों की तरफ खींचते हुए उसे एक विशेष प्रकार का अनुभव प्रदान करना है। साहित्यिक रचना का भाषाविज्ञान सामान्य व्यावहारिक विमर्श के भाषाविज्ञान से अलग होता है क्योंकि इसके नियम उन विशिष्ट अभिलक्षणों को प्रस्तुत करने का कार्य करते हैं जिसे रूपवाद की शब्दावली में रचना की 'साहित्यिकता' कहा जाता है। साहित्य का लक्ष्य केवल साहित्य है। इसके अपने नियम हैं और यह स्वायत्त है।

रोमन याकॉब्सन ने स्वीकार किया है कि साहित्य के विज्ञान का लक्ष्य साहित्य नहीं है अपितु साहित्यिकता अर्थात् वह तत्त्व है जो किसी कृति को साहित्यिक कृति बनाता है।

3.4.5.7. विपरिचयकरण

रूपवाद की एक प्रमुख स्थापना है कि साहित्य की भाषा की अपनी विशेष पद्धतियाँ और प्रभाव होते हैं। साहित्य की भाषा और साधारण भाषा में स्पष्ट अन्तर होता है। श्क्लोव्स्की ने अपने निबन्ध 'तकनीक के रूप में

कला' (1917) में दिखाया है कि साहित्य के सभी रूपों में 'साहित्यिकता' साहित्य को अपरिचित बनाने में निहित होती है। यही 'विपरिचयकरण' का रूपवादी सिद्धान्त है। श्क्लोव्स्की साहित्यिक और असाहित्यिक का भेद प्रकट करने में भाषा पर अधिक बल नहीं देता। उसके चिन्तन के केन्द्र में साहित्य का प्रभाव पैदा करने वाली प्रक्रिया तथा वह विधि या तकनीक है जिसके माध्यम से साहित्यिक प्रभाव प्रदर्शित होता है। साहित्यिक भाषा और विधियों का मुख्य प्रकार्य परिचित संसार को इस तरह प्रस्तुत करना होता है कि वह नया और अपरिचित लगे। साहित्य में आने वाले अनुभव नये लगने चाहिए ताकि हम उनका नये सिरे से आनन्द प्राप्त कर सकें, मूल्यांकन कर सकें।

श्क्लोव्स्की के अनुसार हम अपने दैनिक जीवन की सामान्य बातचीत में आदतन घिसी-पिटी उक्तियों और एक जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। प्रायः हम आधे-अधूरे वाक्यों में बात करते हैं और बात को बीच में छोड़ भी देते हैं। यह एक प्रकार की बीजगणितीय प्रक्रिया है जो हमारे आम अवबोध को प्रभावित करती है। आम व्यवहार में वस्तुओं के स्थान पर संकेतों से काम लिया जाता है। यह देखा जाता है कि हम चीजों को समझें उससे पहले वे धुंधली होकर बिखर जाती हैं। उनका असर इतना कम होता है कि कुछ समय बाद हम उनका मूल तत्त्व ही भूल जाते हैं। रूपवादी दृष्टि में कला की सार्थकता हमारे साधारण अवबोध के परिष्कार में मानी जाती है। कला की तकनीक चीज़ों को 'अपरिचित' और कठिन बनाती है ताकि हमारे अवबोध की प्रक्रिया भी कठिन और लम्बी हो सके। चूँकि अवबोध या प्रत्यक्षण की प्रक्रिया ही सौन्दर्यानुभूति का साध्य है, इसलिए इसकी प्रक्रिया लम्बी होनी ही चाहिए। श्क्लोव्स्की का दावा है कि जहाँ रूप है वहाँ 'विपरिचयकरण' भी है। विपरिचयकरण कविता और गद्य-आख्यान दोनों में अनिवार्य प्रक्रिया है। कविता में यह मुख्यतः भाषा के माध्यम से घटित होता है, जबकि गद्य में विषय-वस्तु का विपरिचयकरण होता है।

3.4.6. पाठ-सारांश

रूपवाद एक साहित्यिक सिद्धान्त है जिसका विकास बीसवीं सदी के दूसरे दशक में रूस में हुआ। सीमित अर्थों में रूपवाद का प्रयोग साहित्यिक भाषा-विज्ञान के लिए भी किया जाता है।

रूसी रूपवादी मुख्य रूप से इस ओर ध्यान देते थे कि एक साहित्यिक रचना किस प्रकार अपना प्रभाव ग्रहण करती है। उनका लक्ष्य साहित्य के एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज करना था। रूपवादियों ने कृति की वस्तु और उसके रूप को मिला दिया। उन्होंने लेखक को उपलब्ध साहित्यिक उपकरणों और परम्पराओं के उपयोग से कृति का संयोजन करने वाला एक कारीगर मान लिया था। जो कुछ है कृति है, लेखक कुछ भी नहीं। पूरा ज़ोर कृति की साहित्यिकता पर था। रूपवाद का मुख्य भौगोलिक क्षेत्र रूस था, लेकिन इसके कई समूह अन्य देशों में भी सक्रिय हुए। इस कलात्मक पद्धति ने 'नई समीक्षा', शैलीविज्ञान और संरचनावाद जैसे बाद के साहित्यिक आन्दोलनों को फलने-फूलने की ज़मीन दी। रचना की आत्यन्तिक साहित्यिकता पर बल देने तथा उसे रचनाकार और उसके परिवेश से पूरी तरह विच्छिन्न कर देने के कारण रूपवाद की आलोचना हुई है। सही है कि रचना में

किसी सन्देश के निहित नहीं होने से उसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं किया जा सकता है। वह भाषा का खेल भर बन जाती है और अकथनीयता का शिकार हो जाती है।

3.4.7. उपयोगी सन्दर्भ

3.4.7.1. हिन्दी पुस्तकें

1. जैन, निर्मला. (2015). नई समीक्षा. नयी दिल्ली. किताबघर प्रकाशन. ISBN : 978-93-83233-65-6
2. भारद्वाज, डॉ॰ मैथिली प्रसाद. (1994). पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त. चण्डीगढ़. हरियाणा साहित्य अकादमी.
3. तिवारी, डॉ॰ रामचन्द्र. (2016). भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिन्दी-आलोचना. वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978-81-7124-764-6
4. नारंग, गोपीचन्द. (2004). संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद और प्राच्य काव्यशास्त्र. नयी दिल्ली. साहित्य अकादेमी. ISBN : 81-260-0798-2
5. राजनाथ. (2009). पाश्चात्य काव्यशास्त्र : नयी प्रवृत्तियाँ. नयी दिल्ली. राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.. ISBN : 978-81-267-1725-5

3.4.7.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Eagleton, Terry. (2003). Literary Theory: An Introduction. Minnesota. Blackwell Publishers Ltd. ISBN : 0-9166-1251-X
2. Habib, M. A. R. (2005) . A History of Literary Criticism: From Plato to the Present. Malden, USA. Blackwell Publishing. ISBN:13: 978-0-631-23200-1
3. Lemon, Lee T. and Reis, Marion J. (Trans.). (1965). Russian Formalist Criticism : Four Essays. Lincoln and London. University of Nebraskaa Press. ISBN- 0-8032-5460-1
4. Lodge, David & Wood, Nigel (ed).(2007). Modern Criticism and Theory : A Reader . New Delhi. Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd. ISBN : 978-81-317-0721-0
5. Selden, Raman (ed.).(2008)The Cambridge History of Literary Criticism(Vol. 8): From Formalism to Poststructuralism. Cambridge. Cambridge University Press. ISBN - O 521 3OOI3 4
6. Wellek, Rene.((2005).Concepts of Literature. London. Yale University Press. ISBN-13 978-0300094633

3.4.7.3. इन्टरनेट स्रोत

1. www.newworldencyclopedia.org/entry/Formalism

3.4.8. अभ्यास प्रश्न

01. साहित्य में रूप और वस्तु के सम्बन्ध पर टिप्पणी लिखिए।
02. रूसी रूपवाद के विकास में श्क्लोव्स्की के योगदान स्पष्ट कीजिए।
03. रूपवाद की विभिन्न धाराओं और समूहों पर एक लेख लिखिए।
04. 'विपरिचयकरण' की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
05. रूपवाद में 'काव्य-ध्वनि' क्या है ?
06. गद्य-आख्यान में 'कहानी' और 'कथानक' की भूमिका समझाइए।
07. "रूपवाद साहित्य का विज्ञान है।" कैसे ?
08. 'नई समीक्षा' में कृति का मूल्यांकन कैसे किया जाताहै ?
09. बाख़्तिन सर्कल की साहित्यिक मान्यताओं का उल्लेख कीजिए।
10. रूपवाद में शिकागो सम्प्रदाय की विशिष्टता की व्याख्या कीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 4 : आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

इकाई – 1 : संरचनावाद

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. संरचनावाद का अर्थ और परिभाषा
4.1.3. संरचनावाद का उद्भव और विकास
4.1.3.1. फर्दीनांद द सॉस्सुर
4.1.3.1.1. आधुनिक भाषाविज्ञान और सॉस्सुर
4.1.3.1.2. भाषा का संरचनात्मक विवेचन
4.1.3.2. प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल
4.1.3.2.1. 'सेमिऑटिक्स' (संकेत-विज्ञान) और फ़ोनेमिक्स (ध्वनि-विज्ञान)
4.1.3.2.2. भाषिकी और काव्यशास्त्र
4.1.3.3. रोमन याकॉब्सन
4.1.3.3.1. प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल और रोमन याकॉब्सन
4.1.3.3.2. रोमन याकॉब्सन का भाषिक सिद्धान्त
4.1.3.4. क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस
4.1.3.4.1. संरचनात्मक नृतत्वविज्ञान
4.1.3.4.2. 'मिथक' और 'मिथीम्स'
4.1.4. संरचनावाद की प्रमुख अवधारणाएँ
4.1.4.1. 'बाइनरि ऑपोज़िशन' (युग्मक विरोध)
4.1.4.2. 'लाँग' (भाषा) और 'परोल' (वाक्)
4.1.4.3. 'डायक्रोनिक' (ऐतिहासिक) और 'सिंक्रोनिक' (समकालिक)
4.1.4.4. 'सिग्निफ़ायर' (संकेतक) और 'सिग्निफ़ाइड' (संकेतित)
4.1.5. साहित्यिक संरचनावाद
4.1.6. आख्यान का काव्यशास्त्र
4.1.7. पाठ-सारांश
4.1.8. उपयोगी सन्दर्भ
4.1.8.1. हिन्दी पुस्तकें
4.1.8.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
4.1.8.3. इन्टरनेट स्रोत
4.1.9. अभ्यास प्रश्न

4.1.0. उद्देश्य

पिछले पाठों में आपने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों स्वच्छन्दतावाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद और रूपवाद का अध्ययन किया । आपने देखा कि साहित्य-सृजन और साहित्य-समीक्षा दोनों क्षेत्रों में इन सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव पड़ा है । प्रस्तुत खण्ड आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों पर केन्द्रित है । इस इकाई में आप संरचनावाद का अध्ययन करेंगे । इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. संरचनावाद के अर्थ और स्वरूप को समझ सकेंगे ।
ii. भाषाविज्ञान और संरचनावाद के विकास की जानकारी प्राप्त कर पाएँगे ।
iii. प्रमुख संरचनावादी चिन्तकों के सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे ।
iv. साहित्यिक संरचनावाद की मुख्य स्थापनाओं को समझ सकेंगे ।

4.1.1. प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम भाषाविज्ञान के सन्दर्भ में साहित्य को समझने का प्रयास करेंगे । नृतत्वशास्त्र के अनन्तर विकसित सिद्धान्त 'संरचनावाद' शुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त नहीं है, इसका सम्बन्ध मनोविज्ञान, गणित, समाजशास्त्र आदि अनेक अनुशासनों से है, लेकिन भाषा-विज्ञान का मुख्य सिद्धान्त बन जाने से यह साहित्य-अध्ययन का भी अनिवार्य सिद्धान्त है । यहाँ हम देखेंगे कि संरचनावाद किस प्रकार भाषा और साहित्य की समस्याओं के निराकरण में सहायक हुआ है ।

4.1.2. संरचनावाद का अर्थ और परिभाषा

'संरचना' का अर्थ किसी वस्तु या घटना की बनावट से लिया जाता है । यह विषय के विभिन्न घटकों की समग्रता को प्रकट करने वाला सम्प्रत्यय है । जब हम एक 'पूर्ण' वस्तु, विषय या घटना की बात करते हैं तो हम उसके 'परस्पर सम्बन्धित तत्त्वों' की एकता या बनावट की बात करते हैं । अर्थात् 'संरचना' में उसके सभी तत्त्व आपस में जुड़े हुए होते हैं और मिलकर एक 'पूर्ण' वस्तु या घटना का निर्माण करते हैं । अतः संरचना का अर्थ हुआ – 'वस्तु के विभिन्न अवयवों में समन्वय या तालमेल ।' संरचना के इस अर्थ को आधार बनाकर किसी विषय के अध्ययन की विधि 'संरचनावाद' कहलाती है । कैम्ब्रिज एड्वान्स्ड लर्नर्स डिक्शनरी ऑफ़ इंग्लिश के अनुसार "संरचनावाद भाषा, साहित्य, कला, नृतत्वशास्त्र और समाजशास्त्र में प्रयुक्त विचारों की एक ऐसी व्यवस्था है जो विषय-विशेष की मूल संरचना और सम्बन्धों पर बल देती है ।"

संरचनावाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु एक संरचना होती है । संरचना में ही उसका अर्थ निहित होता है ।

संरचनावाद का प्रस्थान-बिन्दु यह विचार है कि सांस्कृतिक गतिविधियों का अध्ययन और विश्लेषण एक विज्ञान की तरह वस्तुनिष्ठ ढंग से किया जा सकता है । यह क्षेत्र विशेष के उन तत्त्वों की खोज करता है जिनसे

उसका गठन होता है। तत्त्वों का पता चल जाने के बाद उनके सम्बन्धों के संजाल को समझने का प्रयास किया जाता है। इसके अन्तर्गत समस्त सम्बन्धों का निर्माण करने वाली संरचना को उस सांस्कृतिक घटना का आधारभूत कारण माना जाता है। माना जाता है कि एक बार इस संरचना का पता लग जाने पर उस क्षेत्र की सभी गतिविधियों की व्याख्या की जा सकती है। इस आलोचना-विधि के नामकरण का श्रेय रोमन याकॉब्सन को है।

संरचनावाद शब्द का प्रयोग विभिन्न अनुशासनों में इस अर्थ में किया जाता है कि अवधारणाओं का संरचनात्मक सम्बन्ध अलग-अलग संस्कृतियों और भाषाओं में अलग-अलग होता है। इन सम्बन्धों को उपयुक्त ढंग से उद्‌घाटित किया जा सकता है और उनका उपयोग किया जा सकता है। इसे यों समझें कि संरचनावाद एक ऐसा उपागम या विधि है जिसके अन्तर्गत भाषाविज्ञान, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और गणित आदि विभिन्न क्षेत्रों में उन मूलभूत सिद्धान्तों का अन्वेषण किया जाता है जिन पर उच्चतर मानसिक, भाषाई, सामाजिक या सांस्कृतिक संरचनाओं और संरचना-तन्त्र का निर्माण होता है। संरचनावाद की आधारशिला यह विचार है कि यह दुनिया और इसकी सभी इकाइयाँ सम्बन्धों के ताने-बाने से आपस में बँधे हुए हैं। सम्बन्धों के इस तन्त्र से बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। हमें वस्तुओं का अवबोध तभी होता है जब हम उन्हें इस सम्बन्ध-तन्त्र अर्थात् उनकी संरचना के रूप में देखते हैं। वस्तुत: मानव-मस्तिष्क 'संरचना' की प्रक्रिया के तहत ही कार्य करता है।

4.1.3. संरचनावाद का उद्‌भव और विकास

संरचनावाद का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं सदी में हुआ था और बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह बौद्धिक हलक़ों में फिर प्रकट हुआ। कुछ दशकों तक भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति के क्षेत्र में संरचनावाद प्रभावशाली और बहुत चर्चित विधि रही। बीसवीं सदी का संरचनावाद फर्दीनांद द सॉस्सुर के भाषाविज्ञान की प्रेरणा से शुरू हुआ तथा अमेरिकी-स्लाविकी भाषा वैज्ञानिक रोमन याकॉब्सन और फ्रांसीसी मानवशास्त्री क्लॉद लेवि-स्ट्रॉस के लेखन में इसे नयी ऊर्जा मिली।

4.1.3.1. फर्दीनांद द सॉस्सुर

कलाकृति में उसकी संरचना का विवेचन पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू के समय से ही होता आया है। आधुनिक भाषाविज्ञान और संरचनावाद के पितामह फर्दीनांद द सॉस्सुर (1857-1913) स्विट्ज़रलैंड के भाषा-वैज्ञानिक थे। सॉस्सुर के लिखे लेखों और जिनेवा विश्वविद्यालय में 1906-1911 तक दिए गए व्याख्यानों के आधार पर उसके मित्रों एवं सहयोगियों ने उसके भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया और 1916 में 'सामान्य भाषाविज्ञान का पाठ्यक्रम' शीर्षक से एक पुस्तक का प्रकाशन किया। बौद्धिक-जगत् में इन विचारों का सार्थक प्रभाव 1950 के बाद ही दिखाई दिया। मूल फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित सॉस्सुर की पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद बहुत समय बाद 1959 में प्रकाशित हुआ। भाषा वैज्ञानिक रोमन याकॉब्सन, नृतत्व विज्ञानी क्लॉद लेवि-स्ट्रॉस और संस्कृति के अध्येता रोलाँ बार्थ सॉस्सुर के भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रभावित होने वालों

में प्रमुख थे । देरिदा की साहित्यिक-दार्शनिक धारणाओं, लुई अल्थुसे जैसे संरचनावादी-मार्क्सवादी की 'विचारधारा' के विश्लेषण, ज्यॉक़ लकाँ के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों और स्त्रीवादी जूलिया क्रिस्तोवा के भाषा-विवेचन में सॉस्सुर के विचार किसी न किसी रंग-रूप में उपस्थित हैं।

4.1.3.1.1. आधुनिक भाषाविज्ञान और सॉस्सुर

सॉस्सुर ने मानवीय भाषा के अध्ययन को पूर्ण रूप से एक नया मोड़ दिया, इसलिए उसे आधुनिक भाषाविज्ञान का जनक कहा जाता है। सॉस्सुर ने तर्क देकर सिद्ध किया कि भाषा का अध्ययन केवल उसके अवयवों के सन्दर्भ में या केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि इसका अध्ययन उसके विभिन्न अवयवों को जोड़ने और उसे अभिव्यक्त करने वाले सम्बन्धों की एक व्यवस्था के रूप में किया जाना चाहिए। इससे पहले भाषाविज्ञान के अन्तर्गत समय के साथ भाषा में आए परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता था और इन परिवर्तनों को भाषावैज्ञानिक तथा ग़ैर-भाषावैज्ञानिक कारकों के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर विश्लेषित किया जाता था। इन परिवर्तनों की पहचान कुछ व्यक्तियों या समूहों की वास्तविक अभिव्यक्ति के आधार पर की जाती थी, अर्थात् किसी शब्द के अर्थ के उद्भव का अध्ययन विशेष उक्तियों के आधार पर किया जाता था और उसमें आए परिवर्तनों को सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक कारकों से जोड़ दिया जाता था।

4.1.3.1.2. भाषा का संरचनात्मक विवेचन

सॉस्सुर ने माना है कि भाषा बहुत जटिल होती है। उसका एक पक्ष वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक होता है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। भाषा की उपस्थिति पहले से होती ही है, उसका निरन्तर विकास भी होता रहता है। वह सदैव अतीत की उपज और वर्तमान की व्यवस्था होती है।

सॉस्सुर ने 'भाषा' अर्थात् मनुष्य द्वारा संकेतों के माध्यम से संचार की क्षमता और 'भाषा-व्यवस्था' (लाँग) में भेद किया है। ये दोनों भी व्यक्तिगत उक्तियों के दृष्टान्त 'वाक्' (परोल) से अलग होती हैं। सॉस्सुर का भाषाविज्ञान 'लाँग' और 'परोल' के भेद के आधार पर खड़ा है। सॉस्सुर के अनुसार यह भेद ही हमें सामाजिक और व्यक्तिगत तथा ज़रूरी एवं आकस्मिक या आनुषंगिक में भेद करने की क्षमता प्रदान करता है। 'लाँग' व्यक्ति से अलग एक व्यवस्था है जो बिना किसी योजना और लक्ष्य के चुपचाप प्रकट होती है। 'लाँग' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह 'अवधारणाओं के भेदों की शृंखला' से सुमेलित 'स्वरों के भेदों की शृंखला' है। एक संस्था के रूप में भाषा का प्रकार्य इन भेदों की शृंखलाओं की समान्तरता बनाए रखना है। इसके विपरीत, 'परोल' इच्छा और बुद्धि का व्यक्तिगत कार्य है। यह लोग जो कुछ भी बोलते हैं उसका कुल योग है, जिसमें व्यक्तिगत शब्दों और स्वर-क्रियाओं का मेल होता है।

सॉस्सुर के अनुसार भाषा के सामाजिक तत्त्व अर्थात् संकेत-निर्मात्री प्रक्रियाएँ 'सेमिऑलॉजी' (संकेत-विज्ञान) का क्षेत्र हैं और 'संकेत-विज्ञान' सामाजिक जीवन के अंग के रूप में संकेतों का अध्ययन करता है।

संकेत सीधे-सीधे शब्द और वस्तु के बीच सम्बन्ध को इंगित नहीं करता है, बल्कि यह मनुष्य के मस्तिष्क में उपस्थित अवधारणाओं और उसके बाद आने वाली ध्वनि-संरचना की जटिल एकता है। ध्वनि-संरचना केवल अवधारणाओं का उच्चारण नहीं है, यह श्रोता को उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दिया गया ध्वनि का मनोवैज्ञानिक संस्कार है। सॉस्सुर ध्वनि-संरचना को 'संकेतक' और अवधारणा को 'संकेतित' कहता है। इन दोनों के सम्मिश्रण को 'संकेत' कहा गया है।

सॉस्सुर ने कहा कि भाषिक संरचना के सांगठनिक स्तर को अलग करने का एक ही तरीक़ा है कि उसके परिवर्तन की धारा (इतिहास) को मोड़ दिया जाए और इसके जटिल काल्पनिक प्रकार्यों से भी ध्यान हटा दिया जाए। पूरा ध्यान समकालिक (सिंक्रोनिक) पक्षों पर केन्द्रित कर दिया जाए। यह (सिंक्रोनिक) एक ऐसी सार्थक व्यवस्था है जो प्रत्येक छोटी से छोटी भावोक्ति को मान्यता और महत्त्व देती है। सॉस्सुर ने सभी सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों से विच्छिन्न एक ऐसे भेदपरक संकेत-तन्त्र के रूप में भाषाविज्ञान का प्रस्ताव किया जिसमें कोई निश्चित और स्पष्ट अर्थ ही न हो। संकेतों के अध्ययन के विज्ञान को उसने 'सेमिऑलॉजी' (संकेत-विज्ञान) कहा और दावा किया कि उसकी भाषा-वैज्ञानिक खोजें संकेत-विज्ञान का विकास करेंगी और सामाजिक संचार के सभी क्षेत्रों में अन्तर्निहित व्यवस्था को उद्घाटित करेंगी।

इस प्रकार भाषा को संकेतों की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया गया, जिसमें प्रत्येक संकेत का अर्थ दूसरे से उसकी भिन्नता के आधार पर निर्धारित होता है। भाषा की इस दृष्टि ने उस सामान्य विश्वास को चुनौती दी कि शब्दों का उनके नामवाली चीज़ों के साथ सीधा और स्थायी सम्बन्ध होता है। शब्दों और गोचर जगत् के इस विच्छेदीकरण ने साहित्यिक रचनाओं के विवेचन के ढंग में परिवर्तन को प्रेरित किया ।

सॉस्सुर द्वारा प्रस्तुत भाषा का संरचनात्मक विवेचन उन स्थितियों का परीक्षण करता है जिनमें भाषा और उसका अर्थ कार्य करते हैं। वह यह पता लगाने का प्रयास करता है कि शब्दों में अर्थ कैसे भरे जाते हैं। सॉस्सुर को आशा थी कि उसका भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक परिघटनाओं पर भी लागू किया जा सकेगा। 'संकेत-विज्ञान' के नाम से एक अकादमिक अनुशासन की शुरुआत स्वयं सॉस्सुर ने कर दी थी, जिसमें उसके अनुसार समाज में संकेतों के जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाएगा। सॉस्सुर के भाषाविज्ञान का सार यह है कि भाषा में केवल भिन्नताएँ होती हैं। सामान्य रूप में भिन्नतापूर्ण चीज़ों के बीच भिन्नता सकारात्मक अर्थ का संकेत देती है; लेकिन भाषा में बिना सकारात्मक अर्थ के केवल भिन्नताएँ ही होती हैं। भाषा में भाषिक व्यवस्था से पहले न तो विचार होते हैं और न ही ध्वनियाँ।

4.1.3.2. प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल

प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल अथवा प्राग स्कूल की स्थापना 1926 में भाषाविज्ञान में नये सिद्धान्तों की खोज के उद्देश्य से की गई थी। इस समूह में चेक, रूसी, उक्रेनी और जर्मन विद्वान शामिल थे। इन विद्वानों ने भाषाविज्ञान के अतिरिक्त सौन्दर्यशास्त्र, संगीत विद्या और नृजाति विज्ञान के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया। इसके

प्रभावशाली सदस्यों में रोमन याकॉब्सन, विलेम मेथेसियस, निकोलाई त्रुबेत्ज़्कोय, सर्जेई कारस्वेस्की और चेक साहित्यविद् रेने वेलेक के नाम प्रमुख हैं। इस स्कूल के कार्यों में रूपवाद का आधुनिक संरचनावाद में संक्रमण होता है। रोमन याकॉब्सन के साथ जाँ मुकारोव्स्की, फ़ेलिक्स वेदिअका आदि ने रूपवादी अवधारणाओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया, लेकिन ऐसा उन्होंने इन अवधारणाओं को सॉस्सुर के भाषा वैज्ञानिक ढाँचे में व्यवस्थित करते हुए किया।

4.1.3.2.1. 'सेमिऑटिक्स' (संकेत-विज्ञान) और फ़ोनेमिक्स (ध्वनि-विज्ञान)

प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल के कार्यों में 'संरचनावाद' का विलय 'सेमिऑटिक्स' (संकेत-विज्ञान) में हो जाता है। संकेत विज्ञान का अर्थ 'संकेतों' का व्यवस्थित अध्ययन होता है और साहित्यिक संरचनावादी यही कर रहे थे। 'संरचनावाद' शब्द से यही प्रतीत होता है कि इस विधि को साहित्य के अलावा भी अनेक विषयों पर लागू किया जा सकता है (नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान ,समाजशास्त्र, गणित और अर्थशास्त्र आदि में इसे विधिवत लागू किया गया था)। इसके विपरीत 'संकेत-विज्ञान' यह दर्शाता है कि यह अध्ययन के किसी विशेष क्षेत्र या व्यवस्था पर लागू होगा, जिन्हें सामान्य रूप से 'संकेत' कहा जाता है जैसे ट्रैफ़िक व्यवस्था, कविता, प्रोटोकॉल आदि। संरचनावाद उसे भी अपने विचार का विषय बनाता है जिसे वह संकेतों की व्यवस्था की तरह नहीं देखता है जबकि वास्तव में वह संकेतों की व्यवस्था ही होती है। संकेत-विज्ञान सामान्य रूप से संरचनवादी उपागमों का ही प्रयोग करता है। इस बिन्दु पर दोनों उपागम एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण करते हैं।

प्राग स्कूल के संरचनावाद की मुख्य देन फ़ोनेमिक्स (स्वनिमी या ध्वनिविज्ञान) है। इसके अन्तर्गत उन्होंने भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों की सूची बनाने या उनका क्रम निर्धारित करने के स्थान पर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझने में अधिक रुचि दिखाई। उन्होंने दिखाया कि भाषा में ध्वनियों को विरोधों की शृंखला के रूप में अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। अंग्रेज़ी ध्वनियाँ p और b अलग-अलग स्वनिम का प्रतिनिधित्व करती हैं, क्योंकि दो स्वनिमों के बीच का विरोध ही दो अलग-अलग शब्दों (pat और bat) का अन्तर है। ध्वनियों का विरोधी स्वरूप में विश्लेषण करने से भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में भी सहायता मिली है।

4.1.3.2.2. भाषिकी और काव्यशास्त्र

प्राग संरचनावाद बीसवीं सदी के सैद्धान्तिक चिन्तन की मुख्यधारा के विकास की अनिवार्य कड़ी थी। यह भाषिकी और काव्यशास्त्र के उत्तर-प्रत्यक्षवादी रुझानों का मंच था, जिसकी शुरुआत सॉस्सुर और रूसी रूपवादियों ने की थी। प्राग सम्प्रदाय के आलोचकों ने परम्परागत साहित्यिक अध्ययन के सरोकारों को जो नये सैद्धान्तिक आधार प्रदान किए वे इस प्रकार हैं –

(i) साहित्य के अध्ययन में आधुनिक वैज्ञानिक विचारों के अनुसार संरचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। इसके मुख्य सिद्धान्त 1929 में याकॉब्सन के अपने एक लेख में प्रस्तुत किए। यहीं 'संरचनावाद' शब्द का निर्माण भी हुआ। उसने लिखा कि "यदि हमें वर्तमान समय के अत्यधिक

विविधापूर्ण वैज्ञानिक आविष्कारों का सारांश प्रस्तुत करना हो तो हमें 'संरचनावाद' से अधिक उपयुक्त नाम नहीं मिलता। इसमें समकालीन विज्ञान द्वारा परखी गई किसी भी परिघटना को यान्त्रिक संकलन की तरह नहीं, बल्कि एक संरचनात्मक सम्पूर्णता की तरह देखा जाता है, और मुख्य कार्य इस व्यवस्था के आन्तरिक नियमों, चाहे स्थिर हो या प्रगतिशील, का उद्घाटन करना है।"

(ii) प्राग स्कूल में साहित्यिक आलोचना और भाषिकी के बीच मज़बूत सम्बन्ध थे। सभी भाषा वैज्ञानिक साहित्य अध्ययन में भी दख़ल रखते थे तथा साहित्यिक आलोचक भाषाविज्ञान को महत्त्वपूर्ण अनुशासन मानते थे। प्राग स्कूल में साहित्य और काव्यभाषा के समन्वित अध्ययन ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ध्वनिविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिपादन जैसे आधारभूत कार्यों की शुरुआत की।

(iii) साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत सार्वभौमिक विशेषताओं से पूर्ण सामान्य काव्यशास्त्र और किसी विशेष साहित्यिक रचना पर केन्द्रित आलोचनात्मक काव्यशास्त्र को मिला दिया गया।

(iv) प्राग स्कूल की ज्ञानमीमांसा में आम पाठक और साहित्य के निष्णात विद्यार्थी में मौलिक अन्तर माना गया। याकॉब्सन के अनुसार एक कविता, एक संगीत रचना की तरह, साधारण पाठक में कलात्मक अवबोध की सम्भावना देखती है, लेकिन उसमें वैज्ञानिक विश्लेषण को प्रभावित करने की आवश्यकता या योग्यता नहीं पैदा करती। लेकिन प्राग स्कूल के विद्वान जानते थे कि मानवीय संचार का विद्यार्थी सिग्नल-एंजीनियर से बढ़कर होता है, क्योंकि उसे शब्दार्थों और सांस्कृतिक प्रघटनाओं व प्रक्रियाओं को समझना पड़ता है। उसका ज्ञानात्मक दृष्टिकोण निश्चित नहीं होता, बल्कि खोज के उद्देश्य और स्वरूप के अनुसार बदलता रहता है। यह परिवर्तनीयता मानवीय संचार के विद्यार्थी को एक प्रभावी ज्ञानात्मक छूट प्रदान करती है – वह गूढ़ार्थ विशेषज्ञ की तरह वह कृति से कूट की तरफ़ बढ़ता है तथा एक सजग प्रतिभागी के रूप में वह कूट के माध्यम से कृति को समझने में सक्षम होता है।

प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल अपने भीतरी मतभेदों के बावजूद साहित्य और साहित्यिक आलोचना में रूसी रूपवाद की अपेक्षा अधिक समरूपता वाला समूह था। इस सम्बन्ध में याकॉब्सन ने लिखा है – "उन आवेगपूर्ण और प्रेरक विचार-विमर्श को याद करते हुए, कि जिसने हमारे वैज्ञानिक विचारों को कसौटी पर परखा, उद्दीप्त किया और धार दी, मैं स्वीकार करता हूँ कि कहीं भी और कभी भी मुझे ऐसी रचनात्मक ऊर्जायुक्त विद्वतापूर्ण बहस देखने को नहीं मिली।"

4.1.3.3. रोमन याकॉब्सन

रोमन याकॉब्सन (1896-1982) को अमेरिकी और स्लाविक भाषाविज्ञान का पुरोधा माना जाता है। रूसी रूपवाद सॉस्सुर के भाषावैज्ञानिक विचारों से बहुत प्रभावित था। रूपवाद में संरचनावाद के अस्पष्ट रुझान ही प्रकट हुए थे, वह संरचनावाद से अलग प्रवृत्ति थी। रूपवाद जिस एक चिन्तक में संरचनावाद के सर्वाधिक क़रीब था, उसका नाम रोमन याकॉब्सन था। याकॉब्सन मॉस्को लिंग्विस्टिक सर्कल का मुख्य विचारक था। उसने मॉस्को से प्राग में आकर 1926 में 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' का गठन किया और 'चेक संरचनावाद' का

संस्थापक बना। यहाँ से अमेरिका चले जाने के बाद रोमन याकॉब्सन नृतत्वशास्त्री क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस के सम्पर्क में आया। आधुनिक भाषाविज्ञान इन दोनों विद्वानों के वैचारिक संवाद का ऋणी है। रूपवाद, संरचनावाद और आधुनिक भाषाविज्ञान पर याकॉब्सन का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। याकॉब्सन ने भाषाविज्ञान के अंग के रूप में काव्यशास्त्र पर विशेष अध्ययन किया है। उसके अनुसार भाषा का काव्यात्मक प्रकार्य संकेतों की सुस्पष्टता को प्रोत्साहित करता है तथा यह उनका सम्प्रेषण में प्रतिवादी के रूप में प्रयोग करने के स्थान पर उनके गुणों की तरफ ध्यान आकर्षित करता है।

4.1.3.3.1. प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल और रोमन याकॉब्सन

प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल के अपने साथियों के साथ 1928 में याकॉब्सन ने सॉस्सुर के संरचनावाद से अपने मतभेद उजागर कर दिए। याकॉब्सन के विचार 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' में भाषा को ऐतिहासिक और समकालिक दोनों की संरचना माना गया है। याकॉब्सन ने कहा कि उसकी अनुसंधान विधियों का प्रयोग उच्चरित ध्वनियों के प्रकार्यों का अध्ययन ऐतिहासिक (डायक्रोनिक) रूप से भाषा के परिवर्तनों को समझने के लिए तथा सिंक्रोनिक (समकालिक) रूप से भाषा के स्वरूप और संरचना को समझने के लिए किया जा सकता है। याकॉब्सन ने अलग से चीज़ों का अध्ययन करने के स्थान पर सम्बन्धों की व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने के लिए सांस्कृतिक रूप से परस्पर सम्बन्धित संकेतों का प्रयोग किया। मुख्य ज़ोर समग्र व्यवस्था पर था, जिसे 'उसके अंशों के कुल योग से अधिक' माना गया है। याकॉब्सन के विचार से भाषा का विश्लेषण उसके सभी सम्भव प्रकार्यों के साथ किया जाना चाहिए। उसके साहित्यिक या काव्यात्मक प्रकार्य की चर्चा करने से पहले अन्य प्रकार्यों में उसकी स्थिति का पता कर लेना चाहिए। याकॉब्सन ने भाषा को संस्कृति की अभिव्यक्ति और विकास का माध्यम मान कर उसका अध्ययन किया। प्राग स्कूल व्यापक अर्थ में प्रकार्यवाद और संरचनावाद का समन्वय करता है। भाषा का प्रत्येक अवयव, जैसे फ़ोनीम, मॉरफ़ीन, शब्द, वाक्य आदि, एक विशेष प्रकार्य की पूर्ति करता है तथा भाषा में केवल अवयव ही नहीं परिस्थिति और प्रसंग भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। भाषा उपसंरचनाओं की संरचना है। प्रत्येक उपसंरचना का अपना महत्त्व है परन्तु उन्हें एकदम विच्छिन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक व्यापक सम्पूर्णता का हिस्सा हैं। उसके अनुसार संरचनावादियों का कार्य व्यवस्था की सतह के नीचे मौजूद गहरी संरचनाओं का व्यवस्थित अनुसंधान करना है।

4.1.3.3.2. रोमन याकॉब्सन का भाषिक सिद्धान्त

याकॉब्सन का भाषिक सिद्धान्त सॉस्सुर के संरचनावाद और रूसी रूपवाद के आधारों पर विकसित हुआ है। सॉस्सुर के अनेक विचारों को ग्रहण करते हुए भी याकॉब्सन ने सॉस्सुर द्वारा 'लाँग' (भाषा) को 'परोल' (वाक्) से अधिक महत्त्व दिए जाने के विचार को अस्वीकार कर दिया। उसका ज़ोर 'परोल' के विश्लेषण पर था। इसमें विमर्श में प्रयुक्त भाषिकी संकेत की महत्त्वपूर्ण ध्वनिक इकाई 'फ़ोनीम' (स्वनिम) का अन्वेषण शामिल है। याकॉब्सन ने अपने भाषिकी सम्बन्धी विचारों को सुगठित सिद्धान्त का रूप देने के लिए अमेरिकी संकेत-वैज्ञानिक

सी.एस. पियर्स के विचारों से भी लाभ उठाया। पियर्स द्वारा भाषिकी संकेतों के विभाजन – आइकॉन (अनुप्रतीक), इंडेक्स (अभिसूचक) और सिंबल (प्रतीक) – से याकॉब्सन को संकेतीकरण की प्रक्रिया में अन्तर्निहित सम्बन्धों को समझने में सहायता मिली। याकॉब्सन ने सॉस्सुर द्वारा अपने सिद्धान्त में प्रयुक्त 'मेटाफ़र' (रूपक) और 'मेटॉनिमी' (प्रतिस्थानिक रूपक) में भेद को स्पष्ट किया। याकॉब्सन ने पाया कि ये दोनों तत्त्व साहित्यिक कार्य में 'बाइनरी ऑपोज़िशन' (युग्मक विरोध) के रूप में होते हैं। याकॉब्सन ने इन दो मुख्य आधारों पर अपने साहित्य-सिद्धान्त विकसित किए जो संरचनावादी साहित्य-चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। उसने अपनी संरचनात्मक भाषिकी का उपयोग साहित्यिक कृति की संरचना में अन्तर्भूत अर्थगत और स्वनिमिक संगतियों को पहचानने में किया और पाया कि सभी कृतियों की संरचना इसी आधार पर हुई है।

4.1.3.4. क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस

जब याकॉब्सन अपने भाषा और साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहा था, उन्हीं दिनों फ़्रांसीसी नृतत्व-वैज्ञानिक क्लॉद लेवि-स्ट्रॉस (1908-2009) भी ऐसे ही उपागम द्वारा कृति के अर्थ को समझने में लगा हुआ था। याकॉब्सन के साथ उसकी मित्रता उसके सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सहायक हुई।

4.1.3.4.1. संरचनात्मक नृतत्वविज्ञान

क्लॉद लेवि-स्ट्रॉस फ़्रांसीसी नृतत्व-वैज्ञानिक था। उसने मानव-समाज और संस्कृति के अध्ययन के द्वारा संरचनात्मक नृतत्व-विज्ञान का विकास किया। उसने अपनी अनुसंधान विधियों को नातेदारी व्यवस्था और पौराणिक मिथकीय संरचनाओं सहित अनेक सांस्कृतिक संरचनाओं के विश्लेषण में लागू किया। याकॉब्सन के समान संरचनावादी दृष्टि से लेवि-स्ट्रॉस ने अमेरिका के विभिन्न आदिम समाजों में प्रचलित मिथकों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया। उसने देखा कि इन मिथकों में ऐसी समरूप संरचना है जो संयोग मात्र नहीं हो सकती। उसने इस संरचना के अध्ययन के आधार पर मिथकीय आशयों की उत्पत्ति का एक सुसंगत सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसके अनुसार उसने जिन मिथकीय कथामालाओं का विश्लेषण किया उन सभी में एक आधारभूत अर्थ पाया गया है। यह अर्थ भारतीय मिथकों में मौजूद मूल आख्यानिक संरचना पर आधारित था। उसने देखा कि यह संरचना सॉस्सुर के 'युग्मक विरोध' की तरह गठित थी। लेवि-स्ट्रॉस ने विचार प्रकट किया कि ये संरचनाएँ अन्ततः मानव-मस्तिष्क की संरचना में निहित हैं, जो कि मस्तिष्क की जैविकी और स्नायु-तन्त्र पर आधारित है।

लेवि-स्ट्रॉस ने संरचनात्मक भाषा वैज्ञानिक सॉस्सुर के सिद्धान्तों को नृतत्वविज्ञान में लागू किया और उन्हें विकसित किया। अपने शोधग्रन्थ 'संरचनात्मक नृतत्वविज्ञान' में लेवि-स्ट्रॉस संस्कृति को सांकेतिक संचार की व्यवस्था मानता है, जिसका अनुसंधान उन विधियों से किया जा सकता है जिसे अन्य लोगों ने उपन्यासों, राजनैतिक भाषणों, खेलों और फ़िल्मों की चर्चा में बहुत संकीर्ण अर्थों में किया है। लेवि-स्ट्रॉस का मूल तर्क यह था कि 'असभ्य' मस्तिष्क की संरचना वैसी ही होती है जैसी कि 'सभ्य' मनुष्य के मस्तिष्क की होती है। मस्तिष्क और मनुष्य की विशेषताएँ सर्वत्र एक जैसी हैं।

4.1.3.4.2. 'मिथक' औए 'मिथीम्स'

लेवि-स्ट्रॉस ने संरचनावादी दृष्टि से मिथकों की व्याख्या की है। उसके अनुसार मिथक भाषा का विशेष रूप और प्रयोग है। उसने दिखाया है कि मिथकीय शृंखला से ली गई एक कहानी (परोल) में कोई अलग और अन्तर्निहित अर्थ नहीं होता है, लेकिन पूरी मिथकीय शृंखला (लाँग) में उसकी स्थिति तथा उस शृंखला की अन्य कहानियों से उसकी समानता या अन्तर को देखकर उसका अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। लेवि-स्ट्रॉस के अनुसार मिथक की संरचना मानव-मस्तिष्क की संरचना की तरह होती है, अर्थात् यह मनुष्यों के चिन्तन के ढंग को इंगित करती है। इस प्रकार मिथक एक भाषा बन जाता है। वह भाषा के रूप में एक ऐसा सार्वभौमिक कथा-माध्यम बन जाता है जो देश-काल से परे जाकर सभी के लिए समान रूप से उनके अनुभवों और भावनाओं की अभिव्यक्ति का ख़ज़ाना होता है।

लेवि-स्ट्रॉस 'परोल' और 'लाँग' के अतिरिक्त एक तीसरे सन्दर्भित तत्त्व 'मिथीम्स' (मिथकों की इकाइयाँ, जैसे भाषिकी में स्वनिम आदि होते हैं) का प्रयोग करता है जो पहले दोनों तत्त्वों के गुणों को मिलाते हैं। इन मिथीम्स के संरचनात्मक प्रतिरूप मिथक में अर्थ भरते हैं। मिथक बहुत पुरानी घटनाओं की जानकारी देते हैं, लेकिन इनमें जिस तरह की संरचना दिखाई जाती है वह कालातीत होती है। यह संरचना भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की व्याख्या करने में सक्षम होती है। लेवि-स्ट्रॉस ने यह देखा कि वर्तमान समाजों में मिथक की भूमिका राजनीति निभा रही है। जैसे फ़्रांसीसी क्रान्ति भूतकाल की घटना है, लेकिन वह समकालीन फ़्रांस की सामाजिक संरचना में एक युग-युगीन संरचना की तरह मौजूद है। अतः मिथक एक दोहरी संरचना है– ऐतिहासिक और इतिहास-निरपेक्ष। लेवि-स्ट्रॉस ने मिथकीय संरचना में ऐसी विशेषता पाई जो यह दर्शाती है कि विरोधी सम्बन्ध सम-रूप होने के साथ-साथ आत्म-विरोधी भी होते हैं। 'ईडिपस' इसीलिए एक प्रकार की तार्किक युक्ति है। ईडिपस अपने पिता की हत्या कर देता है, जो नातेदारी का अवमूल्यन है। वह अपनी माता योकास्टा से विवाह कर लेता है, यह नातेदारी का अधिमूल्यन है। इन दोनों ही परिस्थितियों में ईडिपस के सामने करने या नहीं करने का विकल्प है। ईडिपस कथा में यह एक सार्थक 'युग्मक विरोध' है। लेवि स्ट्रॉस ने मिथक का प्रयोजन विरोध को समाप्त करने के लिए एक तार्किक प्रारूप प्रदान करना माना है।

4.1.4. संरचनावाद की प्रमुख अवधारणाएँ

किसी भी साहित्यिक सिद्धान्त को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उसके इतिहास के साथ-साथ उसके द्वारा प्रस्तुत सैद्धान्तिक निष्पत्तियों का ज्ञान भी अनिवार्य होता है। आगे अब हम 'संरचनावाद' के विचारकों द्वारा प्रस्तुत मुख्य अवधारणाओं का विवेचन करेंगे।

4.1.4.1. 'बाइनरि ऑपोज़िशन' (युग्मक विरोध)

संरचनावाद की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'बाइनरि ऑपोज़िशन' (युग्मक विरोध) की अवधारणा है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की भाषा, ज्ञान और विचार के क्रिया-व्यापारों को युग्म-विरुद्धों के रूप में समझा गया है।

बाइनरि अर्थात् दोहरा या युग्म, इसका मतलब 'बाइनरि ऑपोज़िशन' ऐसे युग्म को इंगित करता है जिसमें दो शब्द या प्रत्यय परस्पर विरोधी स्थिति में होते हैं। यह दो विशेष शब्दों या संकल्पनाओं के बीच अन्तर्विरोध का द्योतक है। संरचनावाद के अनुसार मानवीय भाषा और विमर्श 'युग्मक विरोध' की संरचना के रूप में होते हैं। इन विरोधों में सदैव एक पदानुक्रम भी होता है। सॉस्सुर के अनुसार युग्मक विरोध के माध्यम से भाषा की विभिन्न इकाइयाँ अर्थ या मूल्य प्राप्त करती हैं। भाषा के सन्दर्भ में मूल्य का तात्पर्य होता है समाज में शब्दों या चीज़ों का 'स्वीकृत अर्थ'।

युग्मकता आदिकाल से मनुष्य के चिन्तन में विद्यमान रही है। विश्व की घटनाओं और क्रियाओं तथा मानव-जीवन की विविधतापूर्ण गतिविधियों को समझने की दृष्टि से 'युग्मक विरोध' का आधार लिया जाता रहा है। व्यष्टि-समष्टि, लौकिक-अलौकिक, जीवन-मृत्यु, हार-जीत, सार-आभास जैसे असंख्य 'युग्मक विरोध' हमारे अवबोध की आधारशिला रहे हैं। कोई एक विरोध दूसरे विरोध पर भारी पड़ता है। इनका वर्गीकरण समस्त भ्रामक क्रमबद्धता और सतही अर्थवत्ता के बावजूद सदैव मूल्य आधारित प्रतिमानों से निर्धारित होता है। परस्पर असमान विचारों और चीज़ों में मूल्य आधारित तुलना होती है। बाइनरि कूट की तरह प्रत्येक इकाई अन्योन्याश्रित रूप से दूसरी इकाई के साथ तुलनात्मक आधार पर परिभाषित की जाती है। एक संकेत का अर्थ उसके प्रसंग और विशेष समूह से उसकी सम्बद्धता के आधार पर ग्रहण किया जाता है। हम 'बुरे' को समझे बिना 'अच्छे' की कल्पना नहीं कर सकते। वाक्य-विन्यास या शब्द-क्रम बदलने पर अर्थ भी बदल जाता है अर्थात् भाषा में अर्थ भाषा-व्यवस्था पर निर्भर होता है। व्यवस्था बदल जाने पर अर्थ केवल बदलता ही नहीं, बल्कि अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। यदि 'बीरबल अकबर का दरबारी था' में एक शब्द का क्रम बदल दिया जाय कि 'अकबर बीरबल का दरबारी था' तो न केवल वाक्य का अर्थ बदलता है, बल्कि हमारा इतिहास-ज्ञान भी ख़तरे में पड़ जाता है।

रोमन याकॉब्सन ने ध्वनि की लघुतम इकाई के रूप में 'स्वनिम' की पहचान करते हुए बताया है कि हम सचेत रूप से असंख्य 'युग्मक विरोधों' के प्रयोग द्वारा अन्यथा एक जैसी ध्वनियों को अलग-अलग रूपों में जान पाते हैं। अतः 'युग्मक विरोध' चीज़ों में अन्तर को पहचानने में हमारी सहायता करते हैं।

4.1.4.2 . 'लाँग' (भाषा) और 'परोल' (वाक्)

सॉस्सुर के अनुसार व्यक्तिगत वाक्-क्रियाएँ इतनी अधिक और अलग-अलग हैं कि सभी का अध्ययन कर पाना एक असम्भव कार्य है। लेकिन समय-विशेष में मौजूद मानव अभिव्यक्ति की व्यवस्था का अध्ययन किया जा सकता है और भाषावैज्ञानिकों को यही करना चाहिए। सॉस्सुर भाषा के प्रकार्य को समझने के लिए भाषा को दो प्रकार से देखता है – एक भाषिक व्यवस्था और दूसरा भाषिक व्यवहार। वह भाषिक व्यवस्था को 'लाँग' (भाषा) तथा भाषिक व्यवहार को 'परोल' (वाक्) कहता है। परोल कोई भी अर्थपूर्ण लिखित या उच्चरित उक्ति होती है। 'लाँग' विभिन्न तत्त्वों की एक अव्यक्त व्यवस्था है जिसमें भेद है, विरोध है तथा संयोजन के नियम हैं, जिससे एक भाषाई समूह में वक्ता किसी 'परोल' को अभिव्यक्त कर पाता है और श्रोता उसे समझ पाता है। भाषा वैज्ञानिक का मुख्य कार्य समाज में अन्तर्निहित भाषा-व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करना होता है।

भाषा के अध्ययन को 'परोल' (वाक्) से 'लाँग' (भाषा) के रूप में समझने का कार्य सॉस्सुर का आधुनिक भाषाविज्ञान और संरचनावाद के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

4.1.4.3. 'डायक्रोनिक' (ऐतिहासिक) और 'सिंक्रोनिक' (समकालिक)

अमेरिकी व्यवहारवाद के पुरोधा सी. एस. पीयर्स (1839-1914) ने संकेतों का पारिभाषिक भेद प्रस्तुत किया है। उसने तीन प्रकार के संकेतों का उल्लेख किया है – आइकॉन : अनुप्रतीक (समरूप; जैसे कोई चित्र 'चित्र खिंचवाने वाले' से मिलता है), इंडेक्स : प्रतिस्थानिक और कारणगत (जैसे धुँआ आग का प्रतिस्थानिक है, आग के कारण को बताता है) तथा सिंबल : पारम्परिक चिह्न (जैसा सॉस्सुर ने इसे समझा)। केवल तीसरे प्रकार के संकेत में 'संकेतक' और 'संकेतित' में सम्बन्ध अनिश्चयात्मक होता है।

सॉस्सुर के भाषाविज्ञान के प्रभाव ने पीयर्स के विभेदों को सीमित कर दिया तथा सॉस्सुर ने संकेतों द्वारा धारित अर्थ के लिए 'मूल्य' का प्रत्यय प्रस्तुत किया। इसे उसने आर्थिक जगत् की शब्दावली से समझाया; किसी भी वस्तु या मुद्रा के नोट या सिक्के के मूल्य का निर्धारण इसके अन्तर्निहित गुणों के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि उसके बदले में क्या मिल सकता है, इस आधार पर किया जाता है। उसने एक संरचना में दो तत्त्वों के बीच विद्यमान सम्बन्धों (सिंक्रोनिक) तथा उसी संरचना में एक ही तत्त्व में और पूर्व या भावी संरचना में वैसे ही तत्त्वों के बीच के सम्बन्धों (डायक्रोनिक) पर ज़ोर दिया। ये दोनों 'लाँग' के पक्ष हैं, जो कि अपने आन्तरिक सम्बन्धों में सुव्यवस्थित है। सॉस्सुर का तर्क है कि संरचना के किसी भी अवयव के प्रकार्यों को केवल तभी समझा जा सकता है जब पूरी संरचना को समग्र रूप से समझ लिया जाए। भाषा के प्रयोक्ताओं के लिए केवल भाषा की 'सिंक्रोनिक' अवस्था ही प्रासंगिक है। भाषा के परिवर्तन या उसकी उत्पत्ति के प्रश्न उन सम्बन्धों के विश्लेषण को अस्पष्ट बना देते हैं, जिनमें यह अवस्था पाई जाती है।

4.1.4.4. 'सिग्निफ़ायर' (संकेतक) और 'सिग्निफ़ाइड' (संकेतित)

'लाँग' के अध्ययन के अन्तर्गत ही सॉस्सुर ने अपना यह विचार भी सामने रखा कि भाषा 'संकेतों' की व्यवस्था या 'संकेत-तन्त्र' है। भाषा एक संरचना है जो संकेतों की इकाइयों से निर्मित हुई है। प्रत्येक संकेत भी एक अन्य रचना है जिसका निर्माण एक 'संकेतित' (सिग्निफ़ाइड) और 'संकेतक' (सिग्निफ़ायर) से होता है। 'संकेतक' वह स्वर है जिसका उच्चारण हम बोलते समय करते हैं या वह संकेत है जो हम लिखते समय बनाते हैं। 'नमक' शब्द में हिन्दी भाषा के तीन अक्षरों को लिखते समय हम जो आकृति बनाते हैं या बोलते समय जिस ध्वनि का उच्चारण करते हैं वह 'संकेतक' है, जो हिन्दी समझने वाले प्रत्येक व्यक्ति में खाद्य पदार्थ नमक अर्थात् 'संकेतित' का बोध पैदा करता है। सॉस्सुर की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने बताया कि 'संकेतित' (सिग्निफ़ाइड) और 'संकेतक' (सिग्निफ़ायर) के बीच का सम्बन्ध पूरी तरह से अनिश्चयात्मक और मनमाना होता है। उसके अनुसार संकेतों की किसी विशेष व्यवस्था का विशेष अर्थ क्यों होता है यह नहीं बताया जा सकता, क्योंकि उन संकेतों में कोई विशेष अर्थ होता ही नहीं है। हम उनकी उस व्यवस्था के अर्थ की सांस्कृतिक या ऐतिहासिक परिपाटी के

आधार पर ही उसका अर्थ जान पाते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक विशेष भाषाई समुदाय उन 'संकेतों' और व्यक्ति, वस्तु, घटना, स्थान आदि के रूप में उनके 'अर्थ' के बीच सम्बन्ध का लगातार उसी रूप में प्रयोग करता है। सॉस्सुर कहता है कि 'पूर्ण संकेत' (संकेतक और संकेतित) और जिसका वह अर्थ प्रकट करता है (खाद्य पदार्थ नमक) अर्थात् 'सन्दर्भित' के मध्य सम्बन्ध भी अनिश्चयात्मक और मनमाना है। इस प्रकार सॉस्सुर दो मुख्य अनिश्चयात्मक सम्बन्धों की व्याख्या करता है – पहला, 'संकेतक' और 'संकेतित' के मध्य तथा दूसरा 'संकेत' और 'सन्दर्भित' के मध्य।

इस सन्दर्भ में सॉस्सुर तीसरे स्तर की एक अन्य अनिश्चयात्मकता की ओर हमारा ध्यान दिलाता है। वह है 'संकेतित' या प्रत्यय के स्तर पर स्वयं 'संकेत' का अनिश्चयात्मक स्वरूप। उसका कहना है कि अलग-अलग भाषाएँ न केवल अलग-अलग 'संकेतकों' का प्रयोग करती हैं, बल्कि गोचर जगत् का अलग-अलग ढंग से विभाजन भी करती हैं अर्थात् वे अलग-अलग 'संकेतित' (प्रत्यय) का प्रयोग भी करती है। गोचर जगत् को विभाजित करने का अर्थ है कि हमें जो एन्द्रिय प्रतीति होती है उसे पृथक् और उपयोगी श्रेणियों में विभाजित कर देना। ऐसा करने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है क्योंकि संसार में स्वतन्त्र रूप में पाए जाने वाले संकेतितों या प्रत्ययों की ऐसी कोई सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध व्यवस्था नहीं है जिसे भाषा नाम देती रहे। विभाजित करने और प्रकट करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही भाषा इन गोचर श्रेणियों को अलग और स्वतन्त्र रूप प्रदान करती है। सॉस्सुर याद दिलाता है कि यदि शब्द पहले से मौजूद सत्ताओं अर्थात् 'संकेतित' के लिए स्थिर होते, तो उन सभी के अर्थ-प्रतिपादक सभी भाषाओं में एक समान होते, लेकिन ऐसा होता नहीं है। पुनः, सॉस्सुर के अनुसार यदि 'संकेत' के 'संकेतक' और 'संकेतित' का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का सम्बन्ध होता तो 'वृक्ष' को सभी भाषाओं में 'वृक्ष' ही कहा जाता और सब जगह एक ही भाषा का व्यवहार होता, जबकि ऐसा है नहीं।

सॉस्सुर द्वारा परिकल्पित 'संकेत विज्ञान' को उसकी मृत्यु के चालीस वर्षों बाद नये वैचारिक आधार प्राप्त हुए। 'संकेत विज्ञान' 'संरचनावाद' का ही दूसरा अभिधान है। संरचनावाद की व्यापकता और लोकप्रियता के कारण प्रसिद्ध चिन्तक फ्रेड्रिक जैमसन ने कहा है कि 'संरचनावाद' भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर सब कुछ पर पुनर्विचार करने का प्रयास है। जब हम सांस्कृतिक कलाकृति या सामाजिक घटना का अध्ययन करते हैं तब पाते हैं कि एक भाषिक संकेत की तरह इसे परिभाषित करने वाली विशेषताएँ वही हैं जो इसे दूसरी चीज़ों से अलग करती हैं और इसे संरचना के भीतर सार्थक बनाती हैं।

4.1.5. साहित्यिक संरचनावाद

सॉस्सुर के भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्त में भाषा को वास्तविक दुनिया से विच्छिन्न और अपने ही नियमों से संचालित एक आत्म-निर्भर व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुछ संरचनावादी आलोचकों ने इन्हीं सैद्धान्तिक अवधारणाओं के आधार पर साहित्य को भाषा की तरह ही समझने के प्रयास किए हैं। इन आलोचकों के अनुसार साहित्य एक आत्म-निर्भर व्यवस्था है जो अपने गठन की इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार

पर संचालित होती है, इसका वस्तुनिष्ठ यथार्थ से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता है। साहित्यिक संरचनावाद का प्रस्थान-बिन्दु यही है।

संरचनावाद के अनुसार कला के सभी रूप – साहित्य, प्रदर्शनकारी कलाएँ, संगीत, नाट्य, सिनेमा, लोक कलाएँ आदि – सौन्दर्यशास्त्रीय संकेतों से ही गठित हैं, लेकिन इन सब में विषयवस्तु, संकेतीकरण के ढंग और अभिव्यक्ति के सामाजिक माध्यमों का बहुत अन्तर है। चूँकि भाषा, साहित्य और कलाएँ मानव-संस्कृति की सामान्य संरचना के अन्तर्गत विशेष संरचनाएँ हैं, इसलिए इनके संकेतनिष्ठ अध्ययन के लिए प्रत्येक संरचना हेतु विशेष और उसके उपयुक्त विधि और प्रारूप की आवश्यकता होती है।

भाषा के रूप में साहित्य की विवेचना करना एक जटिल कार्य है। साहित्यिक संरचनावाद भाषाविज्ञान से अपने उपकरण और प्रविधियाँ लेता है। याकॉब्सन का विचार है कि भाषिकी एक अनुसंधान प्रक्रिया प्रदान करता है जिसे साहित्य की भाषा पर लागू करके उसकी साहित्यिक संरचना प्रकट की जा सकती है। भाषिकी किसी रचना की उस संरचना का पता लगा सकती है जिससे उस रचना को साहित्यिक मूल्य प्राप्त होता है। भाषा के साहित्यिक प्रयोग में चीज़ों को व्याकरण और ध्वनिशास्त्र के नियमों के अनुसार चुनकर क्रमबद्ध ढंग से रखा जाता है। भाषिक विश्लेषण में सम्बन्धित चीज़ों की बारम्बारता के आधार पर निर्मित संरचना को पहचान कर उसका उद्घाटन किया जाता है। जोनाथन कुलर ने भाषाविज्ञान की उन तीन प्रविधियों को रेखांकित किया है जिनसे साहित्यिक संरचनावाद अधिक प्रभावित हुआ है–

(i) एक वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में भाषाविज्ञान आलोचकों को बताता है कि गहन और व्यवस्थित अध्ययन का अर्थ कार्य-कारण व्याख्याओं की खोज नहीं है, जिसमें कृति के तत्त्वों को वस्तुनिष्ठ सांस्कृतिक या वैयक्तिक तथ्यों के साथ निश्चित कार्य-कारण प्रभाव के द्वारा जोड़ दिया जाए। भाषावैज्ञानिक संरचना के तत्त्वों की तरह ही साहित्यिक रचना में भी एक तत्त्व की व्याख्या पूरे संरचना-तन्त्र में उसके स्थान के आधार पर की जाती है। इसलिए संरचनावाद ऐतिहासिक और जीवनीपरक आलोचना का विरोध करता है।

(ii) भाषाविज्ञान ने ऐसी अनेक अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं जिन्हें साहित्यिक रचनाओं के विवेचन में आसानी से लागू किया जा सकता है। इनमें सबसे प्रमुख हैं– 'संकेतक' और 'संकेतित', 'भाषा' और 'वाक्' तथा 'डायक्रोनिक' और 'सिंक्रोनिक'। इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किसी भी रचना में अन्तर्निहित सम्बन्धों को पहचानने में किया जा सकता है।

(iii) भाषाविज्ञान संरचनावादियों को संकेत-व्यवस्था के अध्ययन के लिए आदर्श-प्रारूप प्रदान करता है। प्रारूप के घटकों के अनुसार रचना का विवेचन एक तर्क-संगत कार्य बन जाता है।

कृति के फ़लक का विस्तार करते हुए संरचनावाद उसकी साहित्यिकता और अर्थ-गाम्भीर्य को बढ़ाने का दावा करता है। उसके अनुसार यदि पाठक और पाठ (टेक्स्ट) दोनों सांस्कृतिक संरचनाएँ हैं तब पाठ का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि वे एक ही अर्थ-संरचना की साझेदारी करते हैं। यदि संस्कृति पाठाधारित है तो

संस्कृति का साहित्य की पाठात्मकता (टेक्सचुअलिटी) के साथ सम्बन्ध अधिक नज़दीकी, प्रासंगिक और ज़रूरी बन जाता है। साहित्य विमर्शों की दुनिया में एक विमर्श है। प्रत्येक विमर्श के अर्थ, भाषा, विषयवस्तु और मुहावरों आदि के सम्बन्ध में अपने नियम होते हैं। हमें जो वास्तविक दिखाई देता है वह कूटरचित और परम्परागत होता है, जो हमें बताता है कि कला में यथार्थ कैसे प्रस्तुत होता है। हम जो पाते हैं वह यथार्थ-प्रभाव होता है, यथार्थ को दर्शाने वाले संकेत 'तटस्थ' बना दिए जाते हैं अर्थात् उन्हें इस तरह बना दिया जाता है कि हम उनके माध्यम से यथार्थ का अनुभव कर सकते हैं। ये यथार्थ के नियमों के अनुसार बनाए गए लगते हैं, होते नहीं हैं। साहित्यिक सिद्धान्त की दृष्टि से संरचनावाद में आख्यान-कथाओं का विश्लेषण उनमें अन्तर्निहित स्थिर संरचना की तरह किया गया है। संरचनावादी दृष्टि से विश्लेषण करने वाला आलोचक यह घोषणा कर सकता है कि भगवानदास मोरवाल ने 'काला पहाड़' उपन्यास में कुछ भी नया नहीं लिखा है क्योंकि इसकी संरचना भी वैसी है जैसी प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' की है।

संरचनावाद ने साहित्य के सम्बन्ध में हमारी बहुत प्राचीन और प्रिय मान्यताओं को चुनौती दी। यह माना जाता रहा है कि साहित्यिक रचना लेखक के भावों और विचारों का मूर्त रूप होती है। साहित्यिक रचना को लेखक के मन की उपज कहा जाता है। लेखन या रचना ही वह स्थान है जहाँ हम लेखक के मानस जगत् में प्रवेश करते हैं और उसके साथ एक मानवीय सम्बन्ध स्थापित करते हैं। साहित्य के बारे में माना जाता है कि वह जीवन के अनछुए पहलुओं को अभिव्यक्त करता है और मानव-समाज की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वह चीज़ों को उनके यथार्थ रूप में एक निश्चित उद्देश्य के साथ प्रस्तुत करता है। संरचनावाद इस लोकप्रिय साहित्यिक समझ का खण्डन करता है। रोलाँ बार्थ ने तर्क प्रस्तुत किया है कि लेखक में इतनी ही क्षमता होती है कि वह पूर्व उपलब्ध रचनाओं को आपस में मिला ले, उनका पुनर्संयोजन करे और फिर से प्रस्तुत कर दे। लेखक रचना का उपयोग किसी भी रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करने या कुछ अद्‌भुत कहने के लिए नहीं कर सकता, वह 'भाषा और संस्कृति के पूर्व-लिखित महाकोश' का केवल उपयोग कर सकता है। संरचनावादी आलोचक साहित्यिक आलोचना के उन सभी रूपों का विरोध करते हैं जिनमें मानवीय सत्ता को साहित्यिक अर्थ का जनक और स्रोत माना जाता है। यहाँ तक कि वे इसे 'मानव-विरोधी' प्रकार्य मानते हैं।

संरचनावादी साहित्य-समीक्षा का तर्क है कि साहित्यिक पाठ की विलक्षणता उसकी संरचना में निहित है, न कि उसके विशेष पात्रों के चरित्र-चित्रण या उसकी अभिव्यक्ति के तेवर या कलेवर में। साहित्यिक संरचनावादी व्लादिमिर प्रॉप के सूत्रों और लेवि-स्ट्रॉस के सूत्रों के आधार पर कहानी और मिथक के मूल तत्त्वों की पहचान करते हैं।

4.1.6. आख्यान का काव्यशास्त्र

आख्यान के संरचनात्मक अध्ययन में व्लादिमिर प्रॉप और क्लॉद लेवि-स्ट्रॉस का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। व्लादिमिर प्रॉप ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मॉर्फ़ोलॉजी ऑफ फ़ोकटेल्स' (1928) में आख्यान की व्याकरण का नक्शा प्रस्तुत किया है। इसका आधार लोककथाओं की संरचना का अध्ययन है। रूसी

लोककथाओं के अन्तरंग के उद्‌घाटन में प्रॉप ने उनकी संरचना को आधार बनाया। उसने लोक्कथाओं के ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। उसके अनुसार दो एकदम अलग कथाओं की समान घटनाओं को एक ही प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है और उन्हें एक ही वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रॉप ने ऐसे इकत्तीस सम्भाव्य प्रकार्यों का उल्लेख किया है जिन्हें कथा के पात्रों, परिवेश, संघर्ष और देश-काल की भिन्नता के बावजूद सभी कथाओं पर लागू किया जा सकता है। प्रॉप ने पात्रों के वर्गीकरण में अधिक समय लगाने की आवश्यकता महसूस नहीं की, क्योंकि उसके अनुसार ये तो केवल क्रियाओं के पात्र और विधियाँ हैं जिनसे कथा के प्रकार्यों को जोड़ा गया है। उसने सात प्रकार के पात्र बताए हैं। प्रॉप ने कथा के वाक्यों के विश्लेषण के माध्यम से उनके आदि रूप तक पहुँचने का प्रयास किया है। उसने यह सिद्ध किया कि कथा के चरित्रों और उनके प्रकार्यों के आधार पर कथा की आन्तरिक संरचना को समझा जा सकता है और ऐसे सामान्य बिन्दु या मूल तत्त्व खोजे जा सकते हैं जिनके आधार पर दुनिया भर की लोककथाओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

क्लॉद लेवि-स्ट्रॉस ने भी लोककथाओं और मिथकों को अपने अध्ययन का आधार बनाया, लेकिन वह मिथकों के रूप के स्थान पर उनके सांस्कृतिक मूल को खोजने में प्रवृत्त हुआ। वह मिथकों के विश्लेषण को मनुष्य के मस्तिष्क के विश्लेषण तक ले गया। वह सर्वप्रथम मिथकीय आख्यान को एक-एक वाक्य में सीमित छोटी-छोटी इकाइयों (मिथीम्स) में विभाजित करता है। यह विभाजन कथा-पात्रों की क्रियाओं के आधार पर न होकर उनके सम्बन्धों के आधार पर होता है। ये मिथिम ही मिथक का कूट होते हैं, इनके खुलने से ही मिथकीय आख्यान का अर्थ भी खुलता है। यह बहुत जटिल कार्य है, लेकिन लेवि-स्ट्रॉस ने मानव-जीवन की सांस्कृतिक जड़ों की खोज में इस संरचना का महत्त्व स्थापित किया और उसकी विविधता को समझने का प्रयास किया। उसने बताया कि हम मिथक की भाषा या संस्कृति को भले ही न जानते हों, लेकिन मिथक सदैव मिथक ही रहता है और उसे मिथक के रूप में ही देखा-समझा जाता है।

4.1.7. पाठ-सारांश

संरचनावाद सांस्कृतिक गतिविधियों का अध्ययन और विश्लेषण एक विज्ञान की तरह वस्तुनिष्ठ ढंग से करता है। पहले उन तत्त्वों की खोज की जाती है जिनसे संरचना निर्मित हुई है और फिर समग्र संरचना के भीतर उन तत्त्वों के परस्परिक सम्बन्धों के ताने-बाने को समझने का उपक्रम। भाषा एक संरचना है। इसके भी सम्बन्ध-सूत्रों और प्रकार्यों की एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था कुछ संकेतों से रची-बुनी होती है। यह व्यवस्था व्यक्ति और परिवेश से जुड़ी होकर भी उससे निरपेक्ष होती है। भाषा के संकेतों में मूल्य भरे होते हैं, ये मूल्य चीज़ों में अन्तर्निहित मूल्यों के द्योतक होते हैं। इन्हीं मूल्यों से हम चीज़ों और घटनाओं का अर्थ समझते हैं, मानवीय संचार सम्पन्न होता है।

संरचनावाद की साहित्यिक फलश्रुति यह है कि रचना को एक संरचना की तरह ही देखा-समझा जा सकता है। चूँकि भाषा एक संरचना है और वही हमारे यथार्थ का निर्माण करती है, इसलिए जीवन और जगत् का

हमारा अवबोध भाषा की संरचना पर निर्भर है। साहित्यिक कृति लेखक, विषय-वस्तु या ऐतिहासिक कारणों से दूर केवल अपनी संरचना में अस्तित्वमान है। कृति की संरचना अर्थात् उसकी भाषा की संरचना को समझ जाइए, कृति स्वतः समझ आ जाएगी।

4.1.8. उपयोगी सन्दर्भ

4.1.8.1. हिन्दी पुस्तकें

1. तिवारी, डॉ॰ रामचन्द्र. (2016). भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिन्दी-आलोचना. वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978-81-7124-764-6
2. नारंग, गोपीचन्द. (2004). संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद और प्राच्य काव्यशास्त्र. नयी दिल्ली. साहित्य अकादमी. ISBN : 81-260-0798-2
3. भारद्वाज, डॉ॰ मैथिली प्रसाद. (1994). पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त. चण्डीगढ़. हरियाणा साहित्य अकादमी.

4.1.8.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Eagleton, Terry. (2003). Literary Theory: An Introduction, 2e. Minnesota. Blackwell Publishers Ltd. ISBN – 0-9166-1251-X
2. Habib, M. A. R. (2005) . A History of Literary Criticism: From Plato to the Present. Malden, USA. Blackwell Publishing. ISBN-13: 978-0-631-23200-1
3. Lodge, David & Wood, Nigel (ed).(2007). Modern Criticism and Theory : A Reader . New Delhi. Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd. ISBN : 978-81-317-0721-0
4. Selden, Raman (ed.).(2008)The Cambridge History of Literary Criticism(Vol. 8): From Formalism to Poststructuralism. Cambridge. Cambridge University Press. ISBN - O 521 3OOI3 4

4.1.8.3. इन्टरनेट स्रोत

1. www.britannica.com/science/structuralism-anthropology
2. www.britannica.com/topic/Prague_school
3. www.newworldencyclopedia.org.entry/Prague_Linguistic_Circle
4. www.newworldencyclopedia.org.entry/Structuralism

4.1.9. अभ्यास प्रश्न

01. संरचनावाद की परिभाषा बताते हुए उसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।
02. फर्दीनांद द सॉस्सुर को संरचनावाद का जनक क्यों कहा जाता है?
03. 'मिथक' और 'मिथीम्स' में क्या सम्बन्ध है ? स्पष्ट कीजिए।
04. 'बाइनरि ऑपोज़िशन' की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
05. साहित्यिक संरचनावाद पर एक निबन्ध लिखिए।
06. 'लाँग' (भाषा) और 'परोल' (वाक्) भाषा के प्रकार्य को समझने में किस प्रकार सहायक हैं ?
07. मिथकों और लोककलाओं को समझने के लिए व्लादिमिर प्रॉप क्या प्रक्रिया अपनाता है ?
08. संरचनावाद के विकास में रोमन यार्कॉब्सन के योगदान पर टिप्पणी कीजिए।
09. "साहित्यिक संरचनावाद अपने उपकरण और प्रविधियाँ भाषाविज्ञान से लेता है।" स्पष्ट कीजिए।
10. संरचनावाद के विकास में 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' के योगदान की चर्चा कीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 4 : आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

इकाई – 2 : शैलीविज्ञान

इकाई की रूपरेखा

4.2.00. उद्देश्य
4.2.01. प्रस्तावना
4.2.02. शैली और शैलीविज्ञान का अर्थ
- 4.2.02.1. शैली का अर्थ
- 4.2.02.2. वैयक्तिक शैली
- 4.2.02.3. शैलीविज्ञान का अर्थ

4.2.03. शैलीविज्ञान का उद्भव और विकास
- 4.2.03.1. 'रेटॉरिक' (वाग्मिता) और शैलीविज्ञान
- 4.2.03.2. रूपवाद और शैलीविज्ञान
- 4.2.03.3. भाषाविज्ञान और शैलीविज्ञान
- 4.2.03.4. शैलीविज्ञान और साहित्य-समीक्षा

4.2.04. शैलीविज्ञान का लक्ष्य
4.2.05. शैलीविज्ञान के प्रकार्य
- 4.2.05.1. विश्लेषण
- 4.2.05.2. संश्लेषण
- 4.2.05.3. निर्वचन

4.2.06. शैलीवैज्ञानिक युक्तियाँ और अभिव्यक्ति-माध्यम
4.2.07. शैलीविज्ञान की मुख्य अवधारणाएँ
- 4.2.07.1. नॉर्म या प्रतिमान
- 4.2.07.2. रजिस्टर या प्रयुक्ति
- 4.2.07.3. 'फ़ोरग्राउंडिंग' या अग्रप्रस्तुति
- 4.2.07.4. विचलन
- 4.2.07.5. समान्तरता

4.2.08. पाठ-सारांश
4.2.09. उपयोगी सन्दर्भ
- 4.2.09.1. हिन्दी पुस्तकें
- 4.2.09.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

4.2.10. अभ्यास प्रश्न

4.2.00. उद्देश्य

'आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ' खण्ड के अन्तर्गत पिछली इकाई में आप संरचनावाद के बारे में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई पाठ-केन्द्रित समीक्षा-पद्धति 'शैलीविज्ञान' पर आधारित है। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. शैली और शैलीविज्ञान का अर्थ समझ सकेंगे।
ii. शैलीविज्ञान के उद्भव और विकास को जान पाएँगे।
iii. शैलीविज्ञान की मुख्य अवधारणाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iv. शैलीविज्ञान के लक्ष्यों और प्रकार्यों को जान पाएँगे।

4.2.01. प्रस्तावना

पिछली इकाई में संरचनावाद के बारे में पढ़ते समय हम जान चुके हैं कि भाषा का वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है और विशिष्ट उपकरणों के प्रयोग द्वारा उसकी साहित्यिक अर्थवत्ता का उद्घाटन भी किया जा सकता है। जिन पद्धतियों में कृति का विवेचन-मूल्यांकन रूप, संरचना, शैली आदि विशुद्ध भाषिक या साहित्यशास्त्रीय नियमों के आधार पर किया जाता है उनमें रूपवाद, संरचनावाद, विखण्डनवाद और शैलीविज्ञान प्रमुख हैं। प्रस्तुत इकाई में आप पाठ-केन्द्रित समीक्षा-पद्धति 'शैलीविज्ञान' के बारे में पढ़ेंगे। शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का एक अंग या शाखा माना जाता है। भाषा के विभिन्न तत्त्वों को विशेष ढंग से रचना में प्रयुक्त करते हुए उसके अर्थ और महत्त्व को स्थापित करना शैलीविज्ञान का कार्य-क्षेत्र है। हम यहाँ विचार करेंगे कि शैली और शैलीविज्ञान का अर्थ क्या है और रचना के मूल्यांकन मेंउसका क्या योगदान है।

4.2.02. शैली और शैलीविज्ञान का अर्थ

विश्व की भाषाओं और साहित्य पर कभी कम तो कभी ज़्यादा विचारों का प्रभाव हमेशा रहा है। विचारों पर अधिक बल दिए जाने के कारण कृति के आभ्यन्तर गुणों और विशेषताओं का विश्लेषण पूरी तरह नहीं हो पाता है। कृति के आन्तरिक पक्षों के विश्लेषण के आधार पर उसके मूल्यांकन की परम्परा भी बहुत पुरानी है। बीसवीं सदी में कृति के आन्तरिक पक्षों को भाषा और साहित्य के केन्द्र में लाने के लिए शैली शब्द सामने आया और इसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए शैलीविज्ञान का उदय हुआ। शैलीविज्ञान को समझने के लिए इसके शाब्दिक अर्थ और विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न परिभाषाओं का अवलोकन यहाँ उपयुक्त होगा।

4.2.02.1. शैली का अर्थ

शैली भाषा का प्रभावी प्रयोग है, चाहे वक्तव्य देना हो या भावनाओं को उभारना हो, सबसे पहले यह तथ्यों को स्पष्टता और संक्षिप्तता के साथ प्रकट करने की शक्ति है। शैली अंग्रेज़ी शब्द 'स्टाइल' का हिन्दी

रूपान्तरण है। अंग्रेज़ी शब्द 'स्टाइल' की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'स्टिलस' से हुई है, जिसका अर्थ कलम होता है जिसे रोमन लोग मोम की पट्टिकाओं पर लिखने के लिए काम में लेते थे। समय के साथ इसके अनेक अर्थ निकलते गए जिसमें प्रत्येक अर्थ भाषा के विशेष तत्त्व और उसके बोलने के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। भाषाविज्ञान और साहित्य में इस शब्द का प्रयोग लेखक विशेष द्वारा अपनी रचना में पाठक को प्रभावित करने हेतु भाषा के तरीक़ों के लिए होता है। शैली विषय-प्रतिपादन की विशिष्ट तकनीक है, इसलिए विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति विशिष्ट शब्दावली, वाक्य-विन्यास, शब्दों के उतार-चढ़ाव, उच्चारण, पदक्रम और अंदाज़ में ही सम्भव है। शैली भाषा के चयन और उसे प्रयोग में लेने की व्यक्ति और विषयसापेक्ष प्रविधि है। शैली को अधिक व्यवस्थित ढंग से समझने के लिए आइये, विद्वानों द्वारा दी गई शैली की कुछ परिभाषाओं पर विचार करें –

"शैली गहराई है।"

– डर्बिशायर

* * *

"शैली विचलन है।"

– एंक्विस्ट

* * *

"शैली ही व्यक्ति है।"

– बुफ़ों

* * *

"शैली भाषा का एक गुण है जो लेखक विशेष के भावों और विचारों, अथवा भावों और विचारों की व्यवस्था का सम्प्रेषण करती है।"

– मिडल्टन मरी

* * *

"शैली भाषा की अव्यक्त विशेषताओं का चयन है।"

– ब्लूमफ़ील्ड

* * *

"शैली रूप या अभिव्यंजना का पर्याय है और इसलिए यह एक अनावश्यक शब्द है।"

– क्रोचे

* * *

"शैली भाषिक सम्भावनाओं में व्यक्तिगत चयन और चयन के प्रतिरूपों की उपज है।"

– चैटमैन

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में सामान्य बात यह है कि शैली विशेषताओं का एक समूह है जिसके आधार पर एक लेखक या वक्ता को दूसरे लेखक या वक्ता से या एक वर्ग के अन्तर्गत उपवर्ग या समुदाय को दूसरे उपवर्ग या समुदाय से अलग पहचाना जा सकता है। इन विशेषताओं की पहचान उस लेखक या वक्ता और उपवर्ग के भाषाई साधनों के विश्लेषण द्वारा की जा सकती है। देखा जा सकता है शैली का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के रूप से है, उसकी अन्तर्वस्तु से नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि लेखक या वक्ता अपने मन्तव्य को शैली की भिन्नता के आधार पर कितने प्रभावी ढंग से प्रकट कर पाता है।

संचार का एक महत्त्वपूर्ण साधन होने के कारण भाषा को व्यावहारिक दृष्टिकोण से समझने की कोशिश की गई है। जब हम अपने दैनिक कार्यों और विशेष सामाजिक या व्यावसायिक कार्यों के सिलसिले में अन्य लोगों से वार्तालाप करते हैं, पत्राचार करते हैं तब हम जाने-अनजाने विचार और भाषा की कुछ तकनीकों और विधियों का प्रयोग करते हैं। हम अपने वाचिक और लिखित संचार में प्रभाव पैदा करने या अपने मंतव्यों को स्पष्ट करने के लिए अपनी एक ही बात को अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। यही शैली है – 'विषय का अर्थ स्पष्ट करने और उसे सम्प्रेषणीय बनाने के लिए भाषा का विविधरूपी प्रयोग'।

4.2.02.2. वैयक्तिक शैली

आई. आर. गाल्पेरिन के अनुसार "वैयक्तिक शैली एक विशेष लेखक से सम्बन्धित भाषिक इकाइयों, अभिव्यक्ति-माध्यमों और शैलीवैज्ञानिक युक्तियों का विलक्षण सामंजस्य है, जो उस लेखक के कार्य को आसानी से पहचानने योग्य बना देता है।"

शब्दों की व्यवस्था का ऐसा ढंग जो लेखक के व्यक्तित्व तथा उसके विचारों और मंतव्यों को सही प्रकार से अभिव्यक्त करे, उस लेखक की शैली कहलाती है। लेखक या वक्ता के विचारों को सर्वाधिक पूर्णता के साथ प्रकट करने वाली शैली सबसे अच्छी शैली मानी जाती है। शैली दो तत्त्वों के मेल से बनती है – अभिव्यक्त किये जाने वाले विचार और लेखक की विशिष्टता। शैली का व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ सम्बब्ध होता है। शैली से लेखक या वक्ता के व्यक्तित्व की पहचान भी हो जाती है, विशेष शैली से विशेष लेखक या वक्ता को जाना जाता है। श्रोता या पाठक किसी भी लिखित या मौखिक अभिव्यक्ति के वाक्य-विन्यास, शब्दों के उतार-चढ़ाव, उच्चारण, क्रम और अंदाज़ में कोई भी परिवर्तन करके उस अभिव्यक्ति का वास्तविक अर्थ ग्रहण नहीं कर सकता। अभिव्यक्ति में शब्द व्यवस्था को समझना ही पर्याप्त नहीं होता है, बल्कि लक्ष्यार्थ को ग्रहण करना ज़रूरी होता है। इस दृष्टि से, व्यक्तित्व की भिन्नता की तरह शैली में भी भिन्नता होती है; न दो व्यक्ति एक जैसे होते हैं और न दो शैलियाँ।

एक प्रतिभाशाली लेखक या कुशल वक्ता हमें अपने अनुभवों और अभिव्यक्तियों में सहभागी बना देता है। यह सह-अनुभव उसके द्वारा भाषाई साधनों के विशिष्ट प्रयोग से होता है और हमें इसका एहसास नहीं होता है कि वह आदतन या जानबूझकर इन साधनों का प्रयोग कर रहा है। अतः जिसे लेखक या वक्ता की व्यक्तिगत शैली

कहा जाता है वह उस लेखक या वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषाई इकाइयों, अभिव्यक्ति के साधनों और शैलीगत उपकरणों का विलक्षण संयोजन है जो उसकी अभिव्यक्ति को दूसरों से अलग और विशिष्ट बनाता है। व्यक्तिगत शैली का पारम्परिक और समकालीन शैली से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। व्यक्तिगत शैली पहले से प्रचलित और मान्यताप्राप्त मानकों से उचित विचलन की छूट लेती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रक्रिया में स्थिर मानकों का सही और पूर्ण ज्ञान अनिवार्य है। चयन या भाषा का साभिप्राय प्रयोग तथा चुने गए तत्त्वों के प्रयोग का ढंग वैयक्तिक शैली के मुख्य गुण हैं।

4.2.02.3. शैलीविज्ञान का अर्थ

रिफ़ातेर के अनुसार "शैलीविज्ञान सन्देश के प्रभावों, संचार-क्रिया का परिणाम और इसके ध्यानाकर्षण प्रकार्य का भाषाविज्ञान है।"

किसी साहित्यिक विधा या लेखक-विशेष की रचनाओं की शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन शैलीविज्ञान है। साहित्यिक भाषा का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण 'शैलीविज्ञान' है। शैलीविज्ञान भाषा के किसी भी रूप के विभिन्न तत्त्वों का अध्ययन है, साहित्य की इसमें कोई विशेष भूमिका नहीं है। शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में परिभाषित किया जाता है, जिसमें भाषा की शैली का व्यवस्थित विश्लेषण किया जाता है और यह देखा जाता है कि साहित्यिक रचनाओं की विधा, परिवेश और रचनाकर के अनुसार इसमें क्या परिवर्तन घटित होते हैं ? शैली के विश्लेषण का अर्थ कृति की रूपात्मक विशेषताओं का व्यवस्थित अध्ययन करते हुए उस कृति के मूल्यांकन में इन विशेषताओं की सार्थकता निर्धारित करना है।

शैलीविज्ञान के प्रति अलग-अलग परिप्रेक्ष्य के कारण इसकी परिभाषाएँ भी भिन्न-भिन्न ढंग से की गई है। शैली को व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का प्रकार, बोलने-लिखने का अलग ढंग या सामान्य ढंग से व्यतिक्रम आदि अनेक तरह से इसे परिभाषित करने के प्रयास हुए हैं। रोमन याकॉब्सन और इल्या रोमनोविच गाल्पेरिन जैसे अनेक विद्वान शैलीविज्ञान को अलग अनुशासन न मानकर उसे भाषाविज्ञान की एक शाखा मानते हैं। याकॉब्सन प्रस्ताव करता है कि सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र को इसके अन्तर्गत माना जाना चाहिए – "भाषाविज्ञान शाब्दिक संरचना का सार्वभौमिक विज्ञान है। अतः साहित्यालोचन तक को इसका अंग कहा जा सकता है।" कई विद्वान शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का अंग या शाखा न मानकर एक स्वतन्त्र अनुशासन मानते हैं। इस्त्वान उलमान के शब्दों में "ये सब शैली के कुछ विशिष्ट तत्त्वों का अस्तित्व मानते हैं और उसे भाषा से अलग करते हैं। शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान का एक प्रकार या उसकी शाखा मात्र नहीं है, बल्कि एक समानान्तर अनुशासन है जो अपने दृष्टिकोण से उन्हीं तथ्यों का अनुसंधान करता है।"

शैलीविज्ञान के अध्ययन में साहित्यिक रचनाओं पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण इसे कुछ वैकल्पिक नाम भी दिए हैं, जैसे साहित्यिक भाषाविज्ञान, आलोचनात्मक भाषाविज्ञान, साहित्यिक अर्थविज्ञान और साहित्यिक व्यावहारवाद आदि। इन नये-नये नामकरणों का अन्तर्निहित अर्थ शैलीविज्ञान के सभी प्रकार्यों को एक

उचित नाम देना तथा यह दिखाना कि शैलीविज्ञान केवल भाषाविज्ञान के रूपकात्मक तत्त्वों के उद्घाटन का अनुशासन नहीं है।

शैलीविज्ञान साहित्यिक रचनाओं के विवेचन में भाषाविज्ञान की वैज्ञानिक खोजों और विधियों का प्रयोग करता है। भाषाविज्ञान का अर्थ भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है।

4.2.03. शैलीविज्ञान का उद्भव और विकास

शैलीविज्ञान का विकास बीसवीं सदी में हुआ। शैली शब्द का इतिहास इससे बहुत पुराना है; इसका प्रयोग प्राचीन काव्यशास्त्र में अनेक सन्दर्भों में हुआ है। शैलीविज्ञान का उद्देश्य यह विश्लेषण करना है कि साहित्य की तकनीकी विशेषताओं, जैसे वाक्य-गठन, रूप-रचना आदि का उसके अर्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है, अर्थात् तकनीकी रूप में परिवर्तन होने से साहित्य का अर्थ और प्रभाव किस तरह परिवर्तित होते हैं।

शैलीविज्ञान का उद्भव संरचनावाद के उद्भव से अधिक विविधतापूर्ण रहा है। शैलीविज्ञान का अर्थ किसी सैद्धान्तिकी के स्थान पर अध्ययन के एक क्षेत्र का संकेत करता है। सॉस्सुर का 'द्विविभाजन', ब्लूम्सफील्ड का 'वर्गीकरण' और चोम्स्की का 'रूपान्तरण' आदि अनेक प्रविधियों का प्रयोग साहित्यिक रचना के विश्लेषण के लिए किया जाता है। यूरोप का भाषाशास्त्रीय शैलीविज्ञान लियो स्पिट्ज़र और एरिक ऑवेर्बाख़ के कार्यों में विकसित हुआ है। अमेरिकी शैलीविज्ञान एक प्रकार से अलग-अलग शैलियों का संकलन है, जिसमें सैम्युअल आर. लेविन, सीमूर चैटमैन, माइकल रिफ़ातेर और आन बानफ़ील्ड का योगदान है। इस धारा पर याकॉब्सन के भाषाविज्ञान का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। ब्रिटेन के शैलीविज्ञान में माइकल हैलिडे के संरचनात्मक व्याकरण और प्रकार्यवाद का प्रभाव बहुत गहरा है। उसके 'लिंग्विस्टिक फंक्शन' की इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। स्पीच एक्ट थियरी (वाक्-क्रिया या वाग्व्यापार सिद्धान्त) जैसे भाषाविज्ञान पर आधारिक दार्शनिक चिन्तन में भी साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण के सूत्र दिए गए हैं। साहित्यिक रचना के किसी भी भाषिक तत्त्व (जैसे वाक्य-विन्यास, स्वर, स्वनिम, शब्दावली आदि) का अध्ययन शैलीविज्ञान के अन्तर्गत आता है। छन्दशास्त्र एक ऐसा क्षेत्र है जो शैलीविज्ञान और भाषाविज्ञान की सन्धिरेखा पर स्थित है।

चार्ल्स बैली की पुस्तक 'त्रेते द स्तिलिस्तिक फ्रॉन्से' (1909) में सॉस्सुर के भाषाविज्ञान की कड़ी के रूप में शैलीविज्ञान का प्रस्ताव किया गया। बैली के अनुसार सॉस्सुर का भाषाविज्ञान व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों की पूरी व्याख्या नहीं कर सकता। बैली का प्रस्ताव प्राग लिंग्विस्टिक स्कूल के उद्देश्य से मिलता है। रूसी रूपवाद की अवधारणाओं का विकास करते हुए प्राग स्कूल ने 'फ़ोरग्राउंडिंग' की अवधारणा का निर्माण किया जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि काव्यभाषा साधारण भाषा से अलग पृष्ठभूमि की भाषा होती है, समान्तरता या विचलन के माध्यम से। यह पृष्ठभूमि की भाषा स्थिर नहीं होती है और साहित्यिक और ग़ैर-साहित्यिक भाषा के सम्बन्ध बदलती रहती है।

शैलीविज्ञान एक व्यापक शब्द है जिसका अलग-अलग भाषा-वैज्ञानिकों ने अलग-अलग अर्थ किया है। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि यह शैली का अध्ययन है। चार्ल्स बैली ने शैली को भाषा के संरचनात्मक आधार पर समझाते हुए सामान्य भाषाविज्ञान की एक अलग शाखा का प्रस्ताव किया जिसे बाद में 'लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स' कहा गया।

4.2.03.1. 'रेटॅरिक' (वाग्मिता) और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान प्राचीन अनुशासन 'रेटॅरिक' (वाग्मिता) का आधुनिक रूप है। 'रेटॅरिक' या 'वाग्मिता' लोगों को अपने लिखित या वाचिक संचार को प्रभावी और सम्प्रेषणीय बनाने की विद्या थी। इसमें सिखाया जाता था कि अपनी भाषा में किन युक्तियों और व्याकरणिक कोटियों का विशेष ढंग से प्रयोग करने पर भाषा के स्वरूप में सार्थक परिवर्तन आता है और वह अधिक प्रभावशाली बनती है। पश्चिमी दुनिया में 'रेटॅरिक' का प्रशिक्षण लोगों के सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से उनकी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने का महत्त्वपूर्ण माध्यम रहा है। लेकिन कालान्तर में यह विद्या अपने मूल लक्ष्य से भटक कर भाषा और वाणी के सतही तत्त्वों के विश्लेषण तक सिमट गई, जिससे इसमें यान्त्रिकता आ गई।

उन्नीसवीं सदी में 'रेटॅरिक' धीरे-धीरे भाषाविज्ञान का अंग बनकर उसमें समाहित हो गया। उन्नीसवीं सदी तक भाषाविज्ञान वस्तुत: 'भाषाशास्त्र' था, जिसके अन्तर्गत भाषा के उद्‌भव और विभिन्न भाषाओं के विकास तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता था। इस ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अलग हटकर बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भाषा को एक संरचना की तरह देखने की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, पारम्परिक विद्या 'रेटॅरिक' नये अवतार में प्रकट हुई। 'रूसी रूपवाद' इसका नया ठिकाना था।

4.2.03.2. रूपवाद और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान की जड़ें रूपवादी 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' और इसके मुख्य चिन्तक रोमन याकॉब्सन के कार्यों में फलित भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन 'भाषाविज्ञान' में हैं। रूपवादी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक भाषा के तत्त्वों और विशेषताओं को अलग करना तथा यह देखना था कि 'विपरिचयकरण' की अवधारणा कला और साहित्य में कृति-विशेष के सौन्दर्यात्मक मूल्य के निर्धारण में कितनी महत्त्वपूर्ण है। भाषा-वैज्ञानिक रोमन याकॉब्सन मॉस्को छोड़कर प्राग के रास्ते अमेरिका आ गया और यहाँ के विद्वानों के साथ मिलकर भाषाविज्ञान के नये अनुसंधान में लग गया। याकॉब्सन और अन्य विद्वानों ने मिलकर 1958 में अमेरिका के इंडियाना विश्वविद्यालय में एक कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया जिसका विषय था – 'कॉन्फ्रेंस ऑन स्टाइल।' इस कॉन्फ्रेंस की कार्रवाई का प्रकाशन 'स्टाइल इन लैंग्वेज़' शीर्षक से 1960 में हुआ। इसका सारांश यह था कि भाषा और साहित्य का वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ ढंग से अध्ययन करना 'भाषाविज्ञान' का विषय-क्षेत्र है। अपने समापन उद्‌बोधन में याकॉब्सन ने घोषणा की कि "काव्यशास्त्र शाब्दिक संरचना की समस्याओं को हल करता है और चूँकि भाषाविज्ञान शाब्दिक संरचना का विश्व-विज्ञान है, अतः काव्यशास्त्र को भाषाविज्ञान का अभिन्न अंग माना

जाना चाहिए।" इस घोषणा और 'स्टाइल इन लैंग्वेज़' पुस्तक से भाषा और साहित्य के विद्वानों में गहन वाद-विवाद शुरू हो गया जिसने भाषा और साहित्य के मध्य दूरियाँ पैदा कर दी। साहित्य के वस्तुनिष्ठ विवेचन के दावे बढ़ते गए जिनकी परिणति 'नव-शैलीविज्ञान, और 'नव-संरचनावाद' जैसे नये रुझानों के रूप में हुई।

4.2.03.3. भाषाविज्ञान और शैलीविज्ञान

संरचनावाद के अध्ययन में हमने देखा है कि भाषा की संरचना के आधार पर साहित्यिक कृति को समझा जाता है। वहाँ भाषा को ही साहित्य माना गया है। एक अन्य क्षेत्र जिसमें भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग करके रचना का अध्ययन किया जाता है, वह है 'शैलीविज्ञान'। भाषाविज्ञान के एक अंग के रूप में शैलीविज्ञान इस बात पर बल देता है कि साहित्य भाषा से ही बनता है, इसलिए वह भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को आदर्शात्मक प्रारूप की तरह लागू नहीं करता, बल्कि भाषा-संरचना की विशेषताओं के आधार पर उसके सिद्धान्तों का प्रयोग करता है। सैद्धान्तिक तौर पर शैली-वैज्ञानिक विश्लेषण में भाषिक तथ्यों की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि इसके तथ्य उस कृति में ही उपलब्ध होते हैं जिसका विश्लेषण किया जाता है। यहाँ भाषाविज्ञान से केवल विश्लेषण की विधियाँ ली जाती हैं। इसके विपरीत, आलोचक भाषाविज्ञान के सूत्रों के आधार पर कृति का विश्लेषण नहीं करके साहित्य-समीक्षा की अन्य अवधारणाओं का आधार ले सकता है, लेकिन उसकी भाषा का विश्लेषण करने में भाषाविज्ञान की अवधारणाओं और उपकरणों का प्रयोग कर सकता है। व्यावहारिक रूप से इन दोनों तरीकों को अलग-अलग करना इतना आसान नहीं होता है, इसलिए इन दोनों तरीकों का समन्वित प्रयोग होता है।

भाषाविज्ञान सॉस्सुर के समय से लेकर अब तक अनेक परिवर्तनों से गुज़रा है। सॉस्सुर की समस्या कि एक भाषा-वैज्ञानिक अपने अध्ययन-विषय को कैसे परिभाषित करे, अभी बनी हुई है। समाजशास्त्र, तन्त्रिकाविज्ञान और साइबरनेटिक्स में नये-नये रूपों में भाषाविज्ञान का प्रयोग और अनुसंधान हो रहे हैं लेकिन पहले से विद्यमान अनेक छोटे-छोटे और जटिल संरचनात्मक तत्त्व अधिक समस्याग्रस्त होते जा रहे हैं। स्वयं संरचनावाद में भाषाविज्ञान, साहित्य-समीक्षा और दूसरे अनुशासनों के सामाजिक स्वरूप के प्रति नया रुख़ अपनाया जा रहा है। इन परिवर्तनों ने भाषाविज्ञान और साहित्यिक अध्ययन के सम्बन्धों में भी परिवर्तन पैदा कर दिया है। जैसे-जैसे साहित्यिक विधियों, साहित्यिक विश्लेषण और साहित्यिक मानदण्डों का वैज्ञानिक महत्त्व कम होता जा रहा है, वैसे ही वैज्ञानिक प्रारूप के प्रति जागरूकता बढ़ रही है तथा उसकी सीमाओं और अन्तर्विरोधों को पहचानने की दिशा में सक्रियता बढ़ रही है।

4.2.03.4. शैलीविज्ञान और साहित्य-समीक्षा

प्रायः देखा गया है कि केवल भाषा-वैज्ञानिक उपादानों के प्रयोग से साहित्यिक रचना के मूल्यांकन का कार्य साहित्य में रुचि रखने वाले भाषा-वैज्ञानिक ही करते हैं, साहित्य के आलोचक इनका प्रयोग बहुत कम करते हैं। इसलिए शैली-वैज्ञानिक और साहित्य-समीक्षक दोनों का लक्ष्य भी अलग-अलग है। शैली-वैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य भाषा की प्रविधियों को समझना या किसी भाषिक सिद्धान्त की प्रामाणिकता के उदाहरण प्रस्तुत करना,

या फिर भाषा-शिक्षण के ऐसे सिद्धान्तों की खोज करना होता है जिनका प्रयोग किसी साहित्यिक रचना में हुआ है। शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का एक लक्ष्य वस्तुनिष्ठ ढंग से किसी साहित्यिक कृति के पाठ में ऐसे तत्त्वों की पहचान करना है जो उस कृति के महत्त्व के बारे में निर्णय करने में सहायक हो सके। यद्यपि इन प्रयासों से कृति के विश्लेषण और मूल्यांकन का कार्य पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि रचना के मूल्यांकन का कार्य सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के साथ इतनी मज़बूती से जुड़ा हुआ होता है कि इन भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों से उसका समग्र मूल्यांकन प्रभावित नहीं होता है। निपट भाषिक-मानों पर आधारित कृति-निर्णय कला के यान्त्रिक उत्पादन की राह ही आसान करता है, साहित्य की गुणवत्ता का विकास नहीं करता है।

व्यापक रूप से सामाजिक सन्दर्भों और परिवेशगत पहलुओं पर विचार न करते हुए शैलीविज्ञान एक तरफ़ संरचनावाद की तरह उन वर्णनात्मक उपकरणों से साहित्यिक रचना का विश्लेषण करता है, वहीं दूसरी तरफ़ यह सामाजिक-भाषिकी जैसे व्यावहारिक अनुशासनों की मान्यताओं को भी महत्त्व देता है। शैलीविज्ञान दूसरे अनुशासनों जैसे साहित्यिक अध्ययन, मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान की कई विधियों का संगम है। वह अपने विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की अपेक्षा प्रायः इन अनुशासनों के सिद्धान्तों और मॉडल को ही अपने अध्ययन के लिए काम में लेता है। इसमें उसका मुख्य ध्यान उस संचार-प्रक्रिया पर रहता है जो कृति को विचार के केन्द्र में लाती है। अपने विवेचन में कृति-बाह्य मानकों और सन्दर्भों को विचारणीय न बनाते हुए भी उसका ध्यान लेखक और रचना, पाठक और रचना तथा उस परिवेश पर भी रहता है जिसमें कृति की रचना होती है और उसे ग्रहण किया जाता है अर्थात् पढ़ा और समझा जाता है।

शैली-वैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत ठोस तथ्यों के आधार पर कृति का वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। व्यावहारिक भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में शैलीविज्ञान कृति का अध्ययन और व्याख्या उसकी भाषिक संरचना और ध्वनि संकेतों के आधार पर करता है। एक अध्ययन-विधि के रूप में यह भाषाविज्ञान और साहित्यिक आलोचना के समन्वय का कार्य करती है। शैलीविज्ञान के क्षेत्र में अधुनातन खोजों तथा आलोचनात्मक शैलीविज्ञान, बहुरूपात्मक शैलीविज्ञान और मध्यस्थ शैलीविज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ग़ैर-साहित्यिक रचनाएँ भी शैली-वैज्ञानिक के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि साहित्यिक रचनाएँ। एक अवधारणात्मक अनुशासन के तौर पर शैलीविज्ञान ऐसे नियमों की स्थापना करता है जिनके आधार पर व्यक्तियों और सामाजिक समूहों और समुदायों द्वारा भाषा-विशेष के प्रयोग को समझा जा सकता है। ये नियम साहित्यिक रचना, साहित्यिक विधाओं, लोककलाओं, बोलियों तथा आख्यानों के विश्लेषण और साहित्यिक आलोचना जैसे अनेक क्षेत्रों में लागू किए जा सकते हैं।

4.2.04. शैलीविज्ञान का लक्ष्य

शैलीविज्ञान का प्राथमिक लक्ष्य भाषाविज्ञान के उपकरणों के माध्यम से कृति के पाठ के प्रभाव का विवेचन करना है। साहित्यिक आलोचकों के पास चूँकि वह शब्दावली नहीं होती और न ही उनकी वैसी इच्छा होती है जिससे कि वे कृति की वैज्ञानिक व्याख्या कर सकें। उनका ध्यान मुख्य रूप से ऐसे साहित्येतर कारकों पर

रहता है जो कृति की भाषा से सम्बन्धित नहीं होते हैं। साहित्य-समीक्षकों द्वारा पारम्परिक 'रेटॅरिक' के माध्यम से भाषा का विश्लेषण करने के प्रयास किए जाते हैं लेकिन समकालीन रचनाओं के विश्लेषण में 'रेटॅरिक' एक अप्रासंगिक और अनुपयुक्त उपकरण सिद्ध हुआ है। भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान के अनुसन्धानों ने ऐसी कई विधियाँ विकसित की हैं जिनके आधार पर कृति की भाषिक संरचना का बहुत गहराई से अध्ययन-विश्लेषण किया जा सकता है। शैलीविज्ञान इन सभी विधियों का उपयोग करते हुए कृति की अनेक साहित्यिक विशेषताओं, जैसे कविता के संगीत और आधुनिक कथा-साहित्य में आख्यानों की जटिलताओं आदि, की व्याख्या करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

शैलीविज्ञान साहित्य के विश्लेषण तक ही सीमित नहीं है। इसे सामान्य गद्य, पत्रकारिता, राजनैतिक भाषणों, धार्मिक प्रवचनों और विज्ञापन आदि अनेक वाचिक और लिखित अभिव्यक्तियों के विवेचन के लिए प्रयोग में लिया जाता है। शैलीविज्ञान का लक्ष्य साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त विशेष भाषा का विश्लेषण नहीं है, बल्कि भाषा के किसी भी रूप की तकनीकी विशेषताओं का अनुसंधान इसका लक्ष्य है।

शैलीविज्ञान का मुख्य सिद्धान्त या नियम यह है कि भाषा का अर्थ रचनाकर द्वारा जाने-अनजाने प्रयुक्त भाषाई विविधताओं से प्रकट होता है। शैलीविज्ञान ने ऐसी विश्वासोत्पादक प्रविधियों का एक विस्तृत भाषिक तन्त्र विकसित किया है, जो पारम्परिक 'रेटॅरिक' की तुलना में अधिक वैज्ञानिक और सटीक है। शैलीविज्ञान के इस उपयोग से आलोचक रचना के इस विश्वासोत्पादक गुण को पहचाने में सफल हुए हैं। कृति के इन विश्वासोत्पादक गुणों की खोज के बाद शैलीविज्ञान में भाषा के अधिक सूक्ष्म और दक्ष उपयोग हेतु भाषा की अन्तर्निहित सम्भावनाओं का मार्ग खुला है। 'क्रिटिकल डिसकोर्स अनैलिसिस" शैलीविज्ञान की प्रविधियों पर आधारित ऐसा ही एक नया क्षेत्र है।

4.2.05. शैलीविज्ञान के प्रकार्य

शैलीविज्ञान के मुख्य रूप से दो अन्तर्निर्भर प्रकार्य हैं। पहला, यह विशेष भाषा-माध्यम के विभिन्न उपकरणों और उनके उन सत्तामूलक तत्त्वों की खोज करता है जो उक्ति या कथन के वाँछित प्रभाव को सुनिश्चित करते हैं। और दूसरा, यह उन विशेष पाठों (कृतियों) और वाग्व्यापारों का अनुसंधान करता है जो भाषा के चयन और व्यवस्था के कारण भाषा-संचार के अन्य माध्यमों से अलग होते हैं। शैलीविज्ञान के ये दोनों प्रकार्य अनुसंधान के दो अलग क्षेत्रों के रूप में पहचाने जा सकते हैं। भाषा-माध्यम के उपकरणों का विश्लेषण और उनके सत्तामूलक तत्त्वों का उद्घाटन तभी किया जा सकता है जब उन्हें ऐसी व्यवस्था में रखकर देखा जाए जिससे माध्यमों का सह-सम्बन्ध स्पष्ट होता हो। कृतियों का विश्लेषण तभी सम्भव है जब उनके भाषिक अवयवों को उनकी अन्तःक्रिया में प्रस्तुत किया जाए ताकि कृति विशेष की संरचना की अटूट एकता और स्पष्टता प्रकट हो जाए।

शैलीविज्ञान साहित्य का भाषिक अध्ययन करता है। वह लेखक विशेष की भाषा-प्रकृति और लेखन-शैली का अध्ययन करता है। वह हमें लेखक के उस मन्तव्य को समझने में सहायता करता है जिस मन्तव्य से लेखक ने पाठ या सन्देश रचा है। शैलीविज्ञान उस प्रकार्य की सार्थकता में भी अपना ध्यान लगाता है जो चुनी हुई शैली से पूरा होता है। शैलीविज्ञान कृति के सौन्दर्य और रूप का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसमें अन्तर्निहित अर्थ का उद्घाटन करता है। इस दृष्टि से इसके तीन महत्त्वपूर्ण प्रकार्य माने गए हैं – विश्लेषण, संश्लेषण और निर्वचन।

4.2.05.1. विश्लेषण

कृति के विभिन्न तत्त्वों या घटकों पर अलग-अलग विचार करते हुए उसके अर्थ और महत्त्व को प्रकट करने की प्रक्रिया विश्लेषण कहलाती है। इसमें यह देखा जाता है कि वाक्य-संरचना और शब्द-चयन की दृष्टि से पाठ में क्या महत्त्वपूर्ण है जो उसके अर्थ को विशिष्ट बनाता है। रचना की भाषिक संरचना और उसके विविध स्तरों के अनुसंधान से ही उसके सभी सम्भाव्य अर्थ सामने आते हैं।

4.2.05.2. संश्लेषण

कृति के विभिन्न तत्त्वों के विश्लेषण के बाद उन तत्त्वों के समन्वित रूप का अध्ययन भी अर्थ निर्धारण की दृष्टि से शैलीविज्ञान का मुख्य प्रकार्य है। विश्लेषण की प्रक्रिया में उपलब्ध कृति के अर्थ के साथ भाषिक इकाइयों और सम्पूर्ण कृति में अन्विति के आधार पर कृति के अर्थ को सभी आयामों में उद्घाटित किया जाता है। कृति के विविध तत्त्वों और अंगों को सुसम्बद्ध रूप में विश्लेषित किया जाता है और उसके सम्बन्ध में मूल्य-निर्णय दिया जाता है।

4.2.05.3. निर्वचन

निर्वचन (Interpretation) शैलीविज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य है। इसके अन्तर्गत शब्दों के मुख्य और गौण अर्थ की खोज, वाक्य-रचना की प्रकृति तथा अन्य संरचनात्मक तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों की पहचान करके कृति का अर्थ-विश्लेषण किया जाता है। यह कृति के बाह्य रूप के विश्लेषण से चलकर उसके आन्तरिक रूप तक पहुँचने और उसका वास्तविक अर्थ ग्रहण करने और उसके मर्म को उद्घाटित करने का कार्य है।

शैलीविज्ञान का सार और उपयोगिता यह है कि यह कृति के पाठ और उक्तियों की हमारी तात्कालिक समझ को बढ़ाता है जिससे हम उन्हें सही अर्थों में समझें और उनका आनन्द प्राप्त करें। शैली की अवधारणा और भाषा में शैलीगत भिन्नताएँ इस विचार पर आधारित हैं कि भाषा की व्यवस्था में विषय को एक से अधिक भाषिक रूपों में प्रकट किया जा सकता है। शैली को भाषिक माध्यमों के विकल्प, भाषा के प्रयोग के मानकों से विचलन तथा भाषिक रूपों की बारम्बारता और तुलना माना जा सकता है। शैलीविज्ञान भाषिक विविधता और शैली के

व्यापक क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है जिनसे विभिन्न पाठों – लिखित और मौखिक, एकालाप या संवाद, औपचारिक या अनौपचारिक, वैज्ञानिक या धार्मिक आदि की रचना सम्भव होती है।

4.2.06. शैलीवैज्ञानिक युक्तियाँ और अभिव्यक्ति-माध्यम

वैयक्तिक शैली में सामान्य और विशेष दोनों तत्त्व शामिल होते हैं। यदि हम लेखक के चयन को पहचान कर उसका मूल्यांकन करें तो हम उसकी शैली के तत्त्वों को स्पष्ट कर सकते हैं तथा उसकी शैली की विशिष्टता बता सकते हैं। भाषा-वैज्ञानिक भाषाई साधनों की उन सम्भावनाओं को भी सामने ला सकता है जो अब तक अव्यक्त रहीं या कभी-कभी व्यक्त हुईं। एक लेखक की वैयक्तिकता शब्दों, वाक्यों और शैली के चयन में ही नहीं, बल्कि भाषाई साधनों के विशिष्ट प्रयोग में भी प्रकट होती है। भाषा के अभिव्यक्ति-माध्यम स्वनिमी, रूपगत, शाब्दिक, वाक्य-रचना और मुहावरों आदि से सम्बन्धित विभिन्न रूप होते हैं जो उक्ति के भावनात्मक और तार्किक रूप से सघन बनाने के लिए भाषा में उपस्थित होते हैं। ये भाषा के ठोस तत्त्व होते हैं। अभिव्यक्ति-माध्यम वे भाषिक माध्यम होते हैं जो भाषा के अंग होते हैं और शब्दकोशों में दर्ज़ होते हैं, इनके समानार्थी भी हो सकते हैं। शैलीवैज्ञानिक युक्तियाँ किसी भाषिक इकाई के संरचनात्मक या शब्दार्थ को प्रभावी बनाने की दृष्टि से सचेतन और जानबूझकर किए गए विशिष्ट प्रयोग होते हैं। ये पाठ में पहचान-चिह्न की तरह कार्य करती हैं। इनमें भाव या विचार से सम्बन्धित कुछ अतिरिक्त सूचना भी समाहित होती है। शैली-वैज्ञानिक युक्तियाँ भाषा के प्रयोक्ता की रचनात्मक योग्यता को भी दर्शाती है। ये विलक्षण और वैयक्तिक होती हैं। इनमें बहुत-सी सूचनाएँ होती हैं। इन्हें समझने के लिए पूरा ध्यान देना पड़ता है।

शैली-वैज्ञानिक युक्तियाँ और अभिव्यक्ति-माध्यम दोनों विशिष्ट उक्तियों को अग्रप्रस्तुत करने के माध्यम हैं ताकि उन उक्तियों को अधिक बल प्रदान किया जा सके, प्रमुखता से उभारा जा सके और उनमें अधिक सूचनाओं से भरा जा सके।

4.2.07. शैलीविज्ञान की मुख्य अवधारणाएँ

शैलीविज्ञान के स्वरूप के भलीभाँति समझने के लिए इसकी मुख्य अवधारणाओं का ज्ञान आवश्यक है। आइये, इन अवधारणाओं की चर्चा करें।

4.2.07.1. नॉर्म या प्रतिमान

शैलीविज्ञान का मुख्य प्रयोजन भाषा का विश्लेषण, विशेष रूप से भाषा की रचनात्मकता का विश्लेषण करना होता है। भाषा का विश्लेषण कृति का अर्थ ग्रहण करने, उसे समझने में हमारी बहुत सहायता करता है। शैलीविज्ञान कृति की बाह्य-संरचना का विश्लेषण करते हुए उसके प्रयोजन तथा लक्ष्यार्थ की खोज करता है। यह कृति का वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक अध्ययन करता है। यह अध्ययन कुछ निश्चित प्रतिमानों पर किया जाता है।

प्रतिमानों का आधार ग्रहण करने से कृति का विवेचन व्यक्तिनिष्ठ और असंगत होने से बच जाता है। शैलीविज्ञान में प्रयुक्त प्रतिमान भाषिक इकाइयों और व्याकरणिक कोटियों के आधार पर विकसित किए गए हैं।

बहुत से शैली-वैज्ञानिकों के अनुसार कोई भी साहित्यिक रचना अन्ततः एक भाषिक संरचना है। अतः साहित्य और भाषा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। कृति या पाठ की रूपगत विशेषताओं का अध्ययन शैलीविज्ञान की विषय-वस्तु है।

चुने गए तत्त्वों के प्रयोग से 'मानक' या 'प्रतिमान' की अवधारणा का गहरा सम्बन्ध है। प्रतिमान की अवधारणा का मुख्य सम्बन्ध साहित्यिक भाषा से होता है और इसमें एक स्वीकृत मानक का विचार और स्वीकृत मानकों की अस्थिरता का तथ्य भी अन्तर्निहित है। रूसी भाषावैज्ञानिक एल.वी. शेरबा ने लिखा है कि "मानकों के बारे में बात करते समय प्रायः लोग शैलीगत मानकों के बारे में भूल जाते हैं जो कि यदि अधिक नहीं तो अन्य मानकों के बराबर महत्त्वपूर्ण तो हैं ही।" इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक भाषा के कोई सार्वभौमिक स्वीकृत मानक नहीं हैं, बल्कि विभिन्न तरह के मानक हैं और ऐसे मानक भी हैं जिन्हें शैलीगत मानक कहा जाता है। यह माना गया है कि वाचिक और लिखित अभिव्यक्तियों के मानकों में अनेक तरह के भेद होते हैं। यह भी, कि साहित्यिक कृति और अन्य अभिव्यक्तियों के मानक अलग-अलग होते हैं।

प्रतिमान को कुछ भाषा वैज्ञानिक एक ऐसा नियन्त्रक मानते हैं जो चरों के समूह, भिन्नताओं की सीमाओं और स्वीकार्य और अस्वीकार्य चरों को नियन्त्रित करता है। ए. ई. डर्बिशायर के शब्दों में "प्रतिमान एक भाषागत अमूर्तिकरण है, भाषावैज्ञानिकों द्वारा सोचा हुआ एक विचार है और इसका अस्तित्व केवल उनके मस्तिष्क में है ... वास्तविक प्रयोग में निश्चित ही प्रतिमान जैसी कोई चीज़ नहीं पाई जाती है। यह ऐसा विचार है जिसे सूत्र के माध्यम से ही अभिव्यक्त किया जा सकता है, और यह विचार भाषा की शैलीगत विशेषताओं को उसमें से निकाल देने के बाद बची हुई भाषा के बारे में है।" इसका अर्थ यह है कि जिसे शैलीगत विशेषता कहा जाता है वह पहले ही स्थापित प्रतिमान से विचलन है। लेकिन यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि प्रतिमान से लगातार विचलन प्रतिमान के चरों के रूप में स्थापित हो जाते हैं क्योंकि वास्तविक शैलीगत विचलन विचलन न होकर भाषा के प्रयोग की प्रतिरूपी और अग्र-प्रस्तुत सामान्य घटना है। अतः कहा जा सकता है कि प्रतिमान विविधता की एकता है। समाज में सदैव भाषा के सम्बन्ध में यह ज्ञान विद्यमान रहता है कि उसका कौनसा रूप सुन्दर-सुगठित है तथा कौनसा रूप कुरूप-अगठित है। प्रतिमान को किसी भाषा में समय-विशेष में परिचालित ध्वनि, शब्द-समूह, रूप-रचना और वाक्य-गठन के प्रतिरूप के अचर या स्थिर रूप में समझा जा सकता है। इन प्रतिरूपों के चर कभी-कभी अचरों से अलग दिशा में चले जाते हैं, लेकिन वे अचरों द्वारा तय सीमा को कभी पार नहीं करते; यदि सीमा का उल्लंघन हो जाए तो वे भ्रामक और अस्वीकार्य हो जाते हैं। साहित्यिक भाषाओं का विकास यह दर्शाता है कि चर हमेशा अचर रूपों की धुरी के चारों ओर घिरे रहते हैं। चर, जैसा कि नाम से प्रकट होता है, कभी भी अचर से इतना अलग नहीं होते कि वे अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा कर सकें। यह अलग बात है कि वैयक्तिक शैली का अनुमान इसी आधार पर लगाया जाता है कि वह भाषा के प्रतिमान से कितनी अलग है। जी. सेंट्सबरी के अनुसार

शैली का असली रहस्य वाक्यांशों, वाक्यों और अनुच्छेदों की संरचना का निर्धारण करने वाले नियमों के उल्लंघन या उपेक्षा में प्रकट होता है।

4.2.07.2. रजिस्टर या प्रयुक्ति

पेशों, सेवाओं, समूहों और विषयों से जुड़ी हुई भाषिक विविधताओं को 'रजिस्टर' या प्रयुक्ति कहा जाता है। उदाहरण के लिए, क़ानून का रजिस्टर चिकित्सा के रजिस्टर से अलग होगा, और चिकित्सा का रजिस्टर शिक्षा से भिन्न होगा। इसे 'उपयोग के अनुसार विविधता' के रूप में समझा जा सकता है। शैलीविज्ञान के विकास में ब्रिटेन के शैली वैज्ञानिक माइकल हैलीडे का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। 1971 में लिखित 'लिंग्विस्टिक फंक्शन एंड लिट्रेरी स्टाइल : एन इंक्वाइरि इन्टू द लैंग्वेज़ ऑफ विलियम गोल्डिंगज़ द इन्हेरिटर्स' एक आधारभूत निबन्ध है। हैलीडे का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान भाषा और उसके परिवेश को जोड़ने के लिए 'रजिस्टर' शब्द का प्रयोग है। हैलीडे के अनुसार 'रजिस्टर' बोली से अलग होता है। बोली किसी विशेष भौगोलिक स्थान या सामाजिक समूह के विशेष प्रयोक्ता के आदतन भाषिक व्यवहार को दर्शाती है, जबकि 'रजिस्टर' प्रयोगकर्त्ता द्वारा विकल्प निर्धारण को बताता है। विकल्प तीन परिवर्तनीय तत्त्वों पर निर्भर करते हैं – फ़ील्ड या क्षेत्र (प्रतिभागी वास्तव में जिस विषय पर चर्चा करते हैं, वक्ता या लेखक का प्रयोजन अर्थात् सम्पूर्ण परिदृश्य जिसमें पाठ क्रियाशील होता है), टेनर या सम्बन्ध (विमर्श में कौन भाग ले रहा है, प्रतिभागियों के सामाजिक सम्बन्ध) और मोड या प्रकार (जिस माध्यम में संचार हो रहा है वाचिक या लिखित। भाषा किस उपयोग में ली जा रही है, पाठ का प्रकार्य आदि)। भाषाविज्ञान में रजिस्टर भाषा की विविधता का द्योतक है जिसका प्रयोग विशेष वर्ग द्वारा विशेष उद्देश्य के लिए या विशेष सामाजिक संरचना के किए किया जाता है।

4.2.07.3. 'फ़ोरग्राउंडिंग' या अग्रप्रस्तुति

किसी भी कलात्मक संचार में यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि कलाकृति किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित उस संचार-माध्यम के प्रतिमानों से विचलित होती है। समाज में यह मान्यता भी होती है कि यदि हम कलाकृति की सार्थकता और उसके मूल्य की परख करना चाहते हैं तो हमें उसके स्वाभाविक प्रतिरूप के स्थान पर रुचिकारक और विस्मयजनक तत्त्वों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। जी. लीच के शब्दों में "भाषा सम्बन्धी या सामाजिक रूप से स्वीकृत प्रतिमानों से यह विचलन 'अग्रप्रस्तुति' कहलाता है, जो पृष्ठभूमि में उभरे हुए चित्र का सादृश्य उपस्थित करता है।"

चित्रकला से सम्बन्धित अंग्रेज़ी शब्द 'फ़ोरग्राउंडिंग' के लिए हिन्दी के भाषा वैज्ञानिकों ने 'अग्रप्रस्तुति' शब्द प्रस्तावित किया है। कुछ विद्वान इसके लिए 'विशिष्टता' शब्द का प्रयोग भी करते हैं। इसका मूल शब्द चेक भाषा का Aktualisace है, जिसे प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल के मुकारोव्स्की ने प्रस्तावित किया था। अंग्रेज़ी में इसका 'फ़ोरग्राउंडिंग' शब्द के रूप में रूपान्तरण 1960 में पॉल गार्विन ने किया था। आस-पास के चित्रों या शब्दों के मध्य से किसी शब्द या चित्र को उभारना 'अग्रप्रस्तुति' है। यह सामान्य भाषा के प्रतिमानों की पृष्ठभूमि में

भाषाई संकेतों के प्रकट होने की घटना है। 'अग्रप्रस्तुति' भाषा के सभी स्तरों और प्रकारों में घटित हो सकती है। सामान्यतः इसका प्रयोग पाठ के महत्त्वपूर्ण अंशों को उभारने, उनमें विशेष अर्थ भरने या उन्हें यादगार बनाने के लिए किया जाता है।

प्राग स्कूल के भाषावैज्ञानिकों ने 'अग्रप्रस्तुति' को काव्यात्मक और ग़ैर-काव्यात्मक भाषा में भेदकारी कारक के रूप में साहित्यिक पाठ को अनपेक्षितता, असाधारणता और विलक्षणता प्रदान करने वाला माना है। जे. मुकारोव्स्की के अनुसार 'अग्रप्रस्तुति' भाषिक घटकों का सौन्दर्यात्मक रूप से साभिप्राय विरूपण है। इसका अर्थ यह है कि 'अग्रप्रस्तुति' साभिप्राय होती है तथा भाषिक घटकों का विरूपण 'अग्रप्रस्तुति' उत्पन्न करता है। मुकारोव्स्की ने बताया है कि 'अग्रप्रस्तुति' दैनिक बोलचाल की आम भाषा में भी हो सकती है जैसे वाचिक विमर्श या पत्रकारिता का गद्य, लेकिन यह अनायास और बिना किसी सुविचारित योजना या संरचना के होता है। साहित्यिक रचनाओं में 'अग्रप्रस्तुति' एक संरचना के तहत प्रयुक्त की जाती है, जिसमें एक व्यवस्था और अधिक्रम होता है। अर्थात् इसमें एक जैसे तत्त्वों जैसे स्वरों के प्रतिरूपों या सम्बन्धित उपमाओं की पुनरावृत्ति हो सकती है, तत्त्वों का एक समूह दूसरे समूह से अधिक प्रभावी हो सकता है। हैलिडे ने प्रभाविता (Dominance) और 'अग्रप्रस्तुति' में भेद करते हुए कहा है कि पाठ की सम्पूर्णता में उसके अर्थ से साभिप्राय जुड़ने पर ही प्रभाविता 'अग्रप्रस्तुति' होती है। वस्तुत: 'अग्रप्रस्तुति' किसी कृति के लिए पुनरावृत्ति, युग्मन, अनपेक्षित शाब्दिक अन्विति, वाक्य-संरचना में फेर-बदल आदि भाषिक उपकरणों का प्रयोग करते हुए ध्यानाकर्षण उपकरण के रूप में कार्य करती है।

'अग्रप्रस्तुति' स्वचालन की विरोधी अवधारणा है। कोई भी क्रिया जितनी ही स्वचालित होती है वह उतनी ही कम सचेतन रूप से संचालित होती है; वह जितनी अधिक अग्रप्रस्तुत होती है वह उतनी ही अधिक सचेतन होती है। 'अग्रप्रस्तुति' का अर्थ है योजना और व्यवस्था का उल्लंघन। साहित्य सहित सभी कलाओं की तकनीक चीज़ों को 'अपरिचित' बनाना, रूप को कठिन बनाना और अवबोध की कठिनाई व समयावधि बढ़ाना है क्योंकि अवबोध की प्रक्रिया अपने आप में एक सौन्दर्यात्मक लक्ष्य है जिसे सुदीर्घ होना चाहिए।

जी. लीच और एम. एच. शॉर्ट ने दो प्रकार की अग्रप्रस्तुति की पहचान की है – गुणात्मक अग्रप्रस्तुति और संख्यात्मक अग्रप्रस्तुति। गुणात्मक अग्रप्रस्तुति में भाषिक कोड या भाषा के पारम्परिक उपयोग अथवा दोनों के नियमों से विचलन होता है तथा संख्यात्मक अग्रप्रस्तुति में भाषा के कोड से विचलन न होकर भाषिक उक्तियों की अपेक्षित आवृत्ति से विचलन होता है। एक ही विचार या भाव को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न तरीक़ों अर्थात् भाषाई स्तरों में से लेखक या वक्ता अपनी आवश्यकता और पसंद के अनुसार कुछ खास तरीक़ों का चयन करता है। चयन के कई आधार होते हैं, जैसे समतुल्यता, सादृश्य, पर्यायता, विलोमता आदि। जब कोई लेखक लिखता है तब वह निरन्तर भाषिक चयन में डूबा रहता है। भाषा-व्यवस्था के बाहर और भीतर उसके चयन के अनन्तर अग्रप्रस्तुति घटित होती है। अग्रप्रस्तुति के दो मुख्य प्रकार बताए गए हैं– समान्तरता और विचलन। साधारण शब्दों में अनपेक्षित नियमितता को समान्तरता और अनपेक्षित अनियमितता को विचलन कहा जा सकता है। जैसा कि अग्रप्रस्तुति की परिभाषा से स्पष्ट है कि वस्तुत: ये सापेक्ष अवधारणाएँ हैं।

4.2.07.4. विचलन

साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन के लिए 'विचलन' की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। यह सभी भाषिक स्तरों पर सक्रिय होता है। शैलीगत रूप में विशिष्ट होने के लिए भाषा के किसी तत्त्व को मानक से विचलित होना होता है। विचलन प्रतिमान के अतिक्रमण से पैदा होता है। जी. लीच कहता है कि यह प्रतिमान सम्पूर्ण भाषा के लिए कार्य करने वाला निरपेक्ष प्रतिमान भी हो सकता है और अध्ययन के लिए उपलब्ध पाठों में तुलनात्मक रूप में उपलब्ध सापेक्ष प्रतिमान भी हो सकता है। मुकारोव्स्की ने दिखाया है कि साहित्यिक प्रोक्ति में विचलन की व्याख्या अकेले में नहीं की जा सकती, बल्कि उसे नियमित और अनियमित दोनों तरह के अन्य भाषिक तत्त्वों के साथ सार्थक प्रतिरूप बनाते हुए एक सम्पूर्णता के निर्माण की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

विचलन को भाषा-व्यवस्था या कोड के साथ-साथ उनके उपस्थित होने के सन्दर्भ की दृष्टि से समझा जाना चाहिए। इसलिए लीच ने साहित्यिक कृति में अग्रप्रस्तुत तत्त्वों की संगति की खोज दो स्तरों पर की है। क्षैतिज स्तर पर यह विचलनों के बीच सम्बद्धता के रूप में तथा लम्बवत् स्तर पर विचलनों के मध्य समनुरूपता के रूप में अग्रप्रस्तुति होती है। जब विचलन अग्रप्रस्तुति की समनुरूपता पैदा करने के लिए आपस में जुड़ते हैं तब वे पाठ का अन्तर-पाठीय प्रतिरूप बनाते हैं।

4.2.07.5. समान्तरता

रचना में किसी एक ही ध्वनि, रूप-रचना, शब्द या वाक्य-गठन का बार-बार प्रयोग समान्तरता कहलाती है। किसी एक या अधिक भाषिक इकाई का आवर्त्तन बार-बार हो कि पाठक का ध्यान रचना के अभीष्ट अर्थ की ओर खिंच जाए। अग्रप्रस्तुति में भाषागत विचलनों की चर्चा में हमनें भाषा-व्यवस्था के भीतर और बाहर लेखक द्वारा किए जाने वाले चयन की बात की थी। लेखक व्यवस्था के नियमों का पालन करते हुए भी जो चयन करता है वह भाषिक उक्तियों की अपेक्षित आवृत्ति से विचलित हो सकता है। भाषिक तत्त्वों का सामान्य से कम या अधिक बार घटित होना एक संख्यात्मक विचलन है क्योंकि उनकी उपस्थिति सामान्य से हटकर है।

समान्तरता भाषा-व्यवस्था में विशेष चयन की इस अत्यधिक अनियमितता का दूसरा रूप है। समान्तरता कृति के चर तत्त्वों की संरचनात्मक पुरावृत्ति है। यह परिवर्त्य स्थितियों को भरने वाले समान्तर शब्दों और कथनों के बीच सम्बन्धों के अर्थ को अग्रप्रस्तुत करती है। समानान्तर अभिव्यक्तियों के समानार्थक और विपरीतार्थक अर्थों के सम्बन्धों को व्याकरणिक, स्वानिकी और रूपविज्ञान के तत्त्वों द्वारा मज़बूत किया जा सकता है। समान्तरता समानता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। प्रत्येक समान्तरता दो या अधिक तत्त्वों के बीच समानता का सम्बन्ध बना देती है जहाँ सामान्यतः समानताएँ घटित नहीं होती हैं।

4.2.08. पाठ-सारांश

शैली भाषा का विशिष्ट प्रयोग है। शैलीविज्ञान में किसी कृति का विश्लेषण उसकी भाषा के विश्लेषण के आधार पर किया जाता है। शैलीविज्ञान का मुख्य सिद्धान्त यह है कि भाषा का अर्थ भाषाई विविधताओं से प्रकट होता है। इसलिए शैली-वैज्ञानिक यह देखता है कि पाठ या कृति में लेखक ने अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावी बनाने किन भाषिक युक्तियों का प्रयोग किया है और वह इसमें कितना सफल हुआ है। साहित्यिक रचना के मूल्यांकन में शैलीविज्ञान भाषा के साधारण अर्थ से आगे बढ़कर उसके विशिष्ट अर्थ की खोज करता है। शैली-वैज्ञानिकों ने सामान्य भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर किया है तथा साहित्यिक रचना के लिए विशिष्ट भाषा को मान्यता दी है। अपने विश्लेषण में वस्तुपरक और रूपवादी होने के बावजूद यह समीक्षा-पद्धति भाषिक संरचना के विवेचन के साथ-साथ लेखक के मंतव्यों और कथ्य की सार्थकता का विवेचन भी करती है। यद्यपि कृति-बाह्य मानकों की उपेक्षा के कारण इस पद्धति को समीक्षा की आदर्श पद्धति नहीं माना जा सकता, लेकिन यह सच है कि कृति केन्द्रित होने के कारण यह कृति के आभ्यन्तर मूल्यों की पहचान अन्य पद्धतियों की अपेक्षा अधिक सार्थक ढंग से करती है।

4.2.09. उपयोगी सन्दर्भ

4.2.09.1. हिन्दी पुस्तकें

1. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ. (2009). भाषाविज्ञान. नयी दिल्ली. किताब महल. ISBN : 81-225-0007-2
2. नगेन्द्र, डॉ॰ (2005). शैली विज्ञान. नयी दिल्ली. नेशनल पब्लिशिंग हाउस. ISBN : 81-214-0412-6
3. शीतांशु, पाण्डेय शशिभूषण. (2004). शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र : तुलनात्मक विमर्श. जयपुर. नेशनल पब्लिशिंग हाउस. ISBN : 81-8018-026-3
4. शीतांशु, पाण्डेय शशिभूषण. (2007). शैलीविज्ञान का इतिहास. जयपुर. नेशनल पब्लिशिंग हाउस. ISBN : 81-8018-074-3

4.2.09.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Chapman, Siobhan and Routledge, Christopher (ed.). (2009). Key Ideas in Linguistics and the Philosophy of Language.Edinburgh. Edinburgh University Press. ISBN 978 0 7486 2619 9
2. Bradford, Richard. (2005). Stylistics. New York. Routledge. ISBN-13: 978-0-631-23200-1

4.2.10. अभ्यास प्रश्न

1. शैली की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर उसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. वैयक्तिक शैली की व्याख्या कीजिए।
3. "शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान की एक शाखा है।" समझाइए।
4. "शैलीविज्ञान सिद्धान्त न होकर अध्ययन का एक क्षेत्र है।" स्पष्ट कीजिए।
5. 'रेटॅरिक' या 'वाग्मिता' पर एक टिप्पणी लिखिए।
6. अग्रप्रस्तुति की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
7. शैलीविज्ञान में विचलन की अवधारणा का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।
8. "विचलन प्रतिमान के अतिक्रमण से पैदा होता है।" समझाइए।
9. रजिस्टर का शैलीविज्ञान में क्या स्थान है ?

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

इकाई – 3 : उत्तर-आधुनिकतावाद

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देश्य
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता
 4.3.2.1. आधुनिकता का अर्थ
 4.3.2.2. आधुनिक्ता की विशेषताएँ
 4.3.2.3. आधुनिकता और ज्ञानोदय की असफलता
4.3.3. उत्तर-आधुनिकतावाद : परिभाषा की समस्या
 4.3.3.1. उत्तर-औद्योगिक समाज
 4.3.3.2. उत्तर-आधुनिक
 4.3.3.3. उत्तर-आधुनिकता
 4.3.3.4. उत्तर-आधुनिक संस्कृति और उत्तर-आधुनिक सैद्धान्तिकी
4.3.4. उत्तर-आधुनिकतावाद की मुख्य स्थापनाएँ और अवधारणाएँ
 4.3.4.01. महा वृत्तान्तों की अविश्वसनीयता
 4.3.4.02. 'लैंग्वेज़ गेम', ज्ञान और प्रदर्शनकारिता
 4.3.4.03. हाइपर रीयलिटी अर्थात् यथार्थ की अति और आभासी दुनिया
 4.3.4.04. शक्ति (पावर) का विकेन्द्रण अर्थात् शक्ति सर्वत्र है
 4.3.4.05. 'आर्किऑलॅजि' (पुरातत्त्व) और 'जीनिऐलॅजी' (वंशावली)
 4.3.4.06. अनिश्चयात्मकता
 4.3.4.07. नया ज्ञानोदय
 4.3.4.08. प्रसार या विसरण
 4.3.4.09. छलना और मिथ्याभास
 4.3.4.10. विमर्श
4.3.5. पाठ-सारांश
4.3.6. उपयोगी सन्दर्भ
 4.3.6.1. हिन्दी पुस्तकें
 4.3.6.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
4.3.7. अभ्यास प्रश्न

4.3.0. उद्देश्य

'आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ' खण्ड के अन्तर्गत पिछली इकाई में आप पाठ केन्द्रित समीक्षा-पद्धति 'शैलीविज्ञान' के बारे में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई उत्तर-आधुनिकतावाद पर केन्द्रित है। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता का अर्थ समझ सकेंगे।
ii. आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता का भेद समझ सकेंगे।
iii. उत्तर-आधुनिकता के विकास की रूपरेखा जान पाएँगे।
iv. उत्तर-आधुनिकतावाद की मुख्य अवधारणाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.3.1. प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से शुरू होकर आज तक दुनिया भर में उत्तर-आधुनिक वाद-विवाद सांस्कृतिक और बौद्धिक परिदृश्य पर छाया हुआ है। दार्शनिक स्तर पर बहस का विषय यह है कि क्या आधुनिक दर्शन की परम्परा समाप्त हो गई है और एक नये दर्शन का आविर्भाव हो गया है या कोई दर्शन रहा ही नहीं है या फिर किसी दर्शन की आवश्यकता ही नहीं है। उत्तर-आधुनिक विचारों के समर्थकों के लिए फूको, देरिदा और ल्योतार आदि के विचार नये दार्शनिक और सामाजिक अनुसंधान हैं, जबकि इसके विरोधियों को इन विचारों में कोई गहराई और गम्भीरता नहीं दिखाई देती है और वे इन्हें अस्वीकार करते हैं। उत्तर-आधुनिकतावादी विचारक परम्परागत सैद्धान्तिकी, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति की तीव्र आलोचना करते हैं, जबकि आधुनिक विचारों और सैद्धांतिकियों के पक्षधर या तो नये रुझानों की पूर्ण उपेक्षा करते हैं या उन पर पलट कर वैसे ही आक्रमण करते हैं। वे इसे विचारों के प्रवाह का एक अस्थायी चरण मानते हैं, जिसमें उत्साह और नवीनता का आग्रह तो है लेकिन कोई स्पष्ट सिद्धान्त और विचारधारा नहीं है। यही नहीं, उत्तर-आधुनिकता को आधुनिकता के मुक्तिकामी मूल्यों एवं सिद्धान्तों का अवमूल्यन करने वाली विचारधारा भी माना गया है। यह प्रवृत्ति भी देखी गई है कि इन नये विचारों की व्याख्या इस तरह से की जाती है ताकि उनकी नवीनता प्रकट न हो और उन्हें पारम्परिक चिन्तन के अन्तर्गत समाहित कर लिया जाए। वाद-विवाद की इस शृंखला में किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचना अत्यधिक कठिन है, लेकिन उत्तर-आधुनिकतावादी जो प्रश्न खड़े कर रहे हैं वे निश्चित ही गम्भीर हैं तथा परम्परागत चिन्तन से उनका भेद स्पष्ट है। विरोध और समर्थन दोनों ही परिस्थितियों ने उत्तर-आधुनिकतावाद को समकालीन चिन्तन का अनिवार्य हिस्सा बना दिया है।

4.3.2. आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता

उत्तर-आधुनिकता का कोई एक सिद्धान्त या वैचारिक मान्यता नहीं है। इसे आधुनिकता की सीमाओं के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में अधिक देखा गया है। इसलिए उत्तर-आधुनिकता को समझने लिए आवश्यक है कि पहले हम आधुनिकता को समझें, उसके बाद में आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के अन्तर को समझें।

4.3.2.1. आधुनिकता का अर्थ

आधुनिकता के अर्थ के सम्बन्ध में भी विचारों की भिन्नता वैसी ही है जैसी उत्तर-आधुनिकता के सम्बन्ध में है। आधुनिकता को मार्क्स, वेबर आदि ने ऐतिहासिक काल के रूप में समझा है, एक ऐसा युग जो मध्य-युग या सामन्तवाद के बाद मानव इतिहास में आया। परम्परागत समाजों के धार्मिक, आर्थिक विचारों और परिस्थितियों के स्थान पर नवीन, वैज्ञानिक और बहुआयामी चिन्तन तथा गतिविधियाँ आधुनिक युग की विशेषताएँ बनीं। बुद्धि और तर्क देकार्त से लेकर ज्ञानोदय काल तक सत्य की खोज और व्यवस्थित ज्ञान की आधारशिला रहे हैं। ज्ञानोदय के सिद्धान्त ही अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्ति की मुख्य प्रेरणा थे, जिनसे सामन्तवाद का अन्त हुआ और एक समतामूलक सामाजिक व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हुआ। वैज्ञानिक दृष्टिकोण और धर्मनिरपेक्षता आधुनिकता के मुख्य आधार थे।

4.3.2.2. आधुनिकता की विशेषताएँ

आधुनिकता व्यक्ति के आत्म को चेतन, तार्किक, स्वायत्त और सार्वभौमिक मानती है। व्यक्ति को अपना और विश्व का ज्ञान मानव-मस्तिष्क के उच्चतम रूप 'बुद्धि' द्वारा प्राप्त होता है। बुद्धि द्वारा उत्पन्न वस्तुनिष्ठ ज्ञान को प्रकट करने की विधि 'विज्ञान' है। अतः विज्ञान जिस वस्तुनिष्ठ ज्ञान का उत्पादन करता है वही 'सत्य' है। विज्ञान द्वारा उत्पादित ज्ञान या सत्य हमेशा पूर्णता और प्रगति की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार सभी मानवीय और प्राकृतिक क्रिया-व्यापार विज्ञान द्वारा समझे-समझाए जा सकते हैं तथा उन्हें विकसित-परिष्कृत किया जा सकता है। बुद्धि से संचालित विश्व में 'सत्य' ही कल्याणकारी होता है। अच्छाई और सत्य में कोई विरोध नहीं हो सकता। आधुनिक चिन्तन के अनुसार भाषा या अभिव्यक्ति के माध्यम भी वस्तुनिष्ठ और तार्किक होने चाहिए। तार्किक होने के लिए ज़रूरी है कि भाषा पारदर्शी और स्पष्ट हो। यह ऐसी हो कि केवल तार्किक बुद्धि द्वारा प्रस्तुत वास्तविक और गोचर जगत् को ही प्रकट करे। हमारे अवबोध की वस्तुओं तथा उन्हें नाम देने वाले शब्दों के मध्य ठोस और वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध होना अनिवार्य है।

डेविड लायन ने आधुनिकता की उपलब्धियों को विस्मयकारी बताते हुए निम्नलिखित विशेषताओं को रेखांकित किया है–

(1) **विभेदीकरण –** औद्योगीकरण ने श्रम-विभाजन को पैदा किया जिससे श्रमिक अनेक रूपों में विशेषज्ञता के आधार पर विभाजित हुए।

(2) **तार्किकीकरण –** वैज्ञानिकों की अनुसंधान विधियाँ, पूँजीवादियों के लाभ-हानि के विवरण तथा नौकरशाही के नियम और पदानुक्रम, सभी की सार्थकता तार्किक होने में निहित थी।

(3) **शहरीकरण –** ग्रामीण क्षेत्रों से काम की तलाश में भारी संख्या में जनसंख्या का पलायन हुआ, जिससे शहरीकरण में वृद्धि हुई।

(4) अनुशासन – आधुनिकता में नियन्त्रण की भावना भी थी, क्योंकि पूँजीवादी और औद्योगिक समाज में अपराधों को रोकने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

(5) धर्मनिरपेक्षता – धर्म से संचालित समाज के स्थान पर लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना आधुनिकता का लक्ष्य था।

4.3.2.3. आधुनिकता और ज्ञानोदय की असफलता

आधुनिकता की उपलब्धियों और उनसे पैदा हुए क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तनों के बाद भी विद्वानों ने अनेक आधारों पर आधुनिकता की आलोचना की है। दो विश्व-युद्धों की विनाशलीला ने आधुनिक विश्व-दृष्टि पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। पूँजीवादी औद्योगीकरण में किसानों, मज़दूरों और कलाकारों का शोषण हुआ, उनकी परेशानियाँ बढ़ीं। साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद के साथ-साथ नियन्त्रण और वर्चस्व के साधनों को वैधता प्रदान करने वाली संस्थाओं ने लोगों के दुःखों को बढ़ाने का काम किया।

आधुनिकता के निर्माण की प्रक्रियाओं – पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, औद्योगीकरण, शहरीकरण, उपभोक्तावाद तथा सांस्कृतिक विभेदीकरण के निराशाजनक वातावरण में अनेक चिन्तकों ने सामाजिक-जीवन के नये दृष्टिकोण की आवश्यकता अनुभव की। बीसवीं सदी में आधुनिकता की उपलब्धियों के साथ-साथ मृत्यु शिविरों और सेना की क्रूरता, विश्व युद्धों की विनाशलीला, हिरोशिमा और नागासाकी के परमाणु विस्फ़ोटों का संहारक अनुभव आदि घटनाओं ने आधुनिकतावाद के वादों को झूठा साबित कर दिया था और मानवता निराशा में घिर गई थी। निराशा के इस माहौल से विचलित होकर अडोर्नो और होर्खेमर ने कहा था – "आधुनिकता की ज्ञानोदयी परियोजना स्वयं के विरुद्ध खड़ी होने के लिए अभिशप्त है।" उन्होंने हिटलर द्वारा जर्मनी और स्टालिन द्वारा रूस में मानवता के क्रन्दन को आधुनिकता की व्याख्या का आधार बनाया और लिखा कि मनुष्य की मुक्ति का अभियान उसके दमन की सार्वभौमिक व्यवस्था बन गया है। मानव-मुक्ति के तर्क के पीछे छद्म रूप में वर्चस्व और दमन का तर्क छुपा हुआ है। उत्तर-आधुनिकतावादियों ने तर्क दिया कि हमें मानव-मुक्ति के नाम पर लागू की गई ज्ञानोदय परियोजना को पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए क्योंकि इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि आधुनिकता की परियोजना में दृष्टि और व्यवहार दोनों की कमी है।

4.3.3 उत्तर-आधुनिकतावाद : परिभाषा की समस्या

ज्याँ फ़्रांस्वा ल्योतार की पुस्तक 'द पोस्टमॉडर्न कंडीशन' (मूल फ़्रांसीसी 1979 और अंग्रेज़ी संस्करण 1984 में प्रकाशित) के प्रकाशन के साथ ही बौद्धिक जगत् में उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा विचार के केन्द्र में आ गई। उत्तर-आधुनिक अवस्था को पश्चिमी समाजों में ज्ञान के संकट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेकिन 'उत्तर-आधुनिकतावाद' को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। एक तो यह ऐसा पदबंध है जो कला, स्थापत्य, संगीत, साहित्य, समाजशास्त्र, सिनेमा, फ़ैशन और प्रौद्योगिकी जैसे अनेक अनुशासनों में प्रयुक्त होता है और सभी के लिए उसका अपना अर्थ और व्यवहार है। दूसरा, उत्तर-आधुनिकतावाद एक बहुस्तरीय और बहुआयामी

स्थिति है जिसके अन्तर्गत उत्तर-संरचनावाद, नव-मार्क्सवाद, नव-इतिहासवाद, विखण्डन, स्त्रीवाद और पर्यावरणवाद जैसे कई अध्ययनों की चिन्ताएँ शामिल हैं। इसलिए इसकी पूर्ण परिभाषा सम्भव नहीं है, यह स्वयं पूर्णता या समग्रता का विरोधी है। आइये, उत्तर-आधुनिकतावाद को समझने के लिए सबसे पहले इसके विकास-पथ का अवलोकन करें।

4.3.3.1. उत्तर-औद्योगिक समाज

डेनियल बेल ने अपनी पुस्तक 'द कमिंग ऑफ़ पोस्ट-इंडस्ट्रियल सोसायटी' (1973) में समकालीन समाज का विश्लेषण करते हुए औद्योगिक और उत्तर-औद्योगिक युग के बीच के अन्तर को स्पष्ट किया है। उसके अनुसार आधुनिक युग में औद्योगिक विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। औद्योगिक युग की अर्थव्यवस्था सदियों से पूँजीपति उद्योग-मालिकों, श्रमिकों और कार्मिकों तथा वितरण-व्यवस्था के तन्त्र पर आधारित है। अब इसमें परिवर्तन के ठोस और स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं। इन परिवर्तनों की दिशा यह है कि अर्थव्यवस्था के केन्द्र में उद्योग-मालिकों, व्यापारी वर्ग तथा उद्योग कार्यकारियों का स्थान वैज्ञानिक, गणितज्ञ, अर्थशास्त्री और नयी बौद्धिक प्रौद्योगिकी के इंजीनियर के रूप में 'नये आदमी' लेंगे। समाज अब वस्तु उत्पादन की पद्धति से आगे बढ़ गया है और भविष्य का समाज 'सेवा-समाज' होगा। सेवा-क्षेत्र के विकास और उसके सामाजिक महत्त्व के कारण श्रम के रूप में भी परिवर्तन होगा। उपभोक्ता उत्पादन से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएगा। मशीनों से अधिक कार्य और सामाजिक महत्त्व तकनीकी विशेषज्ञता और विज्ञान का होगा। इसी प्रकार समाज में नैतिकता का निर्धारण और सांस्कृतिक उत्पादन वैज्ञानिक विधियों के अनुसार होंगे। उत्तर-औद्योगिक समाज के निर्माण में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और अर्थव्यवस्था का समन्वय आधारभूत तथ्य है। उत्तर-औद्योगिक समाज उत्तर-आधुनिक सैद्धान्तिकी की जन्मभूमि है।

4.3.3.2. उत्तर-आधुनिक

'उत्तर-आधुनिक' (पोस्टमॉडर्न) शब्द का प्रयोग पहली बार अंग्रेज़ चित्रकार जॉन वॉट्किन्स चैपमैन ने 1870 के आस-पास किया था। उसने अति आधुनिक और अवाँ-गार्द ('अवाँ-गार्द' मूल फ़्रांसीसी शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'अग्रिम रक्षक'। पारिभाषिक रूप से उन लोगों या कार्यों के लिए रूढ़ है जो कला, संस्कृति और समाज के सन्दर्भ में प्रयोगात्मक, रूढ़ि-विरोधी और आमूल परिवर्तनवादी रुख़ अपनाते हैं) चित्रों को 'उत्तर-आधुनिक चित्र' कहा जो फ़्रांसीसी अभिव्यंजनावाद से आगे की शैली के चित्र थे। समकालीन यूरोपीय संस्कृति में मूल्यों की गिरावट और नकारवाद के सन्दर्भ में जर्मन लेखक रूडोल्फ़ पेन्विट्ज़ ने अपनी पुस्तक 'यूरोपीय संस्कृति संकट' (1917) में 'उत्तर-आधुनिक मनुष्य' को राष्ट्रवादी, सेनावादी और आभिजात्य मूल्यों का अवतार बताया था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद डी. सी. सॉमरवेल ने 1947 में ब्रिटेन के इतिहासकार अर्नोल्ड टॉइन्बि की पुस्तक 'इतिहास का अध्ययन' (अ स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री) की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए इतिहास के आधुनिक युग से 'उत्तर-आधुनिक' प्रस्थान का संकेत किया था। बाद में स्वयं टॉइन्बि ने 'उत्तर-आधुनिक युग' के

रूप में 1875 से नये ऐतिहासिक कालखण्ड की शुरुआत मानी है। इसी प्रकार अनेक विद्वानों ने अलग-अलग अनुशासनों और अलग-अलग सन्दर्भों में 'उत्तर-आधुनिक' पद का प्रयोग किया है।

उत्तर-आधुनिक पदबंध को समझने के बाद एक अन्य समस्या का समाधान भी करना होगा तभी हम उत्तर-आधुनिकतावाद के किसी ठोस और सन्तोषप्रद अर्थ तक पहुँच पाएँगे। यह समस्या समकालीन वैचारिक और साहित्यिक परिदृश्य में विमर्श और सन्दर्भ के अनुसार 'उत्तर-आधुनिक' पदबंध के अर्थ में पाए जाने वाले अन्तर से सम्बन्धित है। 'उत्तर-आधुनिक' के परिवर्तनकारी अर्थ के मद्देनज़र इसके तीन मुख्य रूपों – उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-आधुनिक संस्कृति, और उत्तर-आधुनिक सैद्धान्तिकी – में अवधारणात्मक अन्तर समझना ज़रूरी है।

4.3.3.3. उत्तर-आधुनिकता

'उत्तर-आधुनिकता' यह सूचित करती है कि यह ऐतिहासिक क्रम में आधुनिकता के बाद की स्थिति है। यह आधुनिकता से जुड़े हुए सामाजिक रूपों के विघटन को दर्शाती है। यह 'उत्पादन' को पूँजीवादी पद्धति के केन्द्र से हटाकर उपभोग और सेवा-क्षेत्र को इसके केन्द्र में स्थापित करती है। यह वस्तुओं के उत्पादन की जगह सूचनाओं के उत्पादन पर बल देती है। इस स्थिति के अन्तर्गत अब संगठित उत्पादन का स्थान असंगठित उत्पादन ने ले लिया है। प्रौद्योगिकी, जनसंचार, दूरसंचार तथा यातायात के साधनों के आशातीत विकास ने दुनिया को 'राष्ट्रीय' से 'वैश्विक' में बदल दिया है। ल्योतार कहता है कि कोई भी कार्य आधुनिक तभी बनता है जब पहले वह उत्तर-आधुनिक हो, क्योंकि उत्तर-आधुनिकतावाद अपने अन्त के समय में आधुनिकतावाद नहीं है, बल्कि इसके आरम्भ में है, अर्थात् उस समय जब यह सामने नहीं आ सकने वाले को सामने ले आता है और यह स्थिति अपरिवर्तनीय है। इस प्रकार उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकता की नयी पुनरावृत्ति है और पुनरावृत्ति की यह माँग सदैव बनी रहती है।

4.3.3.4. उत्तर-आधुनिक संस्कृति और उत्तर-आधुनिक सैद्धान्तिकी

उत्तर-आधुनिकतावाद का प्रयोग सांस्कृतिक सिद्धान्त के एक विशेष रूप के लिए भी किया जाता है। कभी इसे उत्तर-आधुनिक के बारे में एक सिद्धान्त की तरह, तो कभी इसे अपने आप में उत्तर-आधुनिकता का सिद्धान्त कह कर समझने की कोशिश की जाती है। फ्रेड्रिक जैमसन के अनुसार उत्तर-आधुनिकतावाद पूँजी के उस विशुद्ध रूप का प्रतिनिधित्व करता है जो अभी तक प्रकट नहीं हुआ है अर्थात् उत्तर-आधुनिकतावाद अब तक के उन अपण्यीकृत क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ पूँजी का असाधारण प्रसार नहीं हुआ है। इस कारण सौन्दर्यात्मक उत्पादन वस्तुओं के उत्पादन में समाहित कर लिया गया है। इसीलिए अब जो संस्कृति पैदा हो रही है वह सपाट और सतही है तथा अतीतगामिता (नॉस्टैल्जॅ) और नक़ल (पैस्टीश) इसकी विशेषताएँ हैं। इतना ही नहीं, संस्कृति अब पूँजीवादी समाज की आर्थिक गतिविधियों को छिपाने वाली वैचारिकता नहीं है, यह अपने आप में आर्थिक गतिविधि है, और शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि।

जैमसन के अनुसार उत्तर-आधुनिकता 'वृद्ध पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क' है। 'उत्तर-आधुनिकतावाद' उत्तर-आधुनिकता की संस्कृति है अर्थात् विकसित पूँजीवादी संस्कृति का एक आन्दोलन। सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकता की निश्चयात्मकता और विशिष्टतावाद को अस्वीकार करते हुए एक 'नयी संवेदनशीलता' का उद्भव हुआ। सूज़न सोंटैग, लेज़्लि फ़ीडलर और इहाब हसन जैसे प्रारम्भिक उत्तर-आधुनिकतावादी 'उत्तर-आधुनिक संस्कृति' को आधुनिकता के दमनकारी रूपों के विरोध की दिशा में एक सकारात्मक विकास मानते थे। 1960 के दशक में सामने आए विभिन्न सांस्कृतिक माध्यम जैसे मल्टीमीडिया प्रदर्शन, पॉप संगीत, रॉक संगीत, फिल्म संस्कृति आदि को परम्परागत माध्यमों जैसे कविता, कहानी आदि से ऊपर और अच्छा माना गया। आधुनिकता की उपलब्धियों की आलोचना तथा नये सामाजिक-सांस्कृतिक रुझानों को समझने के लिए पाश्चात्य बौद्धिक जगत् में नये विचारों और नये तरीक़ों का प्रस्फुटन हुआ। मिशेल फ़ूको, ज्याँ फ़्रांस्वा ल्योतार और ज़्यॉक देरिदा इस नवीनता के मुख्य प्रवर्तक बने और उत्तर-आधुनिक सैद्धान्तिकी का आविर्भाव हुआ।

4.3.4 उत्तर-आधुनिकतावाद की मुख्य स्थापनाएँ और अवधारणाएँ

साहित्य और कला के काल-विभाजन और नामकरण की समस्या प्राचीनकाल से चली आ रही है। विभिन्न कला-आन्दोलनों और प्रवृत्तियों की पहचान और परिभाषा भी पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। लेकिन 'उत्तर-आधुनिकतावाद' के साथ यह समस्या कुछ अधिक और विशिष्ट है। यह मुख्य रूप से सन्देहवादी दृष्टि से समकालीन दुनिया को देखता है। इस परिघटना को समझने के लिए इसकी अस्थिर, खण्डित और विरोधाभासी प्रकृति को समझना अनिवार्य है। उत्तर-आधुनिकतावाद की पृष्ठभूमि जान लेने के बाद इसकी मुख्य स्थापनाओं और सम्बन्धित अवधारणाओं को समझने की आवश्यकता है। आइये, इसकी मुख्य विशेषताओं और अवधारणाओं के आधार पर समझने का प्रयास करें कि यह क्या है ? एक परिप्रेक्ष्य, एक मनोदशा, एक प्रवृत्ति, एक आन्दोलन, एक स्थिति या कि एक ऐतिहासिक कालखण्ड ? अथवा इन सब से अलग कुछ और ?

4.3.4.01. महा वृत्तान्तों की अविश्वसनीयता

महान् आख्यान या महा वृत्तान्त सार्वभौमिक मूल्यों और पूर्ण सत्य के आश्वासनों पर आधारित सिद्धान्तों को कहा जाता है जो विभिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं का एकताबद्ध, पूर्ण और व्यापक विवरण प्रस्तुत करते हैं।

ल्योतार ने उत्तर-आधुनिक दशा की व्याख्या में तर्क दिया है कि हम ऐसे समय में आ गए हैं जिसमें 'महान् आख्यान' संकट में हैं और समाप्त हो रहे हैं। इमैनुएल कांट, हीगल और मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्त अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं। अब यह नहीं माना जा सकता कि इतिहास प्रगतिशील है, ज्ञान मनुष्य को सभी बन्धनों से मुक्त करता है और सभी तरह के ज्ञान-अनुशासनों में अन्तर्निहित एकता है। ल्योतार उत्तर-आधुनिकता को नयी प्रौद्योगिकी की ओर बढ़ने की प्रक्रिया के रूप में देखता है जिसमें सारा ध्यान भाषा के मुद्दों पर केन्द्रित है – कंप्यूटर की भाषा, संचार के सिद्धान्त, भाषा-दर्शन आदि। ल्योतार जिन दो महान् आख्यानों पर अधिक आक्रमण करता है

उनमें एक है मानवता की उत्तरोत्तर मुक्ति (ईसाई धर्म का उद्धारक सिद्धान्त और मार्क्सवादी यूटोपिया) का आख्यान और दूसरा है विज्ञान की विजय का आख्यान। ल्योतार कहता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इन सिद्धान्तों ने अपनी विश्वसनीयता खो दी है। वह एकदम सरल शब्दों में उत्तर-आधुनिकता को महान् आख्यानों के प्रति अविश्वसनीयता के रूप में परिभाषित करता है। ल्योतार के अनुसार महान् आख्यान ऐसी कहानियाँ हैं जो सत्ता, अधिकार और सामाजिक परम्पराओं को वैधता प्रदान करती हैं।

ल्योतार महान् आख्यानों या महा वृत्तान्त के स्थान पर लघु वृत्तान्त की बहुलता को समकालीन जीवन की विशेषता मानता है। उसके अनुसार स्थानीय स्तर पर ये छोटे-छोटे आख्यान परस्पर प्रतियोगिता करते हुए पूर्णतावादी महाख्यानों को अपदस्थ कर रहे हैं और वर्तमान समय को समझने में अधिक सहायक हो रहे हैं। यह परिघटना-मुक्त सापेक्षता है जिसे अनेक विचारक उत्तर-आधुनिकतावाद की मुख्य पहचान मानते हैं। स्थानीय आख्यान और मानव-अनुभव की विविधता में सैद्धान्तिक बहुलता का विचार अन्तर्निहित है। ल्योतार का विरोध महा वृत्तान्तों के पूर्णतावादी चरित्र पर आधारित है। उत्तर-आधुनिक समय में रहने का आशय यह है कि अब हम इन महा वृत्तान्तों पर निर्भर नहीं रह सकते, बल्कि यदि हम सर्वसत्तावाद का मुक़ाबला करना चाहते हैं तो हमें कुशलतापूर्वक लघु वृत्तान्तों की रचना करनी होगी। उत्तर-आधुनिकता के इसी विचार से दुनिया भर में वंचित और उपेक्षित समुदायों में अस्मिता की चेतना पैदा हुई और आन्दोलन हुए।

4.3.4.02. 'लैंग्वेज़ गेम', ज्ञान और प्रदर्शनकारिता

उत्तर-आधुनिकतावाद में ज्ञान के उत्पादन की परम्परागत मान्यताओं को अस्वीकार किया गया है और महा वृत्तान्तों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया गया। ल्योतार ने विज्ञान को मुक्तिकारी ज्ञान मानने के स्थान पर उसे विट्गेंस्टाइन के 'लैंग्वेज़ गेम' के सिद्धान्त के अनुसार समझने की कोशिश की है। लैंग्वेज़ गेम का तात्पर्य यह है कि कोई भी सिद्धान्त या विचार भाषा को उसकी पूर्णता में उपयुक्त ढंग से ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने के प्रयास में उसका अपना 'लैंग्वेज़ गेम' भी उसमें शामिल हो जाता है और विषय उलझ जाता है। ल्योतार 'लैंग्वेज़ गेम' की व्याख्या में कहता है कि इनके नियम स्व-प्रमाणित नहीं होते हैं, बल्कि अन्य खिलाड़ियों के साथ एक समझौते के आधार पर उन्हें वैधता प्राप्त होती है। यदि नियम नहीं है तो खेल भी नहीं है और नियमों में थोड़ा सा परिवर्तन भी खेल को बदल देता है। ल्योतार कहता है कि खेल और भाषा का साम्य यह दिखाने के लिए है कि मनुष्य के जीवन की विविधरूपा गतिविधियों के अन्तर्गत ही शब्दों का वास्तविक अर्थ बनता है। ल्योतार के अनुसार ज्ञान और शक्ति एक ही चीज़ के दो पहलू हैं – जो तय करता है कि ज्ञान क्या है वही यह जानता है कि क्या तय करने की ज़रूरत है। ल्योतार कहता है कि कंप्यूटर के इस युग में ज्ञान सत्ता का प्रश्न बन गया है। ल्योतार के 'लैंग्वेज़ गेम' का उद्देश्य राजनैतिक है जो ज्ञान और शक्ति के सम्बन्धों का उद्घाटन करता है।

भाषा या व्याकरण के नियम खेल के नियमों जैसे ही होते हैं। भाषा में अर्थ उसी तरह आता है जैसे खेल में चालें आती हैं। महा वृत्तान्त इसीलिए विश्वसनीय नहीं रह गए हैं क्योंकि वे एक 'लैंग्वेज़ गेम' के अंग हैं और यह

'लैंग्वेज़ गेम' स्वयं 'लैंग्वेज़ गेम' की बहुलता का एक अंग है। ल्योतार ने 'लैंग्वेज़ गेम' के सम्बन्ध में कहा है कि यह ऐसा खेल है जिसके विशिष्ट नियम हैं और इसे वक्तव्यों के परस्पर जुड़े होने के ढंग के आधार पर समझा जा सकता है। इसलिए हमें न्याय के नियमों का निर्णय किए बिना ही न्याय के लिए संघर्ष करना चाहिए। साथ ही प्रत्येक वक्तव्य को खेल की एक चाल समझना चाहिए। वह कहता है कि एक वैज्ञानिक सन्देश का अस्तित्व वक्तव्यों की एक शृंखला में ही होता है जिन्हें तर्क और प्रमाण से सिद्ध किया जाता है। विज्ञान को अपनी वैधता के लिए किसी आख्यान की ज़रूरत नहीं होती है, क्योंकि विज्ञान के नियम इसके खेल में ही विद्यमान होते हैं। विज्ञान की प्रगति के लिए उस क्षेत्र के अन्य वैज्ञानिकों का अनुमोदन आवश्यक होता है। वैज्ञानिक कार्यों की जटिलता बढ़ने के साथ उनके प्रमाण जुटाना भी कठिन और जटिल कार्य हो जाता है। प्रमाण जितने जटिल होंगे प्रमाणीकरण के लिए स्वीकृत स्तर प्राप्त करने की वह प्रौद्योगिकी भी उतनी ही जटिल हो जाएगी।

बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में समाज के वैज्ञानिक ज्ञान को समझने के लिए प्रौद्योगिकी एक महत्त्वपूर्ण मानक है। प्रौद्योगिकी सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करती है जिसमें कम से कम निवेश से अधिकतम परिणाम प्राप्त किए जाते हैं। इस प्रक्रिया को ल्योतार 'प्रदर्शनकारिता' (Performativity) कहता है। ल्योतार उत्तर-आधुनिकता की मुख्य पहचान महा वृत्तान्तों के अन्त को मानता है। चूँकि विज्ञान को वैधता प्रदान करने के लिए कोई महा वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है, इसलिए अब 'प्रदर्शनकारिता' उसे वैधता प्रदान करती है। उसके अनुसार वर्तमान वैज्ञानिक 'लैंग्वेज़ गेम' में इस 'प्रदर्शनकारिता' का बोलबाला है, क्योंकि किसी भी वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रमाण की आवश्यकता होती है और प्रमाण के लिए धन लगाना पड़ता है। अब प्रौद्योगिकी प्रमाण जुटाने का सबसे प्रभावी तरीक़ा बन गई है। इस प्रकार धन, कौशल और सत्य के बीच समीकरण स्थापित हो गया है। ल्योतार इस परिघटना को ज्ञान का 'व्यापारीकरण' कहता है। एक बार 'प्रदर्शनकारिता' का प्राधान्य हो गया तो फिर सत्य और न्याय उस अनुसंधान के ही परिणाम होंगे, जिसमें धन का सबसे अधिक निवेश हुआ है। उत्तर-आधुनिक समय में प्रौद्योगिकी को बढ़ाने वाले लोग ही यथार्थ को बल प्रदान करते हैं, उन्हीं के अनुसार यथार्थ के उचित और न्यायसंगत होने की सम्भावनाएँ बनती हैं। जिनके पास अनुसंधान के लिए धन होता है उनके पास शक्ति होती है, क्योंकि अनुसंधान के परिणाम उन्हीं की शक्ति बढ़ाने के काम आते हैं। ल्योतार ने बताया है कि उत्तर-आधुनिक समय में ज्ञान और शक्ति अभूतपूर्व ढंग से एक-दूसरे के क़रीब आ गए हैं। आख्यानात्मक ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान में अन्तर ल्योतार के सिद्धान्त का बहुत महत्त्वपूर्ण बिन्दु है और उत्तर-आधुनिकता में वैज्ञानिक ज्ञान आख्यानात्मक ज्ञान से अधिक प्रभावी ज्ञान है।

4.3.4.03. हाइपर रीयलिटी अर्थात् यथार्थ की अति और आभासी दुनिया

जॉन फ़िस्के ने अपनी पुस्तक 'मीडिया मैटर्स' (1994) में लिखा है कि उत्तरआधुनिक मीडिया यथार्थ का अमौलिक प्रतिनिधित्व नहीं प्रस्तुत करता है, बल्कि वह उस यथार्थ को पेश करता है जिसका निर्माण भी वही करता है। इस तथाकथित उत्तर-आधुनिक समय में सभी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ 'मीडिया-घटनाएँ' हैं। अब वास्तविक घटना और उसके मीडिया-प्रस्तुतीकरण में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता है। बौद्रिला ने वियतनाम युद्ध की आलोचना के दौरान उत्तर-आधुनिक प्रक्रिया के विश्लेषण में बताया है कि प्रगति, प्रौद्योगिकी और तर्कवाद के महा

वृत्तान्तों का स्थान मिथ्याभास की अतियथार्थ दुनिया ने ले लिया है । इस दुनिया में अत्यधिक खर्च तथा विभ्रमकारी प्रदर्शन का साम्राज्य है । ल्योतार की रिपोर्ट 'द पोस्टमॉडर्न कंडीशन' (1970) में ज्ञानोदय से निकले 'महा वृत्तान्तों' की आलोचना में इनके योगदान का स्वीकार भी निहित था, जबकि बौद्रिला की आलोचना में एक नकारात्मक और छिद्रान्वेषी दृष्टिकोण विद्यमान है । बौद्रिला कहता है कि अब यथार्थ और उसके प्रतिनिधित्व में अन्तर मिट चुका है और छलना (Simulacrum) का युग आ गया है । बौद्रिला यहाँ तक कह गया कि अतियथार्थ व्यवस्था को प्रमाणित करने के लिए संकट को भी माध्यम बना देता है । छलना की इस संरचना में मृत्यु तक को समाहित किया जा सकता है, बल्कि यह तक कहा जा सकता है कि मृत्यु हुई ही नहीं । समाज में उत्तर-आधुनिकतावाद के सन्दर्भ में बौद्रिला कहता है कि 'कोड' या संकेतों का समय सामाजिक ताने-बाने में समा चुका है । इसका मुख्य लक्षण यह है कि विरुद्धों का पतन आरम्भ हो गया है और सब कुछ अनिश्चय के दायरे में आ गया है । पुनरुत्पादन और मिथ्याभास के युग में यह पता लगाना मुश्किल है कि फ़ैशन में क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर, राजनीति में वामपंथ और दक्षिणपंथ में से किसे चुना जाए, मीडिया में सच और झूठ कितना है कौन जाने, संस्कृति और प्रकृति में कौन सी वस्तु उपयोगी है और कौनसी अनुपयोगी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इनमें भेद ख़त्म हो गया है, ये सब एक-दूसरे के स्थानापन्न हो गए हैं ।

यथार्थ की अति अर्थात् 'यथार्थ से अधिक यथार्थ' प्रौद्योगिकी और मीडिया द्वारा रचित ऐसी अवस्था है, जिसमें यथार्थ के अतिरेकी प्रदर्शन में मनुष्य की यथार्थ-चेतना पर पर्दा पड़ जाता है । इस अवस्था में वस्तुगत सत्य और कल्पित कहानियाँ एकमेक हो जाती हैं, यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि कहाँ एक ख़त्म जो रहा है और कहाँ दूसरा शुरू हो रहा है । इस अवस्था में भौतिक यथार्थ और आभासी यथार्थ मिल जाते हैं, कृत्रिम बुद्धि और मानव बुद्धि एक-दूसरे में समाहित हो जाती है । लोग आभासी दुनिया के झाँसे में आ जाते हैं, जिससे उनका सामाजिक व्यवहार और जीवन-दशाएँ बदल जाती हैं । बौद्रिला के चिन्तन का मुख्य बिन्दु यह है कि वर्तमान समय की विशेषता संकेतों की सर्व-व्यापी उपस्थिति है । इससे ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जहाँ मूल चीज़ का स्थान उसकी नक़ल ने ले लिया है और यथार्थ अतियथार्थ में निमग्न हो गया है । बौद्रिला के अनुसार अतियथार्थ हमारी चेतना को कपटपूर्वक हर लेता है और हमें किसी भी वास्तविक भावनात्मक बन्धन से दूर कर देता है । यह मूलतः खोखले आभास का असीमित पुनरुत्पादन है ।

बौद्रिला के अनुसार अतियथार्थ की स्थिति यथार्थ के क्षरण की स्थिति है । इस स्थिति में सतह और गहराई तथा वास्तविक और काल्पनिक का भेद समाप्त हो जाता है । अतियथार्थ की दुनिया में छवि और अस्तित्व एकमेक हो जाते हैं । बौद्रिला ने डिज़्नीलैंड के उदाहरण से उस जादुई दृश्य का वर्णन किया है जो वास्तविक की अनुपस्थिति पर पर्दा डाल देता है । वह कहता है कि जैसे कारागार का अस्तित्व यह बात छिपाने के लिए है कि समाज स्वयं एक कारागार है, उसी तरह डिज़्नीलैंड की काल्पनिकता को इसलिए प्रस्तुत किया जाता है ताकि बाक़ी सब वास्तविक लगे, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि लॉस एंजिल्स ही नहीं पूरे अमेरिका में कुछ भी यथार्थ नहीं है, चारों ओर अतियथार्थ भरा पड़ा है । इस तरह बौद्रिला हमारे समकालीन जीवन के पण्यीकरण तथा जीवनानुभवों में मीडिया एवं प्रौद्योगिकी के आक्रामक हस्तक्षेप को समझाने में सफल हुआ है ।

4.3.4.04. शक्ति (पावर) का विकेन्द्रण अर्थात् शक्ति सर्वत्र है

मिशेल फ़ूको ने शक्ति का एक नया विचार प्रस्तुत किया है। शक्ति सम्बन्धी यह विचार फ़ूको को पश्चिमी सभ्यता की आलोचना के दौरान उपलब्ध हुआ है और इस प्रक्रिया में उसने कुछ नयी अवधारणाएँ विकसित की हैं। शक्ति और ज्ञान के समीकरण का निर्माण इसी प्रक्रिया से हुआ है। फ़ूको की शक्ति सम्बन्धी अवधारणा नीत्शे के शक्ति सम्बन्धी उस विचार का विकास है जिसमें पश्चिमी सभ्यता को लोगों को अधीन बनाने की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। मिशेल फ़ूको 'संस्कृति' के विचार का मुख्य आलोचक था। उसने मनुष्य और प्रकृति दोनों को समझने के लिए 'शक्ति' अथवा 'सत्ता' की अवधारणा को तरजीह दी है।

फ़ूको के अनुसार शक्ति की गत्यात्मकता के माध्यम से एक मनुष्य स्वयं को एक विषय में बदल देता है। यह केवल राजनैतिक शक्ति के सन्दर्भ में ही सत्य नहीं है, बल्कि इसमें लोगों द्वारा यौनिकता (sexuality) आदि को शक्ति के रूप में पहचानना भी शामिल है। फ़ूको के अनुसार शक्ति वस्तुत: शक्ति-सम्बन्धों के रूप में पूरे समाज में फैली हुई है। यह समाज की दो या दो से अधिक शक्तियों के बीच ऐसा सम्बन्ध है जिसमें शक्तियाँ परस्पर संघर्षरत रहती हैं और अपने-अपने लाभ और स्थिति के लिए छल-कपट करती रहती हैं। इस सम्बन्ध में ज्ञान का बहुत महत्त्व होता है।

उत्तर-आधुनिकतावाद सभी समाजों में व्याप्त उन सत्ता-विमर्शों की खोज करता है जिनके अन्तर्गत समाज के कमज़ोर वर्गों को हाशिये पर धकेल दिया जाता है। ऐसे सत्ता-विमर्श कमज़ोर लोगों को केन्द्र से बाहर करने तक ही सीमित नहीं होते, बल्कि उन लोगों को भी हाशिये पर पटक देते हैं जो इस प्रक्रिया में उनका साथ नहीं देते हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद केन्द्र या वर्चस्वी विचारधारा के विचार की कड़ी आलोचना करते हुए भिन्नता की राजनीति को बढ़ावा देता है।

फ़ूको ने बताया है कि ज्ञान का अस्तित्व शक्ति के सम्बन्धों में होता है तथा शक्ति को ज्ञान के निर्माण और प्रयोग से अलग नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार फ़ूको ने शक्ति और ज्ञान जैसे दो विचारों को एक अवधारणात्मक रूप प्रदान किया। हम जानते हैं कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत शक्ति को विशेष उत्पादन सम्बन्धों के अन्तर्गत वर्ग-विशेष के आधिपत्य को स्थापित करने और उसे बनाये रखने का औज़ार माना जाता है। फ़ूको शक्ति-सम्बन्धों के आर्थिक आधारों को तो स्वीकार करता है लेकिन वह मानता है कि शक्ति-सम्बन्धों की व्यवस्था उत्पादन और आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना से बढ़कर होती है। उसके अनुसार शक्ति किसी राज्य के अन्तर्गत संस्थाओं का समूह नहीं है। शक्ति को किसी एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर आधिपत्य भी नहीं कहा जा सकता है। यह कोई संरचना नहीं है और न किसी व्यक्ति की विशेषता है। न यह किसी बिन्दु से उद्भूत होती है और न फैलती है। शक्ति तो वस्तुत: सत्ता-सम्बन्धों की बहुलता है। यह सभी जगह व्याप्त है क्योंकि यह सभी जगहों से आती है।

फ़ूको के शक्ति सम्बन्धी विवेचन के कुछ व्यवहारिक उद्देश्य भी हैं। इसके सभ्य और अनुशासित समाज में प्रतिरोध और मुक्ति सम्बन्धी निहितार्थ हैं। फ़ूको की मान्यता है कि शक्ति-सम्बन्ध के बाहर प्रतिरोध की कारवाई नहीं की जा सकती है। मुक्ति इस बात में निहित है कि स्थानीय, खण्डित, अयोग्य और अवैध ज्ञान को ऐसे ज्ञान से मुक्त किया जाये जो स्वयं को पूर्ण और वास्तविक वैज्ञानिक ज्ञान कहता है। इस प्रकार फ़ूको पश्चिमी समाज द्वारा प्रदर्शित आधुनिकता की गम्भीर आलोचना करता है।

शक्ति एक सर्वव्यापक परिघटना है। उत्तर-आधुनिकतावाद, विशेष रूप से विखण्डन, युग्मक विरोधों (बाइनरी ऑपॅज़िशन) की सामान्य प्रवृत्ति में छिपे हुए शक्ति-सम्बन्धों के जटिल सूत्रों को सुलझाने का कार्य करता है। प्रत्येक युग्मक में एक शक्ति-सम्बन्ध छिपा हुआ रहता है जो इसे अधिकार-युक्त और अधिकार-वंचित के अनुक्रम में विभाजित करता है। इस तरह सामान्य रूप से समस्या रहित लगने वाले युग्मक, जैसे पुरुष-स्त्री, श्वेत-अश्वेत, अच्छा-बुरा, अमीर-ग़रीब आदि, शक्ति-सम्बन्धों में बँधे हुए हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद इनके अधिक्रमिक विभाजन के मूल पर प्रहार करता है। उत्तर-आधुनिक दृष्टिकोण से भाषा और प्रस्तुतीकरण के अन्य सभी रूप राजनैतिक दृष्टि से विभक्त हैं क्योंकि विचारधारा और विमर्श में बने रहने से बचा नहीं जा सकता। सभी पाठ विमर्शात्मक कार्य हैं। यथार्थ तभी यथार्थ है जब वह किसी पाठ में प्रस्तुत होता है। पाठ के उद्भव का स्रोत लेखक या वक्ता का व्यक्तित्व न होकर वक्तव्य होता है। कलाकृतियाँ हमेशा वक्तव्य के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अर्थों से जुड़ी हुई होती हैं और सभी अर्थ शक्ति-सम्बन्धों से जुड़े हुए होते हैं।

4.3.4.05. 'आर्किऑलॅजि' (पुरातत्त्व) और 'जीनिऐलॅजी' (वंशावली)

परम्परागत ऐतिहासिक चिन्तन की कमियों को स्पष्ट करने के लिए फ़ूको 'आर्किऑलॅजि' (पुरातत्त्व) और 'जीनिऐलॅजि' (वंशावली) पदबंधों का प्रयोग करता है। वह अपनी नूतन ऐतिहासिक विधि को निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ विश्लेषण बनाने की दृष्टि से उसे 'पुरातत्त्व' कहता है। इस विधि का उद्देश्य ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या करना नहीं है, बल्कि केवल उनका वर्णन करना है। वह इतिहास के लिखित रूप अर्थात् दस्तावेज़ों के विस्तृत और तथ्यपरक विमर्श के स्थान पर वक्तव्य को ऐतिहासिक अध्ययन का आधार बनाने का प्रस्ताव करता है। फ़ूको के विश्लेषण में ऐतिहासिक प्रवाह में न कोई उद्गम का क्षण है और न ही उद्देश्यपरक गतिविधियाँ हैं। उसके अनुसार इतिहास में बिखराव, असमानता और भेदभाव है, जिसे परम्परागत ऐतिहासिक चिन्तन ने ढक दिया था। वह तथाकथित अतीत की अटूट निरन्तरता की दरारों और विघटन के बिन्दुओं की पहचान करता है और ऐतिहासिक घटनाओं में अन्तर्निहित बिखराव को संरक्षित करने का प्रयास करता है।

'जीनिऐलॅजि' परम्परागत ऐतिहासिक विवेचन का विरोध करती है। इसका उद्देश्य घटनाओं की विशेषताओं का लेखा-जोखा रखना है और वर्चस्व के विभिन्न रूपों को सामने लाना है। 'जीनिऐलॅजी' व्याख्याओं की अन्तहीन प्रक्रिया है क्योंकि चीज़ों का कोई गुप्त अर्थ या आधार नहीं होता है, बल्कि व्याख्याओं की परतें होती हैं जो जमा होते-होते यथार्थ का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इन परतों को उघाड़ना 'जीनिऐलॅजी' का कार्य है। 'जीनिऐलॅजि' ज्ञान, विशेष रूप से ऐतिहासिक ज्ञान, के परिप्रेक्ष्य की अवधारणा है। फ़ूको के अनुसार

जिसे हम यथार्थ कहते हैं वह ज्ञान के विषय से इतर असंख्य कारकों का उत्पाद है, अतः यह एक निर्मिति है। फ़ूको की 'जीनिऐलॅजि' की अवधारणा ज्ञान और सत्ता (पावर) को समझने में बहुत सहायक है। ज्ञान और सत्ता के जटिल सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए फ़ूको इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वस्तुगत ज्ञान को सामान्यतः जिस रूप में जाना जाता है, वह वास्तव में जटिल सत्ता-तन्त्र के बदले हुए विमर्श हैं। ज्ञान की सम्भावना की दशाएँ सर्व-व्यापी सत्ता की कार्यवाहियों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं।

4.3.4.06. अनिश्चयात्मकता

अनिश्चयात्मकता दो या दो से अधिक परस्पर प्रतिस्पर्द्धी व्याख्याओं के निर्णय की असम्भावना की स्थिति है। परम्परागत चिन्तन में विरोधाभासों के लिए स्थान नहीं है; कोई भी वस्तु एक ही साथ 'क' है और 'क' नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता है। उत्तर-आधुनिकता में इस नियम को चुनौती दी गई है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वह झूठ बोल रहा है तो हम कैसे कह सकते हैं कि वह झूठ बो ल रहा है या सच ? इस तरह के कथनों की वैधता के बारे में निर्णय करने की हमारी योग्यता, अस्थायी रूप से ही सही लेकिन, स्थगित रहती है। पारम्परिक चिन्तन के अनुसार झूठ का यह विरोधाभास विरोधाभासी कथनों का एक अलग-थलग और विशिष्ट दृष्टान्त है। इसके विपरीत उत्तर-आधुनिकतावाद में माना गया है कि विरोधाभासों के नियम का स्थगन कुछ विशिष्ट लोगों या क्षेत्र-विशेष तक सीमित है। उत्तर-आधुनिकतावाद सभी निरपेक्ष मूल्यों – जैसे ईश्वर, सत्य, तर्क, क़ानून आदि पर प्रश्न खड़े करता है, उन पर पुनर्विचार करता है और नये ढंग से उनकी व्याख्या करता है। वह निर्णय करने की सम्भावना को सिरे से ख़ारिज़ नहीं करता, बल्कि अनिश्चयात्मकता को नया मूल्य और महत्त्व प्रदान करता है।

नई समीक्षा में जिसे विरोधाभास (Paradox) या वक्रोक्ति (Ambiguity) कहा जाता था, उत्तर-आधुनिकतावाद उसे अनिश्चयात्मकता कह कर उसमें एक नया अर्थ भरता है। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि जहाँ नई समीक्षा में साहित्यिक रचना की भाषा में अन्तर्निहित बहुलार्थक सम्भावनाओं की खोज और रचना के पाठ की एकता के लिए विरोधाभास या वक्रोक्ति का प्रयोग किया जाता था, वहाँ उत्तर-आधुनिकतावाद अनिश्चयात्मकता के माध्यम से एकता के सिद्धान्त को ही चुनौती देता है। यहाँ बहुलता, विविधता और भिन्नता को महत्त्व दिया जाता है। अनिश्चयात्मकता पाठ को बिखेरती है, उसे अस्त-व्यस्त करती है। यह साहित्यिक रचना के पाठ में से एक अन्तिम अर्थ के सिद्धान्त को नकार कर अर्थ की सीमाओं को तोड़ देती है। देरिदा के अनुसार उत्तर-आधुनिकता में कोई निश्चय या निर्णय नहीं है, न ही कोई राजनैतिक और नैतिक ज़िम्मेदारी है। यहाँ अनिश्चय ही निर्णय है।

4.3.4.07. नया ज्ञानोदय

उत्तर-आधुनिकतावाद का मुख्य ध्यान अनिश्चयात्मकता से उत्पन्न पाठ के रूपान्तरों पर रहता है। निश्चय से परे हो जाने के कारण पाठ के प्रति कोई रुख़ या मत नहीं बन पाता है। यह एक तरह की अराजकता और शून्यता की स्थिति होती है। लेकिन उत्तर-आधुनिक विचारकों के अनुसार पूर्व प्रचलित एकायामी और

अविचारित राजनैतिक, नैतिक और पाठगत निर्णयों के कारण मानवता को असंगत और घातक परिणाम देखने पड़े हैं। लोकोत्तर व्याख्याओं पर आधारित व्यवस्थाओं (ईश्वर, राष्ट्रीयता या ऐतिहासिक भौतिकवाद आदि) में विश्वास के कारण ही मानव इतिहास में आतंक, दमन और अत्याचारों का काला अध्याय लिखा गया। इन विचारों में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो अतिवादी व्यवहारों को मान्यता देते हैं। उत्तर-आधुनिकतावादियों का तर्क है कि बुद्धि और विवेक का इस्तेमाल हर तरह के दमन को वैधता प्रदान करने के लिए किया गया है। स्टालिन के आतंक के पीछे भी मार्क्स के सिद्धान्तों के वैज्ञानिक विकास की आड़ में यह विवेक उपस्थित था। साम्राज्यवादी और नस्लीय हिंसा के पीछे भी ऐसे ही एकायामी सिद्धान्तों की भूमिका थी।

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के प्रमुख चिन्तकों अडॉर्नो और होर्खेमर ने ज्ञानोदय को सर्वसत्तावादी कहा था। ज्ञानोदय पाश्चात्य जगत् में आधुनिकता और वैज्ञानिक उपलब्धियों के समर्थन का समग्र चिन्तन कहा जा सकता है। ज्ञानोदय मनुष्य के अन्धविश्वास और प्रकृति की शक्तियों पर बुद्धि और विवेक की शक्ति के दावों का चिन्तन है। माना गया कि बुद्धि और विज्ञान ज्ञान के अनन्त द्वार खोल देंगे और दुनिया की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रगति तथा मानव-मुक्ति के साधन बनेंगे। उत्तर-आधुनिकतावाद ने इन दावों को ख़ारिज़ करते हुए इन सिद्धान्तों को ही अपूर्ण और प्रगति-विरोधी करार दिया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्तर-आधुनिकतावाद अतार्किकता और अविवेक का समर्थन करता है। इसे तर्कहीन और तर्कसंगत के विरोध के स्थगन और विखण्डन के रूप में समझा जा सकता है। अतार्किकतावाद अपने आप में तर्कवाद का ही एक अन्य रूप है क्योंकि यह अपने अर्थ के लिए अपने विरोधी पर निर्भर है। जैसा कि देरिदा कहता है कि उत्तर-आधुनिकता 'नया ज्ञानोदय' है जो उन विधियों के महत्त्व और मूल्य की खोज से सम्बन्धित चिन्तन है जिन्हें तार्किक और अतार्किक के मध्य विरोध के रूप में छोटा या सीमित नहीं किया जा सकता।

4.3.4.08. प्रसार या विसरण

उत्तर-आधुनिकता समग्रतावादी शक्तियों का प्रतिरोध करती है अर्थात् यह खण्डवादी है। खण्डवाद कोई नया विचार नहीं है, लेकिन उत्तर-आधुनिकतावाद खण्ड और समग्रता के विचारों की नयी आलोचना प्रस्तुत करता है। इसने मौलिकता की धारणा को प्रश्नांकित किया और अन्तर-पाठीयता, उद्धरण-उल्लेख, नक़ल और हास्यानुकृति पर ध्यान केन्द्रित किया। इस प्रकार सदियों से सौन्दर्यशास्त्रीय महत्त्व प्राप्त 'मौलिकता' को एक तरह की वैचारिक जड़पूजा (Fetish) के रूप में देखा गया जिसका सौन्दर्यात्मक निर्णयों में कोई योगदान नहीं होता है। उत्तर-आधुनिक खण्डता किसी खोई हुई मौलिक एकता की सम्भावना पर निर्भर नहीं है। इस खण्डता को 'प्रसार' या विसरण के पारिभाषिक अर्थ में भी समझा जा सकता है। प्रसार या विसरण का अर्थ होता है किसी वस्तु का बिखरना या फैलना, यह बिखराव या फैलाव स्रोतों और लक्ष्यों का, अस्मिता और केन्द्र का होता है। उत्तर-आधुनिक अर्थ में प्रसार स्रोतरहित प्रसार है, इसमें किसी केन्द्र या उद्देश्य का आश्वासन नहीं है।

फ़ूको अपनी पुस्तक 'द आर्किओलॉजी ऑफ नॉलेज' में प्रसार की संरचनाओं पर विचार करता है। ये संरचनाएँ 'व्यक्ति' और 'विषय' को जन्म देती हैं तथा 'ज्ञान के आधिपत्य' का आधार तैयार करती हैं। विसरण

या प्रसार में 'भिन्नताओं' का कुछ ऐसा संश्लेषण होता है कि भिन्नताओं का अस्तित्व बना रहता है लेकिन उनमें कोई एकरूपता नहीं दिखाई देती है।

विसरण या प्रसार को किसी वक्तव्य की संरचना द्वारा समझा जा सकता है। एक वक्तव्य किसी वाक्य को अर्थ प्रदान करता है। वाक्य का एक व्याकरण होता है लेकिन वक्तव्य का कोई व्याकरण नहीं होता है। एक वक्तव्य दूसरे वक्तव्य का सन्दर्भ देता है। इस प्रक्रिया में वक्तव्यों की स्थिति बदल जाने से उनके भावार्थ भी बदल जाते हैं। अतः किसी वक्तव्य की पुनरावृत्ति ठीक उसी रूप में नहीं हो सकती, लेकिन वक्तव्य के मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए उसे अनेक प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। विसरण की इसी संरचना का अध्ययन ही 'शक्ति' और राजनीति का अध्ययन है। समाज में विद्यमान शक्ति सम्बन्धों में कोई निरन्तरता या तरतीब नहीं होती है। इसलिए इन सम्बन्धों से कृत्रिम पहचान और कृत्रिम सम्बन्धों का जन्म होता है। शक्ति-सम्बन्ध किसी स्थायी सम्बन्ध के स्थान पर ऐसी पहचानों को जन्म देते हैं जिनकी अपनी पहचान तक धूमिल होती है। इस प्रकार, शक्ति-सम्बन्ध एक ऐसा घटनापूर्ण क्षेत्र निर्मित करते हैं जिसमें शक्ति का विश्लेषण ऐतिहासिक अथवा विश्लेषणात्मक न होकर वंशानुगत हो जाता है।

4.3.4.09. छलना और मिथ्याभास

पाश्चात्य दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा में यथार्थ और उसकी नक़ल में सदैव अन्तर किया गया है। इससे यथार्थ और उसकी नक़ल के बीच पदानुक्रम पर आधारित विरोध उत्पन्न हुआ। यह विरोध प्राकृतिक और कृत्रिम की भिन्नता के समान था। उत्तर-आधुनिकता ने इस तरह के पदानुक्रम को चुनौती दी। बौद्रिला ने नक़ल की इस परिघटना को मिथ्याभास (Simulation) के रूप में परिभाषित किया है। मिथ्याभास प्रतिनिधित्व के विरोधी के रूप में प्रस्तुत किया गया पदबंध है। भाषाविज्ञान में संकेतक और संकेतित या शब्द और शब्दछवि में जो अन्तर होता है, वही अन्तर स्वाँग या मिथ्याभास और प्रतिनिधित्व में है। हम जानते हैं कि एक वास्तविक पेड़ और उस पेड़ के चित्र में अन्तर होता है। इसके विपरीत मिथ्याभास (Simulation) इस अन्तर को मिटा देता है। कंप्यूटर, टेलीविज़न, विज्ञापनों, पत्रिकाओं, अख़बारों आदि में प्रस्तुत छवियों से आच्छादित 'यथार्थ' नक़ल के बिना अकल्पनीय लगता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि नक़ल किसी वास्तविक वस्तु (यथार्थ) की नक़ल नहीं है क्योंकि नक़ल की सार्थकता और प्रभाव से यथार्थ अभिन्न है अर्थात् यथार्थ को नक़ल से अलग नहीं किया जा सकता। मीडिया और विज्ञापन एक ख़ास ब्राण्ड और वस्तु को हमारे चेतन-अवचेतन में इस तरह स्थापित कर देते हैं कि जब हम वास्तविक वस्तुओं का उपभोग करते हैं तब भी विज्ञापन द्वारा रचित छवि ही हमारे आस्वादन और सन्तुष्टि का मुख्य कारण बनती है, न कि यथार्थ वस्तु। इस परिघटना से एक ऐसी दुनिया का निर्माण होता है जिसे बौद्रिला 'अतियथार्थ' (Hyper-real) कहता है।

अतियथार्थ में यथार्थ गढ़ा जाता है, वह कल्पना से निर्मित होता है। स्वाँग या मिथ्याभास भौतिक दुनिया में घटित नहीं होता है। यह भौतिक सीमाओं से परे हमारे मन-मस्तिष्क के भीतर या प्रौद्योगिकीय मिथ्याभास आदि के रूप में घटित होता है। छलना (Simulacrum) को मूल रहित एक नक़ल कहा जाता है। बौद्रिला कहता है कि

छलना (Simulacrum) यथार्थ की नक़ल नहीं होती है, बल्कि स्वयं ही यथार्थ बन जाती है। वह छलना के उद्‌भव के चार चरण बताता है – पहले पहल यह यथार्थ का मूलभूत प्रतिबिम्ब होती है, फिर यथार्थ की विकृति बन जाती है। तीसरे चरण में छलना यथार्थ के दिखावे का रूप ले लेती है जिसमें कोई प्रतिरूप नहीं होता है, और अन्त में वह मिथ्याभास मात्र रह जाती है जिसका किसी भी तरह के यथार्थ से कोई लेना-देना नहीं होता है।

4.3.4.10. विमर्श

विमर्श को पाठ, वाक्य, विचारधारा, वक्तव्य आदि विभिन्न पदबंधों से भेद के आधार पर परिभाषित किया जाता है। भाषिक संचार के रूप में विमर्श वक्ता और श्रोता के मध्य ऐसी अन्तर्वैयक्तिक गतिविधि माना जाता है जिसके रूप का निर्धारण इसके सामाजिक प्रयोजन के अनुसार होता है। फ़ूको इस धारणा का खण्डन करता है कि ज्ञान लोगों के विचारों की अभिव्यक्ति है। फ़ूको के अनुसार विमर्श सुस्पष्ट प्रस्थापनाओं का संग्रह नहीं है। यह किन्हीं गुप्त मनोवैज्ञानिक या ऐतिहासिक विचारों का समूह भी नहीं है। यह उन सभी सम्बन्धों का समूह है जिसमें इन सबको अर्थ प्राप्त होता है। फ़ूको के अनुसार विमर्श नियन्त्रण, प्रतिबन्ध, स्वीकार्यता, अनुमेयता और अस्वीकार के विविध माध्यमों के रूप में कार्य करता है। किसी भी विमर्श में इस बात की सम्भावना होती है कि मूल विषय, विषयी और स्वयं उसके ज्ञान का आधार ही बदल जाये।

विमर्श ऐसे वक्तव्यों का समूह होता है जो परस्पर पूर्वानुमेय ढंग से जुड़े हुए होते हैं। विमर्श एक निश्चित नियमावली से संचालित होता है जो विशेष उक्तियों और वक्तव्यों का सम्प्रेषण और वितरण करते हैं। कुछ वक्तव्यों का व्यापक सम्प्रेषण और वितरण होता है, जबकि कुछ का कम। फ़ूको के विमर्श की अवधारणा में अपवर्जन अर्थात् पीछे छोड़ देने का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। विमर्श कुछ संगत वक्तव्यों की व्यवस्था से बढ़कर ऐसे जटिल व्यवहारों का समूह है जो समाज में लगातार व्यापक रूप में बने रहते हैं। ये व्यवहार ऐसे दूसरे व्यवहारों को वितरण से बाहर करने में लगे रहते हैं जो इन्हें अमान्य करने की कोशिश करते हैं। फ़ूको के अनुसार विमर्श शक्ति-सम्बन्धों से जुड़ा हुआ होता है। अपनी पुस्तक 'History of Sexuality' (1978) में वह लिखता है – "विमर्श हमेशा शक्ति के आगे झुके हुए या उसके सामने उठ खड़े हुए लोगों की चुप्पियों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। हमें उन जटिल और अस्थिर प्रक्रियाओं का ध्यान रखना चाहिए जिससे विमर्श सत्ता का एक औज़ार और प्रभाव दोनों बन सकता है, लेकिन वह सत्ता के लिए एक बाधा, एक व्यवधान, प्रतिरोध का एक सूत्र और विरोध की रणनीति का प्रस्थान बिन्दु भी बन सकता है। विमर्श सत्ता का प्रसार और उत्पादन करता है, वह इसे बल देता है, लेकिन वह इसकी उपेक्षा भी करता है और इसे अनावृत्त भी करता है, वह इसे कमज़ोर बनाता है और इसे विफल करने की सम्भावना पैदा करता है।"

विमर्श शब्द पर चर्चा करते हुए हमें एक बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि यह भाषा का समकक्ष नहीं है। हमें यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि विमर्श और यथार्थ के बीच सरल सम्बन्ध होता है। विमर्श भाषा का यथार्थ में केवल रूपान्तरण नहीं करता, बल्कि यथार्थ को देखने-समझने के हमारे तरीक़ों की संरचना भी करता है।

4.3.5. पाठ-सारांश

उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकता और ज्ञानोदय के प्रति सन्देह प्रकट करता है, जिसमें माना जाता है कि सत्य और असत्य के बीच फैसला करने के लिए विवेक पर भरोसा किया जा सकता है। यह परम्परागत मानववाद और प्रगति के विचारों को अस्वीकार करता है। इसकी पहचान मीडिया और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास से की जाती है। उपभोक्तावाद के रूप में फैली सम्पन्नता, जिसे इस तरह दिखाया जाता है कि मानो यह अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगी, उत्तर-आधुनिकता का लक्षण है। नैतिकता और जीवन-शैली सम्बन्धी मान-मूल्यों की बहुलता उत्तर-आधुनिकतावाद का एक मुख्य लक्षण है, जिससे किसी केन्द्रीय सामाजिक सत्ता का क्षरण दिखाई देता है। बौद्रिला कहता है कि ज्यों ही हम भौतिक वस्तुओं के उत्पादन को पीछे छोड़कर शक्ति का नियन्त्रण करने वाली 'छवियों और सूचनाओं के उत्पादन' की दुनिया में प्रवेश करते हैं, हम उत्तर-आधुनिक दुनिया में प्रवेश करते हैं।

4.3.6. उपयोगी सन्दर्भ

4.3.6.1. हिन्दी पुस्तकें

1. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. (2004). उत्तर आधुनिकतावाद. नयी दिल्ली. स्वराज प्रकाशन. ISBN : 81-8599-959-7
2. नवीन, देव शंकर. मिश्र, सुशान्त कुमार (सं.). (2000). उत्तरआधुनिकता : कुछ विचार. नयी दिल्ली. वाणी प्रकाशन. ISBN : 978-93-5000-942-0
3. पचौरी, सुधीश. (2000). उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श. नयी दिल्ली. वाणी प्रकाशन. ISBN : 81-7055-485-3
4. सिंहल, डॉ॰ बैजनाथ. (2003). उत्तर आधुनिकता : स्वरूप और आयाम. पंचकूला. हरियाणा साहित्य अकादमी.

4.3.6.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Butler, Christopher. (2002).Postmodernism: A Very Short Introduction. New York. Oxford University Press. ISBN : 0–19–280239–9
2. Connor, Steven(ed.).(2004).The Cambridge Companion to Postmodernism. Cambridge, UK. Cambridge University Press. ISBN : 978-0-511-22173-6
3. Lodge, David & Wood, Nigel (ed).(2007). Modern Criticism and Theory : A Reader . New Delhi. Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd. ISBN : 978-81-317-0721-0

4. Sarup, Madan.(1993). An Introductory Guide to Post-Structuralism and Postmodernism. London. Harvester Wheatsheaf. ISBN : 0-7450-1360-0
5. Sim, Stuart (ed.).(2001). The Routledge Companion to postmodernism. London and New York.Routledge. ISBN : 0-415-24308-4

4.3.7. अभ्यास प्रश्न

01. आधुनिकता का अर्थ बताइए।
02. आधुनिकता की मुख्य विशेषताओं की समीक्षा कीजिए।
03. आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
04. उत्तर आधिकतावाद के इतिहास पर टिप्पणी कीजिए।
05. उत्तर-आधुनिक संस्कृति और उत्तर-आधुनिक सैद्धान्तिकी में क्या अन्तर है ?
06. उत्तर आधिकतावाद की मुख्य अवधारणाओं पर एक निबन्ध लिखिए।
07. "मिशेल फ़ूको का शक्ति-विवेचन सत्ता-विमर्शों की खोज करता है।" समझाइए।
08. महा वृत्तान्तों की अविश्वसनीयता क्या है ?
09. छलना और मिथ्याभास की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।
10. ज्ञान और प्रदर्शनकारिता की व्याख्या कीजिए।

उपयोगी वेबसाइट्स :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

इकाई – 4 : विखण्डनवाद

इकाई की रूपरेखा

4.4.00. उद्देश्य
4.4.01. प्रस्तावना
4.4.02. विखण्डन की पृष्ठभूमि
 4.4.02.1. विखण्डन : एक परिचय
 4.4.02.2. विखण्डन का अर्थ और उद्देश्य
 4.4.02.3. देरिदा का निषेध और परिभाषा की कठिनाई
4.4.03. विखण्डन का आरम्भ
4.4.04. विखण्डन की रणनीति
4.4.05. युग्मक विरोधी और पदानुक्रम का विखण्डन
4.4.06. उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा
 4.4.06.1. लेखन-विज्ञान और शब्दकेन्द्रवाद
 4.4.06.2. उपस्थिति की अनुपस्थिति
 4.4.06.3. विभेदन या डिफ़रांस (Differance)
 4.4.06.4. पदचिह्न या निशान (Trace)
4.4.07. लेखन की प्रतिष्ठा
 4.4.07.1. वाक् बनाम लेखन
 4.4.07.2. वाक् केन्द्रवाद की आलोचना
4.4.08. संरचनावाद का विखण्डन
4.4.09. पाठ से बाहर कुछ नहीं है
4.4.10. पारिभाषिक शब्दावली
4.4.11. पाठ-सारांश
4.4.12. उपयोगी सन्दर्भ
 4.4.12.1. हिन्दी पुस्तकें
 4.4.12.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें
 4.4.12.3. इंटरनेट स्रोत
4.4.13. अभ्यास प्रश्न

4.4.00. उद्देश्य

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत 'आधुनिक समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ' खण्ड में अभी तक आप संरचनावाद, शैलीविज्ञान और उत्तर-आधुनिकतावाद का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई उत्तर-संरचनावाद की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति 'विखण्डन' पर केन्द्रित है। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद के भेद को समझ पाएँगे।
ii. विखण्डन का अर्थ और परिचय जान सकेंगे।
iii. विखण्डन के तरीक़ों और निहितार्थों को समझ सकेंगे।
iv. विखण्डनात्मक आलोचना में प्रयुक्त विभिन्न पदबंधों का अर्थ समझ सकेंगे।

4.4.01. प्रस्तावना

हम जानते हैं कि संरचनावाद 1950 से 1970 तक लगभग दो दशकों तक वैचारिक और साहित्यिक चिन्तन के केन्द्र में रहा। 1960 के दशक के अन्तिम वर्षों में एक नये आन्दोलन ने करवट लेना शुरू कर दिया था, जिसने अपना नाम भी संरचनावाद से लेते हुए 'उत्तर-संरचनावाद' रखा। जहाँ एक ओर उत्तर-संरचनावाद ने संरचनावाद के कुछ विषयों और विचारों को आगे बढ़ाते हुए उन्हें तार्किक परिणति तक पहुँचाया, वहीं दूसरी ओर संरचनावाद की कई मान्यताओं से मतभेद उत्तर-संरचनावाद के पनपने का मुख्य आधार रहा है। वस्तुत: उत्तर-संरचनावाद का सैद्धान्तिक ढाँचा मूलभूत रूप से संरचनावाद से इतना अलग है कि उसे एक स्वतन्त्र आन्दोलन का नाम देना ही तर्कसंगत लगता है। उत्तर-संरचनावाद ने संरचनावाद की कुछ मान्यताओं को स्वयं उसके विरुद्ध खड़ा कर दिया और ऐसे वैचारिक दोषों को उजागर किया जिन्हें संरचनावाद सुधार नहीं सका।

विखण्डन इस दिशा में अधिक परिवर्तनवादी और आलोचनात्मक दृष्टिकोण पेश करता है। विखण्डन इस अर्थ में पूरी तरह उत्तर-संरचनावादी चिन्तन है कि वह संरचना के विचार को सिरे से ख़ारिज करता है। वह इस मान्यता पर ही सवाल उठाता है कि अर्थ की संरचनाएँ मस्तिष्क की कुछ आन्तरिक अभिरचनाओं की प्रतिक्रियाओं के अनुरूप होती हैं जो बौद्धिकता की सीमाओं का निर्धारण करती हैं। विखण्डन मस्तिष्क, अर्थ और उन्हें जोड़ने वाली विधि के दावों को निरस्त करता है।

4.4.02. विखण्डन की पृष्ठभूमि

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के यूरोपीय चिन्तन पर संरचनावाद, घटना-क्रिया विज्ञान, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद आदि दार्शनिक उपागमों का प्राधान्य था। संरचनावाद मुख्य सांस्कृतिक सिद्धान्त था जिसका प्रभाव अन्य अनुशासनों पर व्यापक रूप से पड़ा। अस्तित्ववाद ने जहाँ वैयक्तिकता पर बल दिया तो संरचनावाद ने सामाजिक संरचना के ताने-बाने का विश्लेषण करने पर ध्यान दिया और संरचना को ही वास्तविक और अर्थवान् बताया। संरचनावाद ने सार्वभौमिक संरचनाओं का अध्ययन करते हुए व्यक्ति और समाज को जोड़ने का प्रयास किया। यहाँ तक विखण्डन संरचनावाद से सहमत है। कुछ राजनैतिक चिन्ताओं पर भी विखण्डन की संरचनावाद से सहमति है। लेकिन संरचनावाद द्वारा प्रस्तुत सार्वभौमिक संरचनाओं की आदर्शनात्मक अवधारणा से विखण्डन का विरोध है। सार्वभौमिक संरचनाओं की खोज के प्रयास में संरचनावाद समाज की आलोचना करने और उसे बदलने की दिशा में कोई योगदान नहीं कर पाया और समाज में यथास्थिति बनाए रखने और संरचनाओं को वैधता प्रदान करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानता रहा।

अन्य विद्वानों की तरह देरिदा भी 1950 और 60 के दशक में प्रभावशाली चिन्तन संरचनावाद से प्रभावित हुआ। उसे सॉस्सुर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान ने विशेष प्रभावित किया। एक विवेचन विधि के रूप में विखण्डन 'उपस्थिति' को समझने या उसकी व्याख्या करने में दर्शन की विफलता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

4.4.02.1. विखण्डन : एक परिचय

दार्शनिक ज़्यॉक देरिदा द्वारा 1967 में मूल रूप से फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित तीन ग्रन्थों (इनके अंग्रेज़ी अनुवाद बाद में 'Of Grammatology' (1974), 'Writing and Difference' (1978), तथा 'Speech and Phenomena' (1973) शीर्षकों से प्रकाशित हुए) से विखण्डन की शुरुआत हुई, जिसे अमेरिका के येल विश्वविद्यालय के विद्वानों ने तुरंत ही अपना लिया और विखण्डन दार्शनिक और साहित्यिक आलोचना का एक आन्दोलन बन गया।

देरिदा ने दावा किया कि मुख्य पाश्चात्य चिन्तन भाषा की असीमित अस्थिरता को दबाकर सत्य और निश्चितता स्थापित करता है। यह शब्दकेन्द्रवादी परम्परा ऐसे पूर्ण स्रोत या अर्थवत्ता की खोज करती है जो अर्थ की अनिश्चितताओं को स्थिरता प्रदान कर सके अथवा उन्हें विमर्श के केन्द्र में स्थापित कर सके। यह कार्य उग्र पदानुक्रम व्यवस्था के माध्यम से परिधि पर स्थित दबाये गए पद पर एक केन्द्रीय पद को प्रमुखता से स्थापित करते हुए किया जाता है, उदाहरण के लिए, संस्कृति पर प्रकृति, स्त्री पर पुरुष और लेखन पर वाक् आदि। वाक् की प्रामाणिकता के आधार पर लेखन को वाक् से दोयम या निम्न मानने का विचार मुख्य रूप से देरिदा की ध्वंसात्मक रणनीति के निशाने पर है। इस रणनीति के अन्तर्गत वह अवधारणाओं के पदानुक्रम भंग करके उसे उलट देता है। इस प्रकार देरिदा यह दिखाता है कि दमित या हाशियाकृत पद केन्द्रीय पद में समाहित होता है। सॉस्सुर के 'संकेत' सिद्धान्त की आलोचना करते हूए देरिदा कहता है कि वाक् को अर्थ के प्रामाणिक स्रोत का जो स्थायी रूप से स्वयंभू स्तर दिया गया है वह भ्रामक है। वह स्पष्ट करता है कि भाषा आन्तरिक विभेदों की स्वयंपूर्ण व्यवस्था के रूप में कार्य करती है न कि सुनिश्चित पदों या उपस्थितियों के आधार पर। लेखन को अविश्वसनीय इसलिए माना जाता है क्योंकि वह किसी प्रमाणीकृत वाणी को प्रदर्शित नहीं करती, लेकिन भाषा तो आन्तरिक विभेदों की स्वयंपूर्ण व्यवस्था है, इसलिए तार्किक रूप से लेखन वाक् का पूर्ववर्ती है।

आरम्भिक रूप में विखण्डन का लक्ष्य संरचनावाद की आलोचना था, लेकिन शीघ्र ही अमेरिका के येल विश्वविद्यालय और अन्य देशों में साहित्य-अध्ययन के क्षेत्र में उत्साहपूर्वक इसे अपनाया जाने लगा। साहित्यिक आलोचकों के उत्साह का एक कारण तो यह था कि यह परम्परागत रूपकात्मक और आलंकारिक भाषा और आलोचना की साहित्यिक समस्याओं को दार्शनिकों और इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत सत्य के दावों से अधिक महत्त्व देता है, और दूसरा यह कि विखण्डन पाठ और कृति की अन्तहीन व्याख्याओं के द्वार खोलता है। पॉल द मान, बारबारा जॉन्सन, जे. हिल्स मिलर और जेफ़्री हार्टमैन आदि ने अपने लेखन में विखण्डनात्मक विधियों को लागू किया तथा लेखकों के रचनात्मक उदेश्य और पाठ में बाह्य दुनिया को अर्थ के स्रोत के रूप में महत्त्वपूर्ण

स्थान दिए जाने को चुनौती दी। देरिदा के प्रश्नों को आगे बढ़ाते हुए इन विद्वानों ने साहित्य और आलोचना की विभाजन-रेखा पर भी सवाल उठाए।

4.4.02.2. विखण्डन का अर्थ और उद्देश्य

विखण्डन अनुसंधान की ऐसी विधि है जो इस बात पर बल देती है कि सभी तरह का लेखन भ्रम और विरोधाभास से भरा हुआ होता है। लेखक अर्थ-संचार के किसी भी तरीक़े से इन विरोधाभासों को समाप्त नहीं कर सकता। विखण्डन भाषा के किसी भी रूप में वास्तविक और पूर्ण अर्थ के संचार की किसी भी सम्भावना से इन्कार करता है। विखण्डन संरचनावाद की आलोचना है। देरिदा सॉस्युर के भाषाविज्ञान के आधारों को गिराने के लिए उन्हें अपने विवेचन का विषय बनाता है। वह किसी भी संरचना में केन्द्र के केन्द्रित होने और स्थिर होने पर सवाल खड़े करता है तथा केन्द्र और परिधि के मुक्त संचरण की वकालत करता है।

किसी विमर्श का विखण्डन करना यह दर्शाना है कि यह विमर्श स्वयं द्वारा प्रस्तुत तर्क का किस तरह अवमूल्यन करता है। एक तरीक़ा यह है कि उस तर्क की संरचना को देखा जाए, क्योंकि देरिदा के अनुसार यह संरचना उस पदानुक्रम का परिणाम होती है जिसमें दो विरोधी पदों को उच्च और निम्न के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विखण्डन उच्चता की सीमाओं को प्रकट करते हुए इस क्रम व्यवस्था को उलट देता है तथा उच्च को निम्न बना देता है। यह बदला हुआ पदानुक्रम फिर विखण्डन की प्रक्रिया के अधीन आ जाता है और उसमें भी परिवर्तन हो जाता है। विखण्डन एक प्रकार से अस्थिरीकरण की स्थायी क्रिया है। विखण्डन का अर्थ और मक़सद यह दिखाना है कि सभी प्रकार के पाठों, संस्थाओं, परम्पराओं, समाजों, विश्वासों और व्यवहारों का कोई परिभाषा योग्य अर्थ नहीं होता है। उनका कोई निर्धारण योग्य उद्देश्य भी नहीं होता है, बल्कि वे किसी भी उद्देश्य से ऊपर और अपनी वर्तमान सीमाओं से परे जाने वाले होते हैं। जब भी हम वस्तुओं के अर्थ स्थिर कर देते हैं और उन्हें पारम्परिक स्थानों पर बाँध देते हैं, तब स्वयं वस्तु वहाँ से निकल कर कहीं दूर चली जाती है। अर्थ और उद्देश्य चीज़ों को समाविष्ट और सुसम्बद्ध करने का ढंग है। विखण्डन इन सभी सीमाओं को विस्तृत करने, इन्हें लाँघने और इनकी समग्रता को बाधित करने तथा उसे विशृंखलित करने का प्रयास है। विखण्डन का अर्थ तोड़-फोड़ या विध्वंस करना नहीं है, बल्कि यह भाषा के उन गुप्त जान पड़ने वाले प्रकार्यों को अनावृत्त करता है जो भाषाई और पाठीय अर्थवत्ता के आधार का निर्माण करते हैं।

4.4.02.3. देरिदा का निषेध और परिभाषा की कठिनाई

आम तौर पर विखण्डन को परम्परा-भंजक चिन्तन माना जाता है। विखण्डन को एक दार्शनिक विचार-सरणि, एक राजनैतिक पहल, बौद्धिक भावधारा और अध्ययन की एक प्रणाली आदि कई रूपों में देखा गया है। बौद्धिक वाद-विवाद में अक्सर विखण्डन का प्रयोग नास्तिवाद या नकारात्मक सन्देहवाद के अर्थ में भी किया जाता है। देरिदा कुछ विशिष्ट अवधारणाओं के रूप में अर्थ-प्राप्ति के विचार का ही विखण्डन करना चाहता था। विखण्डन को परिभाषित करने का कोई भी प्रयास देरिदा के चिन्तन की मूल भावना के विरुद्ध है। देरिदा ने कहा है

कि कोई भी कथन जैसे कि विखण्डन 'अ' है या विखण्डन 'अ' नहीं है, स्वतः ही बात के मर्म से भटक जाता है और मर्म से भटका हुआ कथन असत्य और मूल्यहीन होता है।

विखण्डन के सम्बन्ध में सबसे सबसे पहली और बड़ी समस्या उसकी परिभाषा की कठिनाई है। देरिदा का दावा है कि उसका समस्त लेखन विखण्डन को परिभाषित करने का प्रयास है। विखण्डन को समझना अनिवार्य रूप से जटिल और कठिन कार्य है क्योंकि यह उस भाषा की तीव्र आलोचना करता है जो इसे स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है। देरिदा विखण्डन का सकारात्मक से अधिक नकारात्मक विवरण प्रदान करने में रुचि लेता है। उसके अनुसार विखण्डन को समझने के लिए यह जानना चाहिए कि वह क्या नहीं है अथवा उसे क्या नहीं होना चाहिए। देरिदा ने इसे परम्परागत अर्थों में विश्लेषण या आलोचना का तरीक़ा या एक पद्धति कहे जाने का भी विरोध किया है। ऐसा नहीं है कि देरिदा के विखण्डन में विश्लेषण, आलोचना या पद्धति की कोई विशेषता नहीं है, बल्कि बहुत है, लेकिन देरिदा विखण्डन को इनसे दूर रखता है ताकि उन तक वापस पहुँचने की आवश्यकता बनी रहे। परिभाषा और विवरण के निषेध के माध्यम से देरिदा सभी दार्शनिक अवधारणाओं को चुनौती देता है और उन पर आक्रमण के अपने औज़ार तेज़ करता है।

4.4.03. विखण्डन का आरम्भ

विखण्डन का प्रादुर्भाव एडमंड हुसेर्ल और मार्टिन हेडेगर के घटना-क्रियाविज्ञान (फ़िनॉमिनॉलॅजि) की फ्रांसीसी दार्शनिक चिन्तन-परम्परा से हुआ है। घटना-क्रियाविज्ञान का लक्ष्य 'चेतना' के दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ऐसे स्वतःसिद्ध, वस्तुनिष्ठ 'सार' की खोज करना था जो हर तरह के ज्ञान-विज्ञान का आधार हो। हुसेर्ल की आलोचना में हेडेगर 'विश्व-चेतना' से 'अस्तित्व' के ज्ञान की तरफ बढ़े, जिसे विश्व-चेतना का पूर्वज्ञान और पूर्वदशा माना गया। ज़्यॉक देरिदा ने हेडेगर और हुसेर्ल के साथ-साथ सार्त्र के अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि में अपनी विखण्डनात्मक विधि का विकास किया। देरिदा की विशेष रुचि हेडेगर द्वारा प्रस्तुत 'चेतना की ज्ञानातीत लौकिकता' के विचार में थी, जिसके अन्तर्गत हुसेर्ल की फ़िनॉमिनॉलॅजि में छिपे हुए आदर्शवाद को दिखाया गया तथा अस्तित्व के सार की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया। इसे दुनिया में होने या मनुष्य होने के रूप में 'सांसारिक' घटना-क्रिया समझा गया है।

देरिदा ने विखण्डन शब्द का मूल प्रयोग मार्टिन हेडेगर की अवधारणा 'डिस्ट्रक्शन' (ध्वंश) के अनुवाद के रूप में किया था। हेडेगर का शब्द 'डिस्ट्रक्शन' ऐतिहासिक और परम्परागत रूप से 'शब्द' पर थोपी गई श्रेणियों और अवधारणाओं को समझने की प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ था। वर्ष 1966 में देरिदा ने अमेरिका के जॉन होपकिंस विश्वविद्यालय में संरचनावाद पर आयोजित एक विचार-गोष्ठी में एक व्याख्यान दिया, जिसका विषय था – 'स्ट्रक्चर, साईन एण्ड प्ले इन द डिस्कोर्स ऑफ़ द ह्यूमन साईन्सेज़।' इस गोष्ठी में ज़्यॉक लकां, रोलाँ बार्थ और पॉल द मान जैसे विद्वान उपस्थित थे। तुरंत ही इस व्याख्यान ने साहित्यिक आलोचना और दार्शनिक अनुसंधान के क्षेत्र में हलचल मचा दी। एक ओर देरिदा की तीव्र आलोचना हुई, तो दूसरी ओर समकालीन दार्शनिक और साहित्यिक चिन्तन पर उसके विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। 1967 में फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित

देरिदा की पुस्तक 'De la grammatologie' 'विखण्डनवाद' का मुख्य आधार है। इस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद (ऑफ़ ग्रमैटॉलॅजि) 1974 में गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक ने किया। इसमें देरिदा वाक्-लेखन के युग्मक विरोधों का क्रम उलट देता है। यहाँ फर्दीनांद द सॉस्सुर, ज्याँ ज़ाक रूसो और क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस सहित अनेक विद्वानों के चिन्तन की बखिया उधेड़ते हुए देरिदा विखण्डन को एक सैद्धान्तिक आन्दोलन के रूप में स्थापित करता है।

विखण्डन भाषा के सूक्ष्म परीक्षण तथा दार्शनिक और साहित्यिक कृतियों में प्रस्तुत तर्कशास्त्र के अध्ययन के आधार पर पाश्चात्य दर्शन के अवधारणात्मक दोषों या विरोधों पर प्रश्न खड़े करता है। इसे दर्शन और साहित्य के अतिरिक्त क़ानून, मनोविश्लेषणवाद, स्थापत्य, नृतत्व विज्ञान, नारीवाद, राजनैतिक सैद्धान्तिकी, इतिहास लेखन आदि अनुशासनों में एक परिवर्तनकारी सैद्धान्तिक विमर्श के रूप में देखा जाता है।

4.4.04. विखण्डन की रणनीति

विखण्डन उन सभी विमर्शों की आलोचना करने और उन्हें प्रश्नांकित करने की रणनीति है जो मताग्रही और एक पद पर दूसरे पद के वर्चस्व की स्थापनाएँ प्रस्तुत करते हैं। अपनी इस रणनीति के तहत देरिदा अनेक नवसृजित मिश्र और श्लिष्ट पदों के माध्यम से भाषा की अस्थिर प्रकृति और अर्थ की अनिश्चितता को दिखाता है। पाश्चात्य दर्शन और तत्त्वमीमांसा के प्रति देरिदा का यह कठोर और श्लिष्टतापूर्ण रुख़ इस परम्परा को समाप्त करने के लिए और साथ-साथ यह भी दिखाने के लिए है कि यह कार्य भाषा की अस्थिरताओं के बाहर जाकर नहीं किया जा सकता।

देरिदा के विखण्डन को समझने के लिए उसकी सैद्धान्तिकी में प्रयुक्त एक महत्त्वपूर्ण शब्द है 'Sous rature' (फ्रांसीसी शब्द), जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'अंडर इरेज़र' (Under Erasure) किया गया है। हिन्दी में 'विलोपनाधीन' शब्द से इसका अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि कोई शब्द लिखो, उसे आड़ा-तिरछा काटो (और अब इसे छापो) ताकि लिखा हुआ शब्द मिटाया हुआ लगे, लेकिन दिखाई भी दे और आसानी से पढ़ा जा सके। ऐसा करने के पीछे यह विचार है कि चूँकि यह विशेष शब्द अशुद्ध है, अपूर्ण है या अनुपयुक्त है इसलिए इसे काटा और मिटाया गया है। लेकिन क्योंकि यह आवश्यक शब्द है इसलिए इसे रखा गया है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण तरीक़ा देरिदा ने मार्टिन हेडेगर से लिया है। देरिदा इसी प्रविधि से भाषा को भाषा के विरुद्ध खड़ा करता है। विलोपनाधीन पद के अन्तर्गत परम्परागत शब्दों तक जाने की ज़रूरत का अर्थ यह है कि भले ही ये शब्द समस्यामूलक हैं, लेकिन हमें इनका प्रयोग तब तक करना है जब तक कि इनकी सार्थक पुनर्रचना नहीं कर ली जाती अथवा इनके स्थान पर नये उपयुक्त शब्द नहीं आ जाते।

इस सन्दर्भ में देरिदा का यह विचार भी था कि विखण्डन का सकारात्मक विवरण विखण्डन के विचार को एक साँचे में ढाल लेगा तथा उस खुलेपन को समाप्त कर देगा जिसके लिए विखण्डन को अपनाया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि देरिदा सकारात्मक रूप में, उदाहरण के लिए, विश्लेषण के रूप में, विखण्डन को परिभाषित

करता तो विश्लेषण की अवधारणा हमेशा विखण्डन के दायरे से बाहर रहती। ऐसे में विश्लेषण की अवधारणा की आलोचना के लिए विखण्डन के अलावा किसी अन्य दर्शन की आवश्यकता होती।

वस्तुत: किसी भी अवधारणा या विचार को कोई एक स्पष्ट और सकारात्मक नाम या परिभाषा नहीं देना देरिदा की विखण्डनात्मक रणनीति है, जिसके अन्तर्गत वह जानबूझकर उन तत्त्वमीमांसक मान्यताओं की उपेक्षा करता है जो पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास के केन्द्र में रही हैं। इसलिए विखण्डन को 'विखण्डनवाद' कहना भी इसे एक व्यवस्था में बाँधना, स्थिरता प्रदान करना और उस शब्दकेन्द्रित भावबोध में सीमित कर देना है, जो परम्परागत पाश्चात्य चिन्तन की विशेषता है। देरिदा बार-बार यह बताता है कि चीज़ों की कोई स्थिर या व्यवस्थित परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि जिन शब्दों के आधार पर ऐसा किया जाता है उनका अर्थ सदैव परिवर्तनीय और अस्थिर होता है। इनमें स्थानीय सन्दर्भों और पाठों के रंग भरे होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में हमने दिखा कि विखण्डन किसी भी प्रकार की व्यवस्था को अस्वीकार करता है। फिर भी यहाँ ऐसे अनेक स्वानुभविक शब्द और पदबंध हैं जिनसे विखण्डन की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। इनमें प्रमुख हैं – युग्मक विरोधी, शब्दकेन्द्रवाद, उपस्थिति-अनुपस्थित, संकेतक-संकेतित, वाक्-लेखन, डिफ़रांस, खेल, पदचिह्न या निशान आदि। आगे हम इन पदबंधों के आधार पर ही विखण्डन को समझने का प्रयास करेंगे।

4.4.05. युग्मक विरोधी और पदानुक्रम का विखण्डन

देरिदा के अनुसार प्रत्येक दार्शनिक तर्क की संरचना विरोधों के आधार पर हुई है और इस परम्परागत दार्शनिक विरोध में आपस में टकराने और मिलने वाले शब्दों या अवधारणाओं का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व नहीं होता है, बल्कि उनमें एक उग्र पदानुक्रम पाया जाता है। एक अवधारणा दूसरी पर वर्चस्व बना लेती है और प्रमुखता प्राप्त कर लेती है। विरोध का विखण्डन करना एक विशेष समय में पदानुक्रम को उलट देना है। देरिदा के अनुसार विखण्डन किसी रचना को सोपानीकृत विरोधों में स्वाभाविक रूप में उलझा हुआ देखता है। विखण्डित पाठ न केवल इन सोपानीकृत विरोधों को अनावृत्त करता है, बल्कि यह भी दिखाता है कि विरोधी उच्चतर पद को निम्नतर भी माना जा सकता है।

विखण्डन मानवीय चिन्तन में पदानुक्रम के निर्माण की प्रक्रिया को ही दोषपूर्ण मानता है। विखण्डन हमें चिन्तन या लेखन के किसी दोषपूर्ण ढंग के स्थान पर कोई दोषरहित और सही ढंग नहीं सिखाता है, बल्कि यह मानवीय चिन्तन की उन सीमाओं को दिखाता है जो भाषा के माध्यम से क्रियाशील रहती हैं। प्रत्येक विखण्डनात्मक कार्यवाही स्वयं के विखण्डन का भी आधार होती है। यद्यपि विखण्डन परम्परागत चिन्तन की पदानुक्रम व्यवस्था को बदलने पर ज़ोर देता है, लेकिन विखण्डन केवल पदानुक्रम को उलटने तक ही सीमित नहीं है। वस्तुत: यह विमर्श की संरचना को समझने का एक तरीक़ा है जो इसके नियन्त्रण केन्द्र का पता लगा कर उन आधारहीन धारणाओं की पहचान करता है जिनके आधार पर यह एक विमर्श की तरह कार्य करता है।

विखण्डन जिन 'विरोधों' को चुनौती देता है, ये विरोध पाश्चात्य दर्शन में बहुत प्राचीन समय से चले आ रहे हैं। ये विरोध युग्म-रूप और पदानुक्रम पर आधारित हैं। ये 'युग्मक विरोधी' या 'युग्मी-युक्ति' (बाइनरी ऑपॅज़िशन) पदबंधों का जोड़ा होते हैं जिनमें एक पदबंध प्रमुख या मौलिक होता है और दूसरा व्युत्पन्न या द्वितीयक, जैसे मन और शरीर, उपस्थित और अनुपस्थित, आन्तरिक और बाह्य, अच्छा और बुरा, मालिक और दास आदि। इन विरोधों को विखण्डित करने का अर्थ है – इनमें मान्य या आरोपित पदानुक्रम की श्रेष्ठता और निम्नता के अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करना। विखण्डन में पाठ के विभिन्न अर्थों, विशेष रूप से भाषा के लाक्षणिक और प्रदर्शनकारी उपयोग पर निर्भर अर्थों, का विश्लेषण करते हुए 'विरोध' को पाठ के उत्पाद या निर्मिति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

'युग्मक विरोधी' एक संरचनात्मक विचार है, जिसके अनुसार विरोधों में सोचना मानव का स्वभाव है। सॉस्युर ने युग्मक विरोधों को भाषा के अवयवों में अर्थ भरने और मूल्य प्रदान करने वाले साधन के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ भाषा की प्रत्येक इकाई को जो वह नहीं है उसके विरुद्ध परिभाषित किया जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण के कारण शब्द और अवधारणाएँ परस्पर सकारात्मक-नकारात्मक रूप में जुड़ी रहती हैं। उदाहरण के लिए, पुरुष-स्त्री, उपस्थिति-अनुपस्थिति, वाक्-लेखन आदि। देरिदा ने तर्क दिया कि विरोधों की ये संरचनाएँ मनमाने ढंग से रचित तथा अपनी प्रकृति में अस्थिर हैं। ये संरचनाएँ एक-दूसरे का अतिक्रमण करती हैं, परस्पर संघर्षरत रहती हैं और अन्ततः पाठ की ये संरचनाएँ स्वयं को पाठ के भीतर ही तिरोहित कर देती हैं। इस अर्थ में विखण्डन संरचनावाद का विरोधी है। विखण्डन संरचनावाद की अधिकांश मान्यताओं को अस्वीकार करता है, युग्मक विरोधों को तो अत्यधिक कठोरता के साथ निरस्त करता है क्योंकि उसके अनुसार ऐसे युग्मक विरोधी सदैव एक शब्द या अवधारणा को दूसरी (संकेतक पर संकेतित) पर तरजीह देते हैं। विखण्डन युग्मक विरोधों पर सवाल खड़े करता है और प्रायः इनके विरोध को खोलने और समाप्त करने का प्रयास करता है। विखण्डन की मान्यता है कि किन्हीं भी दो चीज़ों में वास्तविक अर्थ में कुछ भी एक सा नहीं होता है।

4.4.06. उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा

देरिदा का मानता है कि विशुद्ध अभिव्यक्ति में सदैव निर्देशनात्मक तत्त्व होता है। अभिव्यक्ति में निर्देशन (सूचना) का पूर्ण अभाव नहीं होता है क्योंकि संकेत अपने से पूरी तरह भिन्न चीज़ को नहीं बता सकता। कोई भी संकेतित ऐसा नहीं है जो संकेतक से स्वतन्त्र हो। देरिदा के अनुसार अर्थ का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें अर्थ-सूचक चिह्न अर्थ से अलग कर लिए जाए। स्वतन्त्र संकेतित जैसी किसी चीज़ के अस्तित्व से इन्कार करते हुए देरिदा सिद्ध करता है कि एक तो कोई भी विशेष संकेत विशेष संकेतित को द्योतित करने वाला नहीं माना जा सकता। दूसरे, संकेतकों की व्यवस्था से बचा नहीं जा सकता। अतः कोई भी निरपेक्ष और अबाधित उपस्थिति नहीं हो सकती है।

देरिदा ने हेडेगर द्वारा अस्तित्व को विशेष महत्त्व दिए जाने से तत्त्वमीमांसा पर पड़ने वाले दोषपूर्ण प्रभाव को पहचान लिया कि अस्तित्व यानी 'उपस्थिति' दर्शन के क्षेत्र में उद्भव और प्रस्थान का अदृश्य बिन्दु या

ज्ञानातीत आधारशिला है। चेतना को दिए गए विशेष महत्त्व का आशय 'उपस्थित' को विशेष महत्त्व देना ही है। यहाँ देरिदा ने दार्शनिक विश्लेषण के मुख्य उद्देश्य को पहचान लिया, वह है 'उपस्थिति' की तत्त्वमीमांसा। इस दार्शनिक परम्परा की आलोचना में ही देरिदा को यह क्रान्तिकारी विचार मिला कि भाषा अपने से बाहर की दुनिया के लिए किसी स्थिर और पूर्वानुमेय ढंग का पता नहीं देती है, बल्कि अपने आन्तरिक भेदों का पता देती है।

देरिदा के लिए 'लेखन' एक इन्द्रियानुभविक अवधारणा नहीं है जिसमें एक बोधगम्य व्यवस्था के तहत किसी भौतिक पदार्थ पर कुछ लिखा या अंकित किया जाता है। उसके लिए 'लेखन' उस संरचना का नाम है जो सदैव पहले से ही ट्रेस (पदचिह्न या निशान) द्वारा आबाद है। देरिदा ने अपने लेखन में बार-बार यह दावा किया है कि न केवल सभी पाश्चात्य दर्शन और भाषा के सिद्धान्त, बल्कि भाषा के सभी पाश्चात्य प्रयोग अर्थात् सम्पूर्ण पाश्चात्य संस्कृति शब्दकेन्द्रित (लोगोसेंट्रिक) है। हेडेगर के मुहावरे में देरिदा कहता है कि पाश्चात्य संस्कृति 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' पर आधारित है। विखण्डन की विधि 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' से जुड़ी हुई है। 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' विचार का व्यवस्थापन या गठन और व्याख्या है जो अर्थ के स्थायित्व और आत्म-उपस्थिति पर निर्भर है। यह चिन्तन की मुक्त क्रीड़ा को निष्क्रिय करती है, उसमें अवरोध पैदा करती है, क्योंकि चिन्तन की मुक्त क्रीड़ा पूरी संरचना के लिए ख़तरा या चुनौती बन सकती है। 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' आत्म-परिचय की पूर्ण तत्त्वमीमांसा है जिसमें एक सत्ता की अन्तर्वस्तु को उसके अस्तित्व के साथ पूर्ण रूप से मिला हुआ माना जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों से देरिदा का विरोध इस बात पर है कि उनकी मान्यताएँ अनिश्चितता पर आधारित हैं। लगभग सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्भव और आधार 'उपस्थिति' है। देरिदा इस उपस्थिति की सम्भावना से इन्कार करता है और उस मुख्य आधार को ही हटा देता है जहाँ से दार्शनिक प्रस्थान करते हैं। देरिदा यह सिद्ध करता है कि विद्यमान या उपस्थित जैसा कुछ नहीं है। विद्यमान को सामान्यतः ज्ञात जगत् की घटना माना जाता है। हम विगत अतीत के बारे में निश्चित तौर पर नहीं जानते, हम भविष्य में क्या होगा या अन्य स्थान पर क्या हो रहा है इस बारे में भी निश्चयपूर्वक नहीं बता सकते, लेकिन हम अपने वर्तमान पर, जो अभी और यहाँ हो रहा है उस पर भरोसा करते हैं। विद्यमान या उपस्थित को चुनौती देकर देरिदा ने प्रत्यक्षवाद और घटना-क्रियावाद दोनों को संकट में डाल दिया है।

4.4.06.1. लेखन-विज्ञान और शब्दकेन्द्रवाद

'उपस्थिति' की तत्त्वमीमांसा की आलोचना मुख्य रूप से 'शब्दकेन्द्रवाद' (लोगोसेंट्रिज़्म) की आलोचना है। देरिदा के अनुसार 'शब्दकेन्द्रवाद' logos (वाक्, विचार, कानून, या तर्क के लिए प्रयुक्त यूनानी शब्द) को भाषा और दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त मानने की प्रवृत्ति है। 'शब्दकेन्द्रवाद' में वाक् भाषा के केन्द्र में होता है न कि लेखन। देरिदा की पुस्तक 'ऑफ़ ग्रमैटॉलॅजि' (देरिदा के अनुसार 'लेखन का विज्ञान') हमारे लेखन के विचारों को वाक् के विचारों के अधीनस्थ होने से मुक्त कर देती है। लेखन-विज्ञान भाषा के उद्भव के अनुसंधान की विधि है जो लेखन के विचार को वाक् के विचार जितना ही व्यापक बनने के योग्य बनाता है। देरिदा कहता है कि 'शब्दकेन्द्रवादी' सिद्धान्त के अनुसार वाक् अर्थ का मौलिक संकेतक है और लिखित शब्द उच्चरित शब्द से व्युत्पन्न होता है। इसलिए लिखित शब्द उच्चरित शब्द का प्रतिनिधान होता है। शब्दकेन्द्रवादी दृष्टि से भाषा का

उद्भव विचार-प्रक्रिया के रूप में होता है जो वाक् को जन्म देती है और तब यह वाक् लेखन को जन्म देता है। 'शब्दकेन्द्रवाद' पाठों, सिद्धान्तों, प्रतिनिधान के माध्यमों तथा संकेत व्यवस्थाओं की ऐसी विशेषता है जो प्रत्यक्ष और बिना किसी मध्यस्थ के अर्थ को स्थगित करते हुए ज्ञान और अस्तित्व की इच्छा उत्पन्न करती है।

'लोगोसेंट्रिज़्म' या 'शब्दकेन्द्रवाद' विचार, वाक् और लेखन के मध्य विशिष्ट और जटिल सम्बन्ध को प्रकट करने वाला पद है। व्युत्पत्तिपरक और ऐतिहासिक दृष्टि से 'शब्दकेन्द्रवाद' विचारों की उस व्यवस्था को बताता है जो 'शब्द' (logos) की स्थिरता और प्रभाव के आधार पर निर्मित हुई है। प्राचीन यूनानी दर्शन और ईसाई धर्मशास्त्र के अनुसार 'logos' का प्रयोग 'ईश्वर के शब्दों' (वाणी – जिससे विश्व की रचना तथा विश्व-रचना की तार्किक व्याख्या हुई) के अर्थों में हुआ है। वाक् के रूप में 'logos' में भाषा और यथार्थ अन्ततः एक हो जाते हैं जिसमें पूर्ण प्राधिकार, विशुद्ध उद्भव और उच्चतम उद्देश्य निहित माना जाता है। शब्द केन्द्रित विचार अपने चिन्तन में 'शब्द' को प्राथमिकता और महत्त्व देता है। 'शब्द' और वचन या वाक् के मध्य स्पष्ट भेद किया जाता है। शब्दकेन्द्रवाद के अनुसार विमर्श की आवश्यकता के लिए पहले वाक् और बाद में लेखन द्वारा 'विचार' की मध्यस्थता की जाती है। इस प्रकार वाक् अर्थ का मौलिक संकेतक होता है, जबकि लेखन केवल संकेतक का संकेतक होता है। शब्दकेन्द्रवाद वाक् की इसी विशेषता के लिए उसे प्राथमिक मानता है।

उपस्थिति की मान्यता के कारण ही वाक् को लेखन पर तरजीह दी जाती है। देरिदा के अनुसार यही वाक्-केन्द्रिकता या 'वाक्-केन्द्रवाद' है। वाक् को प्राथमिक माना जाता है क्योंकि यह 'उपस्थिति' की सम्भावना के क़रीब है। 'वाक्-केन्द्रवाद' 'उपस्थिति' का ही प्रभाव है। वाक् और लेखन के विरोध को विखण्डित करते हुए देरिदा 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' का विखण्डन करता है।

4.4.06.2. उपस्थिति की अनुपस्थिति

विखण्डन की मुख्य परियोजना किसी भी पाठ में 'लोगोसेंट्रिज़्म' (शब्दकेन्द्रवाद) के परिचालन को प्रदर्शित करना है। विखण्डन 'उपस्थित' को विमर्श के प्रामाणिक सूचक के रूप में अत्यधिक महत्त्व दिए जाने से असहमत है। इसके स्थान पर वह इस बात पर ध्यान देता है कि भाषा किस प्रकार भेदों के खेल (संकेतक के अन्तरालन, फ़िसलन आदि) द्वारा अर्थ ग्रहण करती है। अपने आरम्भिक ऐतिहासिक लेख – 'स्ट्रक्चर, साईन एण्ड प्ले इन द डिस्कोर्स ऑफ़ द ह्यूमन साईन्सेज़' में देरिदा 'खेल' का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, जो स्थिर और केन्द्रीकृत संरचनाओं को वैधता प्रदान करने वाली 'संरचनावाद की संरचना', ज्ञानातीत संकेतित पर प्रश्न खड़े करता है। भाषा के भीतर भेदों का खेल केन्द्र या मूल के अभाव या 'अनुपस्थिति' द्वारा सम्भव होता है। यह पूरकता की क्रिया है। देरिदा के लिए पूरक का अर्थ कुछ जोड़ने से अधिक है, इसमें एक सम्पूर्णता दूसरी सम्पूर्णता को समृद्ध करती है। इसका अर्थ वैकल्पिक प्रतिस्थापन अर्थात् स्वयं को किसी के स्थान पर ले आना है। यदि यह किसी धारणा का निर्माण या प्रतिनिधित्व करती है तो ऐसा 'उपस्थिति की किसी पूर्ववर्ती अनुपस्थिति' के कारण है।

4.4.06.3. विभेदन या डिफ़रांस (Differance)

देरिदा का विखण्डन उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध अपनी आलोचना के अनन्तर आने श्लिष्ट पदों का प्रस्ताव करता है। इनमें सबसे प्रमुख पद है विभेदन' (डिफ़रांस)। 'डिफ़रांस' में डिफ़रेंस (भेद) और डिफ़रल (आस्थगन) शब्दों का अर्थ मिला हुआ है, जो बताता है कि भाषा में अर्थ की विभेदक प्रकृति किसी भी निश्चित अर्थ को निरन्तर रूप से स्थगित करती रहती है। डिफ़रांस (विभेदन) अपरिभाषेय है और 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' से इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। देरिदा ने 'डिफ़रांस' शब्द का निर्माण और प्रयोग उपस्थिति और अनुपस्थिति के उद्भव का वर्णन करने तथा यह दिखाने के लिए किया है कि कैसे कोरे शब्द सम्पूर्ण अर्थ सम्प्रेषित नहीं करते हैं। 'डिफ़रांस' का अर्थ स्थगित किए जाने की स्थिति या गुण ही नहीं है, बल्कि अलग होने की स्थिति या गुण भी है। यह उपस्थिति और अनुपस्थिति के विरोध की दशा है। शब्द हमें वक्ता के विचार का कुछ संकेत तो देते हैं, लेकिन एक उच्च स्तरीय अर्थ को स्थगित भी करते हैं। वे वक्ता के कथन को वार्तालाप या विमर्श के अगले कुछ समय तक के लिए स्थगित कर देते हैं। 'डिफ़रांस' यह बताता है कि शब्दों के अर्थ भाषा में अन्य शब्दों के क्रम में तथा शब्द की समकालिक और ऐतिहासिक परिभाषाओं के संघर्ष द्वारा प्राप्त होते हैं।

देरिदा ने पाठ की व्याख्या के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया है कि "पाठ के बाहर कुछ नहीं है।" ।ऐसा कहने का आशय यह है कि सन्दर्भ से बाहर कुछ नहीं। उसके कथन का अर्थ सन्दर्भ की अपरिहार्यता से है, जो 'विभेदन' का केन्द्र-बिन्दु है। उदाहरण के लिए, यदि कोई बिना किसी सन्दर्भ के केवल घर बोलता है तो हम सही-सही नहीं समझ सकते कि वह क्या कहना चाहता है। घर शब्द का वास्तविक अर्थ उसके प्रत्यक्ष विवरण या परिभाषा के स्थान पर 'घर' की परम्परागत छवि तथा इसके लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्दों के साथ तुलनात्मक सम्बन्ध के आधार पर निर्धारित होता है, जैसे 'नया घर', 'अपना घर', 'मिट्टी का घर' आदि। घर से सम्बन्धित अन्य शब्द जैसे 'भवन' या 'मकान' आदि कहे जाने पर (संकेतक-संकेतित के सम्बन्ध के अनुसार) उनके अलग-अलग अर्थ हमारे सामने आ जाते हैं। वस्तुत: यहाँ मुख्य विचार यह दर्शाना है कि अर्थ बहुत जटिल और क्षणजीवी होता है। भाषा में एक संकेतक दूसरे संकेतक से भिन्न होता है और वह दूसरे को स्थगित करता रहता है। कोई भी संकेत अपने आप में पूर्ण नहीं होता है, उसका अधिकांश कहीं और होता है और वह वहाँ भी कभी पूरा नहीं होता है। उसमें कोई कमी, कोई अपूर्णता सदैव बनी रहती है। अतः कोई भी सत्ता पूर्ण नहीं है। 'विभेदन' वाक् और लेखन तथा शब्द के आन्तरिक अर्थ और बाह्य प्रतिनिधित्व के बीच की योजक कड़ी है।

4.4.06.4. पदचिह्न या निशान (Trace)

डिफ़रांस या 'विभेदन' का विचार अपने साथ 'पदचिह्न' या 'निशान' का विचार भी लेकर आता है। 'निशान' (Trace) वह है जिससे एक संकेत भिन्न होता है और जिसे वह स्थगित करता है। यह संकेत की उपस्थिति का अनुपस्थित हिस्सा है, अर्थात् 'निशान' अनुपस्थित वस्तु द्वारा अपने से पूर्व की उपस्थिति के दृश्यपटल से गुज़रने के बाद छोड़ा गया संकेत है। प्रत्येक उपस्थित स्वयं को उपस्थित पाने के लिए एक

अनुपस्थित के निशान रखता है जो उसे परिभाषित करता है । इसका निहितार्थ यह है कि मूल उपस्थित को मूल निशान रखने होते हैं – उस अतीत के उपस्थित निशान जो कभी घटित नहीं हुआ, वह शुद्ध और निरपेक्ष अतीत। देरिदा कहता है कि स्वयं निशान का अस्तित्व नहीं होता है क्योंकि वह आत्मनाशी है। स्वयं को उपस्थित करने में वह नष्ट हो जाता है। पाश्चात्य चिन्तन में सभी संकेतकों को उपस्थित माना जाता है, अतः उनमें अन्य (अनुपस्थित) संकेतकों के निशान आवश्यक रूप से होते हैं। संकेतक न तो पूर्ण रूप से उपस्थित होते हैं, न ही पूर्ण रूप से अनुपस्थित।

परम्परागत दर्शनों का मुख्य ध्यान 'उपस्थिति' पर था। उपस्थिति का सम्बन्ध वास्तविक घटनाक्रमों, आमने-सामने के विचार-विमर्श या व्यक्ति के अस्तित्व से है। यह जीवन का सार या वास्तविकता है। लेकिन देरिदा का दावा है कि 'उपस्थिति' जैसी कोई चीज़ नहीं होती है। हमें जो भी अनुभव या प्रत्यक्षीकरण होता है वह जैसा दिखाई देता है (या अनुभव होता है) शुद्ध रूप में वैसा नहीं होता है। किसी भी विशुद्ध वार्तालाप, मानवीय अनुभव या कला का अस्तित्व नहीं होता है। विश्व के बारे में हमारा सम्पूर्ण ज्ञान विचारों और अवधारणाओं की मध्यस्थता द्वारा हमें उपलब्ध होता है। इसलिए देरिदा का विचार है कि हमें इस दार्शनिक कल्पना को त्याग देना चाहिए कि हम किसी भी चीज़ का उसके शुद्ध रूप में, उसकी 'उपस्थिति' के रूप में, अनुभव कर सकते हैं। इसके स्थान पर हमें स्वीकार करना चाहिए कि जो भी है वह बहुत सारे ट्रेस (पदचिह्न या निशान) हैं। उसके अनुसार हम जो भी अनुभव करते हैं वह किसी उपस्थिति के पदचिह्न या निशान मात्र हैं। अवधारणाओं और पाठों के रूप में मध्यस्थता का अर्थ यह है कि चीज़ें और उनका ज्ञान हम तक देरी से पहुँचता है। हमारा प्रत्येक अनुभव अप्रत्यक्ष और अधूरा होता है। हम अपने आस-पास जो भी देखते और अनुभव करते हैं वह वस्तुतः बीती हुई चीज़ों और घटनाओं का अभिलेखन या अंकन है। ये अतीत में कभी अपने शुद्ध और वास्तविक रूप में थीं, लेकिन हमारे अनुभव में उनके निशान ही आते हैं। ट्रेस किसी अनुपस्थित के निशान हैं जो कभी उपस्थित या विद्यमान था ही नहीं। इसकी उपस्थिति अनुपस्थित के साथ इसके सम्बन्ध से बनती है। भाषा की अर्थवत्ता को समझने के लिए देरिदा का सूत्र है – भाषा निशानों का खेल है। देरिदा के इन विचारों से जीवन और दुनिया के बारे में एक शुष्क और नीरस दृष्टिकोण बनता लगता है, जिसमें कुछ भी शुद्ध नहीं, मौलिक नहीं, सुन्दर और पूर्ण नहीं। लेकिन देरिदा मध्यस्थता को बुरा नहीं मानता है। वह कहता है कि यह और यही जीवन है।

4.4.07. लेखन की प्रतिष्ठा

देरिदा के समस्त लेखन का उद्देश्य संरचनाओं के भीतर दबे हुए तत्त्वों को खोज कर विमर्श के केन्द्र में लाना और उन्हें उनकी ऐतिहासिक भूमिका प्रदान करना है। इस कोशिश में वह संरचना के दमनकारी तत्त्वों को अनावृत्त करता है और दमित तत्त्व को महत्त्व देकर उभारता है। युग्मक विरोधों के पदानुक्रम को उलटने की उसकी रणनीति इसी कोशिश का हिस्सा है। 'शब्दकेन्द्रवाद' की आलोचना और लेखन को वाक् केन्द्रित बनाने की अवधारणा का विरोध वस्तुत: लेखन को प्रतिष्ठित करने का उद्यम है।

4.4.07.1. वाक् बनाम लेखन

देरिदा के चिन्तन मुख्य उद्देश्य 'लेखन' के महत्त्व को स्थापित करना है। वह लेखन को सांस्कृतिक जीवन का मुख्य स्रोत मानता है। उसके अनुसार लेखन को सभी संकृतियों और दर्शनों ने दबाया है और उसे वाक् से दोयम दर्ज़े की चीज़ माना है। वह लेखन को सभी तरह के वर्चस्व के विरुद्ध एक उग्र कार्यवाही मानता है। लेखन के महत्त्व को स्थापित करने के लिए देरिदा ने पाश्चात्य संस्कृति में वाक् को सभी विमर्शों में केन्द्रीय महत्त्व दिए जाने के विरुद्ध संघर्ष किया है।

फ्रांसीसी प्रबोधक दार्शनिक रूसो के लेखन में, समाज और संस्कृति को भ्रष्ट और दमनकारी शक्ति के रूप में विवेचित किया गया है। इनका विकास प्रकृति की ग्राम्य अवस्था से हुआ है और जिनमें मनुष्य आत्म-निर्भर तथा एक-दूसरे से अलग-अलग शान्तिपूर्ण एकान्त में निवास करते हैं। इसलिए रूसो प्रकृति का अस्तित्व संस्कृति से पहले मानता है। रूसो ने संगीत के विवेचन के दौरान वाक् की प्राथमिकता प्रतिपादित की थी और बताया था कि संगीत 'प्राथमिक' वाक् है। रूसो के लिए वाक् प्राथमिक है क्योंकि यह प्राकृतिक है। यही भाषा का आधार है। लेखन प्राकृतिक न होकर व्युत्पन्न होता है, इसलिए वह अभिव्यक्ति का एक कमज़ोर ढंग है। लेखन वाक् का पूरक है जो वाक् को ही भ्रष्ट कर देता है। रूसो प्रकृति को संस्कृति से प्राथमिक और मनुष्य के लिए अधिक कल्याणकारी मानता है। लेखन संस्कृति का हिस्सा होने के कारण रूसो के लिए दोयम हो जाता है, वाक् प्रकृति का हिस्सा होने के कारण प्रथम और महत्त्वपूर्ण है। देरिदा रूसो के चिन्तन में अन्तर्विरोधों को उजागर करता है और बताता है कि रूसो के अनुसार यदि प्रकृति का हिस्सा होने से वाक् प्राथमिक है तो प्रकृति वाक् से प्राथमिक हुई। अर्थात् वाक् से पहले भी कोई तत्त्व है जिसकी क़ीमत पर वाक् को भाषा का उत्स माना गया है। यदि लेखन एक पूरक है तो वह किसी अभाव को पूरा करने के लिए है यानी उससे पहले की कोई चीज़ अपूर्ण थी, उसमें कुछ कमी थी जिसे पूरा किया जा रहा है। यह रूसो के चिन्तन का अन्तर्विरोध है।

देरिदा का तर्क है कि जब रूसो किसी घटना या क्रिया का वर्णन करता है तो वह 'पूरक' पर भरोसा करता है। जब प्रकृति को आत्म-निर्भर बताया जाता है तब भी उसे संस्कृति की आवश्यकता होती है। रूसो का विश्वास था कि वाक् मौलिक, स्वस्थ और भाषा की सर्वाधिक प्राकृतिक दशा थी। लेखन केवल व्युत्पन्न और संचार का दुर्बल माध्यम है। देरिदा कहता है कि स्वयं रूसो का लेखन 'लेखन' की प्राथमिकता की पुष्टि करता है। रूसो के लेख उसी बात को स्वीकार करते हैं जिसे रूसो इन्कार करता है। उसके लेखों का वह अर्थ नहीं होता है जो वे बताते हैं या उनका जो अर्थ निकलता है वैसा वे कहते नहीं हैं।

माना जाता है कि विचार अपने आप किसी को आन्तरिक रूप से बोलते हुए सुनना है, न कि स्वयं का लिखा हुआ पढ़ना। यह विचार-प्रक्रिया वाक् को प्राथमिक मानवीय संचार-माध्यम बना देती है और लेखन को द्वितीयक – एक ऐसा पदानुक्रम, जिसे प्लेटो से लेकर सॉस्सुर तक सभी पाश्चात्य दार्शनिक, भाषावैज्ञानिक और माध्यम-विशेषज्ञ विस्तार से समझते-समझाते चले आए हैं। शब्दकेन्द्रवाद के विरुद्ध देरिदा का प्रतिवाद इस प्रकार के पदानुक्रम की व्यवस्था का विशद् विवेचन है। देरिदा के अनुसार शब्दकेन्द्रवाद ऐसा सिद्धान्त है जिसके

अन्तर्गत लेखन को वाक् से बाहर माना गया है और वाक् को विचार से बाहर माना गया है। यदि लेखन केवल वाक् का प्रतिनिधान है तब लेखन केवल एक संकेतित का एक संकेतक है। इस प्रकार शब्दकेन्द्रवाद के लिए लेखन भाषा का मात्र व्युत्पन्न रूप है जो इस प्रकार से अपना अर्थ प्राप्त करता है। यहाँ भाषा के विकास में वाक् को केन्द्रीयता और महत्त्व दिया गया है, जबकि लेखन को हाशिये पर धकेल दिया गया है। देरिदा बताता है कि शब्दकेन्द्रवादी सिद्धान्त के अनुसार वाक् एक प्रकार की उपस्थिति है क्योंकि श्रोता के लिए वक्ता साथ-साथ उपस्थित रहता है लेकिन लेखन एक प्रकार की अनुपस्थिति है क्योंकि वहाँ लेखक पाठक के लिए साथ-साथ उपस्थित नहीं होता है।

4.4.07.2. वाक् केन्द्रवाद की आलोचना

वाक् केन्द्रवादी सिद्धान्त में लेखन को लेखक और पाठक की समानान्तर उपस्थिति का विकल्प मान लिया जाता है। यदि पाठक और लेखक समानान्तर रूप से उपस्थित होते तो लेखक पाठक से लेखन के स्थान पर बोलकर (वाणी द्वारा) संचार करता। इस प्रकार शब्दकेन्द्रवाद यह दिखाता है कि लेखन वाक् का विकल्प है और लेखन वाक् की उपस्थिति को बहाल करने का प्रयास है। देरिदा 'वाक् बनाम लेखन' के युग्मक विरोध का विखण्डन करता है। वह इस युग्मक विरोधी में वाक् को उच्चतर हैसियत दिए जाने (वाक्-केन्द्रवाद) का विरोध करता है क्योंकि वाक्-केन्द्रवाद मानता है कि वक्ता की उपस्थिति बातचीत या संचार को अधिक प्रत्यक्ष और शुद्ध बनाती है। देरिदा के अनुसार यदि कोई 'ज्ञानातीत संकेतित' नहीं है, कोई वस्तुनिष्ठ सत्य नहीं है, तब ऐसे युग्मक स्थिर और स्थायी नहीं हैं। ये अस्थिर और परिवर्तनीय हैं। इन्हें उलटा जा सकता है। देरिदा 'वाक् बनाम लेखन' के युग्मक विरोधी का पदानुक्रम ही नहीं बदलता, बल्कि तर्क प्रस्तुत करता है कि लेखन तो वाक् से पहले ही आता है और वाक् लेखन का एक रूप है। जब हम वाचिक संकेत की व्याख्या करते हैं, उसका अर्थ ग्रहण करते हैं तब हम संकेतक के शुद्ध रूपकी पहचान के द्वारा ऐसा करते हैं। इस संकेतक को उच्चारण की भिन्नता के बावजूद बार-बार दोहराया और पहचाना जा सकता है। पुनरावृत्ति के योग्य होना मूलतः लेखन की विशेषता है, क्योंकि वाक् तो उच्चरित होते ही हवा में ग़ायब हो जाता है।

देरिदा कहता है कि जब दोहराए जा सकने वाले संकेतक में लेखन की विशेषताएँ हैं, तो वाक् विशेष प्रकार का लेखन ही हुआ। इतना ही नहीं, देरिदा के अनुसार ये युग्मक परस्पर पूर्ण रूप से पृथक् नहीं होते है, एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण भी करते हैं। उन्हें पूरी तरह पृथक् करने में भाषा के लिए कई अन्तर्विरोध और साहचर्य बीच में आते हैं। जब वे उपस्थिति पर ज़ोर देते हैं तब साथ-साथ जो अनुपस्थित है उसकी याद भी दिलाते हैं और इस प्रकार एक-दूसरे के पूरक बनते हैं। देरिदा युग्मक विरोधों के इस अस्थिर सम्बन्ध को 'पूरकता' कहता है, जिसमें प्रत्येक शब्द दूसरे में कुछ जोड़ता है और उसका स्थान ले लेता है। लेखन भी न केवल वाक् में कुछ जोड़ता है, बल्कि उसका विकल्प भी बनता है, भले ही यह विकल्प कभी सही और सटीक न हो।

4.4.08. संरचनावाद का विखण्डन

सॉस्सुर के संकेत सिद्धान्त में संकेत के विशुद्ध विभेद पर बल दिया गया है लेकिन संकेतक (व्यंजक) और संकेतित (व्यंजना) के मध्य स्पष्ट भेद किया गया है। संकेतक विचार है और संकेतित उसका भौतिक या शाब्दिक रूप। यहाँ संकेतक पहले से विद्यमान संकेतित को सामने लाने के लिए होता है। सॉस्सुर के भाषाविज्ञान में संकेत को एक इकाई माना गया है, लेकिन देरिदा की दृष्टि में शब्द और वस्तु या विचार कभी भी एक नहीं हो सकते। देरिदा की भाषा-दृष्टि में संकेतक सीधे-सीधे संकेतित से सम्बन्धित नहीं हैं। वह संकेत को भेद की एक संरचना के रूप में देखता है जहाँ उसका आधा भाग 'वहाँ नहीं' होता है तथा दूसरा आधा भाग सदैव 'वही नहीं' होता है। संकेतक और संकेतित निरन्तर अलग होते रहते हैं और नये रूप में पुनः जुड़ते रहते हैं। यह प्रक्रिया सॉस्सुर के मॉडल की अनुपयुक्तता प्रकट करती है जिसके अनुसार संकेतक और संकेतित एकमेक रहते हैं। विखण्डन के अनुसार संकेतक और संकेतित में स्थायी अन्तर नहीं होता है। संकेतक संकेतित में और संकेतित संकेतक में बदलते रहते हैं, कभी कोई अन्तिम संकेतित नहीं प्राप्त होता जो स्वयं संकेतक नहीं हो। जब हम किसी संकेत को पढ़ते हैं तो उसका अर्थ हमें तुरंत स्पष्ट नहीं होता है। संकेत एक अनुपस्थित का सन्दर्भ देता है अर्थात् अर्थ भी अनुपस्थित है। अर्थ निरन्तर संकेतकों की शृंखला के साथ चलते रहते हैं और हमें उनके वास्तविक स्थान का पता नहीं चलता है, क्योंकि अर्थ किसी विशेष संकेत के साथ बँधा हुआ नहीं रहता है। उदाहरण के लिए, जब हम एक संकेतक का अर्थ या संकेतित जानना चाहते है तब हम उसे शब्दकोश में ढूँढते हैं लेकिन वहाँ हमें एक के बाद एक संकेतक ही मिलते हैं। यह प्रक्रिया अन्तहीन और वर्तुल है अर्थात् संकेतित की खोज में हम वापस उसी संकेतक के पास पहुँच जाते हैं और वही प्रक्रिया पुनः शुरू हो जाती है। संकेतित संकेतक ही रह जाता है, हम अन्तिम रूप से किसी ऐसे संकेतित को प्राप्त नहीं करते जो संकेतक न हो। देरिदा कहता है कि सॉस्सुर ने संकेतक और संकेतित के मध्य जो स्पष्ट भेद किया है तथा संकेतित को जो महत्त्व दिया है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही सॉस्सुर के सिद्धान्त में संकेत व्यवस्था का जो पदानुक्रम है उसे भी बदलना होगा।

4.4.09. पाठ से बाहर कुछ नहीं है

देरिदा ने 'ऑफ़ ग्रमैटॉलॉजी' में रूसो पर अपने विवेचन के अन्तर्गत यह अभिकथन किया कि "पाठ से बाहर कुछ नहीं है।" इसे यूँ समझा गया कि देरिदा की दृष्टि में भाषा से बाहर कुछ नहीं है और वह केवल शब्दों का ही अस्तित्व मानता है और किसी का नहीं। ऊपर हमने देखा है कि देरिदा संकेतित की अन्तिमता पर भी प्रश्न उठाता है और प्रस्तावित करता है कि भाषा में हम एक संकेतक से दूसरे संकेतक तक आते-जाते रहते हैं तथा इस प्रक्रिया में अन्तिम अर्थ या संकेतित सदैव भ्रामक बना रहता है। सॉस्सुर ने बताया था कि अपने विशिष्ट गुणों और भेदों के कारण 'संकेत' बाह्य दुनिया में मौजूद अर्थ का सन्दर्भ देते हैं, लेकिन देरिदा ने तर्क दिया कि भाषा से बाहर कुछ भी नहीं है, भाषा का सन्दर्भ स्वयं भाषा ही है। शब्द किसी ऐसे अर्थ को नहीं बताते हैं जो भाषा के परिक्षेत्र से बाहर हो।

शब्दकेन्द्रवाद की चर्चा के दौरान हम यह जान चुके हैं कि देरिदा वाक् को लेखन पर तरजीह देने की आलोचना करता है। उसका तर्क है कि भाषा और मानवीय विकास के सिद्धान्तकारों द्वारा किए गए इस कार्य ने भाषा की समस्या और उपस्थिति के साथ उसके सम्बन्ध को उलझा दिया है। इस मुद्दे पर विखण्डन वाक्-केन्द्रवाद की आलोचना तथा 'लेखन के सामान्य विज्ञान' के विस्तार के रूप में उभर कर आता है। इस विशेष अर्थ में लेखन भाषा के भीतर भेदों के खेल के रूप में प्रस्तुत होता है। इस प्रक्रिया को समझाने के लिए देरिदा यहाँ 'डिफ़रांस' नाम से एक नया पद प्रस्तुत करता है जो भाषा की अनिश्चित और अननुमेय दशा को प्रकट करता है। इसमें संकेतक अन्तहीन रूप से एक-दूसरे को सन्दर्भित करते रहते हैं। अर्थवत्ता की मुक्त क्रीड़ा उपस्थिति या ज्ञानातीत संकेतित की सम्भावना को समाप्त कर देती है, लेकिन यह इस दावे को स्वीकार नहीं करती कि केवल भाषा का ही अस्तित्व है या भौतिक संसार कोई इन्द्रजाल या शब्दों का भ्रम है।

देरिदा की प्रसिद्ध टिप्पणी कि "पाठ से बाहर कुछ नहीं है", भौतिक और गोचर जगत् का खण्डन नहीं है। वस्तुत: यह पाठ की क्रान्तिकारी सत्तामीमांसा की घोषणा है। विखण्डन पाठ के वितान में, उसकी टूट-फूट के क्षणों में, जिन पर पाठ स्वयं सन्देह पैदा करता है उन अपारताओं और असमंजस में होता है। विखण्डन इन दशाओं में ही सम्भव होता है। अस्थिरता के ये क्षण किसी भी पाठ में निहित दार्शनिक, नैतिक, वैज्ञानिक और आलोचनात्मक मान्यताओं के विश्लेषण का आधार प्रदान करते हैं। एक उपयुक्त भाषा, एक ऐसी भाषा जो संसार की वस्तुओं और घटनाओं का विश्वसनीय ढंग से प्रतिनिधित्व करती हो, की परिकल्पना ही वह मुख्य चीज़ है जिसकी आलोचना विखण्डन करता है। सार्थक रूप से संगठित सभी पाठों को आन्तरिक स्तर पर असंगत और बिखरे हुए देखा जा सकता है। यह असंगतता और बिखराव, असमंजस या ऊहापोह ही उन पाठों के संघटक तत्त्व हैं।

4.4.10. पारिभाषिक शब्दावली

(1) खेल (Play)

देरिदा ने अपने व्याख्यान 'स्ट्रक्चर, साईन एण्ड प्ले इन द डिस्कोर्स ऑफ़ द ह्यूमन साइंस' में परम्परागत दर्शनों के 'युग्मक विरोधों' की अवधारणा पर प्रश्न खड़े किए थे। वह विरोधों की एक अनवरत शृंखला का विचार प्रस्तुत करता है। इसे वह 'प्ले' यानी खेल कहता है। खेल का मूल विचार यह है कि शब्द का कोई भी अर्थ स्थायी नहीं होता है, क्योंकि शब्दों की तरह उनके पीछे के विचार भी निरन्तर बदलते रहते हैं। इसलिए चाहे हम अपने शब्दों और उनके अर्थों को स्थिर रखना चाहें या न चाहें, सभी तरह का अर्थ-निर्माण और अभिव्यंजना खेल का शिकार हो जाती है। हमारी भाषा उच्छृंखल बच्चों के समूह की तरह है जो पकड़ में नहीं आते हैं। मनुष्य कुछ भी कर ले, भाषा किसी को भी यह कहने का अवसर नहीं देती कि 'खेल ख़त्म हुआ।' खेल तो चलता रहेगा और बदलता रहेगा।

(2) आद्य-लेखन (Arche-Writing)

आद्य-लेखन शब्द का प्रयोग देरिदा द्वारा भाषा के एक रूप का वर्णन करने के लिए किया गया है जिसे 'उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा' के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता है। आद्य-लेखन भाषा का मौलिक स्वरूप है जो वाक् से व्युत्पन्न नहीं है। यह भाषा का ऐसा रूप है जो वाक् और लेखन के भेद से अबाधित और अप्रभावित है। यह भाषा के लिखित और अलिखित रूप के मध्य भेद की अस्थिरता की दशा भी है।

(3) पूरक (Supplement)

देरिदा ने यह शब्द रूसो से लिया है। रूसो स्वयं में पूर्ण वस्तु में ग़ैर-ज़रूरी अतिरिक्त तत्त्व जोड़ने को पूरक कहता है। देरिदा का तर्क है कि जो वस्तु स्वयं में पूर्ण है उसमें अतिरिक्त कुछ भी नहीं जोड़ा जा सकता, इसलिए एक पूरक वहीं आता है जहाँ मूल रूप से कुछ कमी होती है। युग्मक विरोधों में दूसरा पद पहले पद की कमी को भरने के लिए अस्तित्व में होता है। देरिदा के लिए पूरक के तर्क से पूर्व कुछ नहीं है। यदि कोई पूरक से वापस स्रोत की ओर जाना चाहे तो उसे यह पता चलेगा कि स्रोत पर भी एक पूरक है।

(4) उद्‌भव (Origin)

परम्परागत दर्शनों के पास सभी चीज़ों के उद्‌भव और मौलिकता की कहानियाँ थीं। जीवन से लेकर भाषा, पाठ तथा प्रेम और घृणा जैसे भावों के विशुद्ध उद्‌भव की कहानियाँ। शुद्ध आत्मा का अस्तित्व, मानने भर से होने का विचार, अक्षर से पहले वाणी का अस्तित्व आदि इसी प्रकार की बातें थीं। देरिदा ने कहा कि ऐसा कुछ भी नहीं होता है। उसके अनुसार चीज़ों के अर्थ की तरह उनका उद्‌भव या मौलिकता भी सदैव अस्थिर, बहुस्तरीय और परिवर्तनीय होती है, इसलिए उसकी पहचान असम्भव है।

(5) पाठ (Text)

पाठ भी एक बहुत ही जटिल अवधारणा है। देरिदा ने घोषणा की कि "पाठ से बाहर कुछ नहीं है।" इसका यह अर्थ ले लिया गया कि देरिदा कहना चाहता है कि सम्पूर्ण विश्व एक पाठ है और पदार्थ या विषयवस्तु जैसी कोई चीज़ नहीं है, हमारे चारों ओर जो कुछ भी है वह शुद्ध पाठ है। लेकिन देरिदा का ऐसा आशय बिलकुल नहीं था। "पाठ से बाहर कुछ नहीं है" कहने से उसका आशय था कि विश्व का कोई भी रूप या हिस्सा लिखित अवधारणाओं और विचारों के पाठ के रूप में किसी न किसी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष माध्यम द्वारा ही हमारे अनुभव-संसार का हिस्सा बनता है। अतः पाठ से बाहर होने का अर्थ अपने मन-मस्तिष्क से बाहर होना है।

(6) ज्ञानातीत संकेतित (Transcendental Signified) :

संकेतित कोई स्वतन्त्र सत्ता न होकर अनेक संकेतकों की अन्योन्य क्रिया है। ज्ञानातीत संकेतित वह है जो संकेतकों के इस खेल से बच जाता है और जिसे विशेष महत्त्व प्राप्त होता है। संकेतित के लिए ज्ञानातीत विशेषण का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि यह उस संकेतक क्रीड़ा से परे या स्वतन्त्र होता है जो हर बार एक नया संकेतित पैदा करती है।

(7) ऊहापोह (Aporia) :

अपोरिया या ऊहापोह शब्द असमंजस की उस स्थिति के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें पाठक के लिए पाठ का अर्थ समझना मुश्किल हो जाता है, उसे अर्थ ग्रहण करने में दुविधा होती हो या उसमें कोई अवरोध आ गया हो। 'ऊहापोह' पाठ के पारम्परिक या सम्भावित अर्थ तथा उसके वास्तविक या प्रस्तुत अर्थ के मध्य उत्पन्न अन्तराल या फ़ासले की अवस्था है। विखण्डन एक पाठ में उस 'ऊहापोह' (Aporia) अर्थात् आन्तरिक विरोधाभास की खोज करता है जो उस पाठ के सुसंगत अर्थ के दावे को कमज़ोर बना देता है।

4.4.11. पाठ-सारांश

देरिदा ने पाश्चात्य दर्शन परम्परा का गहन अध्ययन किया था। प्लेटो, रूसो, नीत्शे, हेडेगर, हुसेर्ल, सॉस्सुर और लेवि स्ट्रॉस की आलोचना में उसने तर्क दिया कि वे अपने विचारों और विभिन्न व्यवस्थाओं को स्थापित करने में इसलिए सफल हुए क्योंकि उन्होंने भाषा के विघटनकारी प्रभावों को दबाया है या उनकी उपेक्षा की है। पाश्चात्य तत्त्वमीमांसा का एक प्रभावशाली भ्रम यह है कि तर्क किसी भी तरह से भाषा पर पूरा ध्यान दिए बिना ही दुनिया को समझ-समझा सकता है और एक शुद्ध, स्वतः प्रमाणित सत्य तक पहुँच सकता है। देरिदा इन दार्शनिकों के लेखन में प्रयुक्त रूपकों और अन्य चित्रात्मक तरीक़ों की ओर हमारा ध्यान दिलाता है जिनके माध्यम से भाषा इन दार्शनिकों के चिन्तन के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करती है।

विखण्डन सामाजिक और भाषिक श्रेणियों की रणनीतिक उलट-पलट मात्र नहीं है। यह अध्ययन की एक ऐसी गतिविधि है जिसमें पाठ के पठन के ढंग में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। लेखक के दावों और पाठ के अर्थ के बीच दुविधा और विसंगति का होना बड़ी बात नहीं है। देरिदा अपने विचाराधीन चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों में कई अन्तर्विरोध उजागर करता है। वह दिखाता है कि किस प्रकार कुछ विशेष प्राथमिकता प्राप्त शब्द प्रभुत्वशाली रूपकों के बल पर उच्च स्थान प्राप्त कर लेते हैं। ये रूपक पाठ की तार्किकता को अस्त-व्यस्त कर देते हैं।

विखण्डन हमें यह बताता है कि यदि कोई पाठ स्वयं से बाहर का कोई सन्दर्भ देता है तो यह सन्दर्भ कोई दूसरा पाठ ही हो सकता है। जैसे एक संकेत दूसरे संकेत का सन्दर्भ देता है वैसे ही एक पाठ दूसरे पाठ का सन्दर्भ देता है और इस प्रकार अन्तरपाठीयता का एक अनन्त विस्तृत जाल बन जाता है। किसी भी पाठ की कितनी ही

व्याख्याएँ हो सकती हैं और कोई भी व्याख्या अन्तिम और पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती। देरिदा सत्य को नकारता नहीं है, बल्कि वह सत्य की प्रकृति के सम्बन्ध में कोई दावा नहीं करता। देरिदा विश्व के किसी प्रत्यक्ष और विशुद्ध ज्ञान की अनुपलब्धता पर ज़ोर देता है। वह विचार और अवबोधन को सांस्कृतिक रूप से निर्मित मानता है, प्राकृतिक नहीं। ज्ञानोदयी चिन्तन के नैतिक मूल्यों और सत्य के दावों की आलोचना करते हुए भी देरिदा उसका व्यापक रूप में समर्थन करता है।

विखण्डन पाश्चात्य चिन्तन के अन्तर्विरोधों और विसंगतियों को उजागर करता है और परम्परागत पदानुक्रम को उलटने का आग्रह करता है, लेकिन यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि विखण्डन अपनी प्रकृति से ही स्वयं को विखण्डित करता चलता है। विसंगतियों को उजागर करने वाली (यह) पद्धति स्वयं विसंगत साबित की जा सकती है। वस्तुत: यह सन्देह और संशयवाद पर आधारित सैद्धान्तिकी है जो व्यवस्था को प्रश्नांकित करती है।

4.4.12. उपयोगी सन्दर्भ

4.4.12.1. हिन्दी पुस्तकें

1. पचौरी, सुधीश. (2006). देरिदा : विखण्डन की सैद्धान्तिकी. नयी दिल्ली. वाणी प्रकाशन. ISBN : 978-81-8143-518-7

4.4.12.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Cullar, Jonathan .(1982) . On Deconstruction :Theory and Criticism after Structuralism. New York. Cornell University Press. ISBN: 0-8014-9201-7
2. Kates, Joshua.(2005). Jacques Derrida and the Development of Deconstruction. Evanston,Illinois, USA. Northwestern University Press. ISBN: 0-8101-2327-4
3. Lodge, David & Wood, Nigel (ed).(2007). Modern Criticism and Theory : A Reader . New Delhi. Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd. ISBN : 978-81-317-0721-0
4. Norris, Christopher. (2002). Deconstruction :Theory and Practice.
5. New York. Routledge. ISBN : 0-415-28010-9
6. Royle, Nicholas. (2003). Jacques Derrida . New York. Routledge. ISBN : 0-415-22931-6
7. Selden, Raman (ed).(1995). The Cambridge History of Literary Criticism (Volume 8) : From Formalism to Poststructuralism. Cambridge, U K . Cambridge University Press. ISBN: O-521-3OOI3-4 (V. 8)

4.4.12.3. इंटरनेट स्रोत

1. http://www.marxist.org.reference/subject/philosophy/works/fr/derrida/htm
2. http://www.iep.utmedu/deconst/&grqid=pDsjcmze&hl=en-IN

4.4.13. अभ्यास प्रश्न

1. विखण्डन का अर्थ और उद्देश्य क्या है ?
2. विखण्डन की परिभाषा की समस्या पर विचार कीजिए।
3. संरचना के सन्दर्भ में 'युग्मक विरोधी' की व्याख्या कीजिए।
4. देरिदा द्वारा प्रस्तुत शब्दकेन्द्रवाद की आलोचना पर प्रकाश डालिए।
5. "पाठ से बाहर कुछ नहीं है।" देरिदा के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6. 'उपस्थिति' और 'पदचिह्न या निशान' के सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिए।
7. "विखण्डन का मुख्य उद्देश्य 'लेखन' के महत्त्व को स्थापित करना है।" कैसे ? समझाइए।

❖❖❖